डॉ० जयदेव सिंह द्वारा सम्पादित

# कबीर वाणी पीयूष

(दिल्ली विश्वविद्यालय, की बी०ए० (ऑनर्स) हिन्दी प्रथम वर्ष के निर्धारित पाठ्याक्रमानुसार)

[redacted]

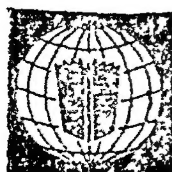

डॉ० कृष्णदेव शर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग

रामलाल आनन्द कालेज

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।


रीगल बुक डिपो, दिल्ली-6

# दो शब्द

☐ कबीर का व्यक्तित्व और कृतित्व वस्तुतः दोनों ही युग प्रर्वतन की क्षमता से सम्पन्न थे, इस तथ्य में तनिक भी सन्देह नही। अपने युग में ही उनका व्यक्तित्व और कृतित्व कुछ इस प्रकार उभरकर सहसा सबके सामने आ गया था कि उसने सभी को चकित एवं स्तम्भित कर दिया था। तत्कालीन धर्म, समाज एवं जीवन के विविध क्षेत्रों में जो अनेक प्रकार के मतवाद प्रचलित थे, उन सबका गहन मंथन करके कबीर ने जो वैचारिक नवनीत जीवन और समाज को अर्पित किया वह आज भी उतना ही स्निग्ध, सुचिक्कण एवं स्वाथ्यप्रद है। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर के मन्थन के सम्बन्ध में लिखा है—यह आलोड़न-विलोड़न अथवा 'महनारम्भ' इतना प्रभूत मात्रा में उन्होंने किया कि भारतीय चिन्तनधारा की तलहटी में जितना भी कचरा था, ऊपर आ गया। कल्पचेता निर्भीक होता है। कबीर ने भी निर्भीकतापूर्वक भारतीय समाज के नियमों की एक-एक दुर्बलता का नग्नरूप उद्घाटित करने में जरा भी कोर-कसर नही रखी। परिणामतः धर्म और चिन्तन के क्षेत्र में एक आंधी-सी आ गई। इस आधी के सृजन और प्रवहरण मे उनकी ऊर्जस्वित वाणी निश्चय ही समर्थ थी और आज भी यह सामर्थ्य अपने आप में समाए हुए है। प्रस्तुत पुस्तक में कबीर की इसी ऊर्जस्वित वाणी का आकलन-विवेचन बिना किसी पूर्वाग्रह के किया गया है।

☐ **'कबीर वाणी पीयूष'** में कबीर-काव्य के सभी महत्वपूर्ण पक्षों—जीवनवृत्त, कृतित्व, दार्शनिक चेतना, भक्तिभावना, रहस्य साधना, प्रेम और विरह-वर्णन, विभिन्न मतवादों का प्रभाव, योग साधना, सामाजिक पक्ष, लोक मंगल के साधक, कवित्व-प्रतिभा आदि पर विचार किया गया है। पाठ्यक्रम में निर्धारित पदों एवं साखियों की सप्रसंग व्याख्या भी दे दी गई है।

☐ **'कबीर वाणी पीयूष'** में जिन सुधी विद्वानों की रचनाओं से सहायता ली गई है, लेखक उन सबके प्रति अपना आभार व्यक्त करता है।

आशा ही नही, प्रत्युत विश्वास है कि कबीर साहित्य के अध्येताओं और छात्रों के लिए मेरी यह कृति लाभदायक सिद्ध होगी।

विनीत—

आसाढ़स्य प्रथम दिवसे, १९८५ —कृष्णदेव शर्मा

# १. कबीर : जीवन-वृत्त

भारतीय साहित्य के इतिहास का यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि यहां प्रमुख और प्रख्यात साहित्यकारों की प्रामाणिक जीवनियां तक उपलब्ध नही होती हैं। स्वयं साहित्यकार तो अपनी रचनाओं में अपने बारे में शिष्टता या संकोच के अतिरेक के कारण मौन रहे ही, अन्य किसी ने भी इस प्रकार का कोई सुनियोजित प्रयत्न नही किया। परिणामस्वरूप आज हमें प्रायः सभी प्राचीन साहित्यकारों की जीवनी के बारे में या तो किम्वदन्तियों, लोक-श्रुतियों, प्रचलित कथाओं पर आश्रित रहना पड़ता है—जिन्हें प्रचलित शब्दों में बाह्य साक्ष्य भी कहा जाता है, या फिर उनकी अपनी या समकालीन अन्य साहित्य-कारों की रचनाओं, इतिहास-ग्रन्थों में प्रदत्त संकेतों पर आश्रित रहना पड़ता है, जिन्हें पारिभाषिक एवं प्रचलित शब्दावली में अन्तःसाक्ष्य कहा जाता है। मध्यकाल के प्रमुख एव प्रख्यात सन्त और कवि कबीर के जीवन-वृत्त के बारे में भी यह बात तथ्यात्मक है। उसके लिए भी हमे प्रचलित कथाओं एवं विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों का ही आश्रय लेना पड़ता है।

जन्म और जन्मस्थान—कबीर का जन्म आज से लगभग छः सौ वर्ष पहले हुआ था। एक मान्यता के अनुसार उनका जन्म पानी पर तैर रही एक तूम्बी मे से हुआ था, जबकि दूसरी मान्यता के अनुसार वह लहरतारा नामक तालाब में खिले एक कमल में से स्वयंम्भुव रूप में प्रकट हुए थे। पर ये दोनों मान्यताएँ उनके श्रद्धालु भक्तों की अतिरेकपूर्ण कल्पनाएं ही प्रतीत होती है। बहुमत के अनुसार नीमा नामक जुलाहा अपनी पत्नी नीरू का गौना कराकर अपने घर की ओर लौट रहा था कि रास्ते में पड़ने वाले लहरतारा या किसी अन्य तालाब के किनारे उन्होंने एक नवजात शिशु को पड़े रोते हुए देखा। ममतावश उसे उठा लिया। पर लोक-लाज और जाति-धर्म के भय के कारण पहले तो वे लोग उसे घर ले जाने पर झिझके, किन्तु अन्त में उसे ले जाकर पालने का निश्चय किया। अपने घर, काशी में कबीर चौरा के समीप स्थित नीरूतल्ता पहुंचने पर वंश-परम्परा के अनुसार काजी को बुलवाकर उन्होंने बच्चे का नामकरण करवाया।

कुरान शरीफ के अनुसार बच्चे का नाम कबीर निकला, जो अरबी भाषा में महान परमेश्वर का परिचायक शब्द है। यह भी कहा जाता है कि स्वामी रामानन्द ने अपने पास अपनी विधवा कन्या सहित आए एक ब्राह्मण भक्त को उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर बहुत सारे आशीर्वाद दिए। इस बात से अज्ञान रहते हुए कि वह कन्या विधवा है, उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे डाला। पुत्र होने पर वही विधवा लोक-लाज के कारण उसे लहरतारा के तट पर रख गई, जहाँ से नीमा और नीरू नामक मुसलमान जुलाहा दम्पति उसे उठाकर ले गए और पाला-पोसा। इस प्रकार कबीर ब्राह्मणी-संस्कार लेकर जन्मे, पर मुस्लिम संस्कारों में पल-पुस कर बड़े हुए, तभी तो बड़े होने पर वे सर्वधर्म समन्वय के कारण और उद्बोधक बन सके।

इस प्रकार की स्थितियों में जन्म लेने वाले कबीर का वास्तविक जन्मस्थान कौन-सा था, इसे लेकर कई मतवाद प्रचलित है। सिक्ख-समुदाय के गुरुग्रन्थ साहब के एक पद में कहा गया है—

"पहिले दरसन मगहर पाइओ, पुनि कासी बसे आई।"

अर्थात् कबीर का जन्म तो मगहर नामक (गोरखपुर से १६ मील दूर, आजकल बस्ती जिले मे स्थित) स्थान पर हुआ था, पर बाद में वह काशी में आकर बस गए। डॉ० सुभद्र झा ने अनेक तर्कों और प्रमाणों से कबीर का जन्मस्थान मिथिला को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पर उनके तर्कों को अन्य सभी विद्वानों ने निराधार ही माना है। इसी प्रकार 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' (सन् १९०९ ई०) मे कबीर का जन्मस्थान आजमगढ़ जिले मे स्थित बेलहरा नामक गाव को बताया गया है। स्वर्गीय पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय भी स्यात् इस मत का समर्थन करते हुए लिखते है—"आज भी पटवारियों के कागदों मे बेलहरा उर्फ पोखर लिखा मिलता है। अतः यही बेलहर पोखर ही लहर तालाब या लहरतारा का मूल है।" पर यह मत इस कारण वजनदार प्रतीत नही होता कि जब काशी के पास 'लहरतारा' विद्यमान है, तब इतनी दूर भटकने की आवश्यकता ही क्या है? प्रायः सभी कबीरपंथी काशी में कबीर चौरा के दो मील उत्तर-पश्चिम मे स्थित लहरतारा को ही कबीर का जन्म-स्थान निर्विवाद रूप से स्वीकार करते है। अन्य लोग भी प्रायः यही मानते है। बीसवी शती के आरम्भ मे रचे गए 'कबीर मंशूर', 'कबीर कसौटी' एवं 'कबीर चरित्रबोध' जैसे ग्रन्थों के रचयिताओं ने भी यही मत व्यक्त किए है। इसी

प्रकार रामानन्दी समुदाय का एक ग्रन्थ 'प्रसंग पारिजात' उपलब्ध है, इसमें भी काशी के लहरतारा को ही कबीर का जन्म-स्थान बताया गया है।

ऊपरिवर्णित मतों के विपरीत कबीरपंथी 'निर्भय ज्ञान' और 'ज्ञान सागर' नामक ग्रन्थों में, चन्द्रवार नामक स्थान को कबीर का जन्मस्थान सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। कबीरपंथ के 'अनुराग सागर' नामक एक अन्य ग्रथ मे भी यही धारणा व्यक्त की गई है। इनकी मान्यता है कि—

"चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥"

क्योंकि गणना करने पर सम्वत् १४५५-५६ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को चन्द्र या सोमवार नही पड़ता, अतः इस पद्य का 'चन्द्रवार' शब्द चन्दवार नामक स्थान का संकेतक ही कहा जा सकता है। क्योंकि आगरा और बलिया ज़िला दोनों स्थानों पर चन्दवार नामक स्थान मिलते है, पर उन दोनों का सम्बन्ध कबीर से जोड़ पाना कठिन है। डॉ० माता प्रसाद ने टक्क प्रदेश (पूर्वी पजाब) के साथ कबीर का सम्बन्ध माना है, पर अन्य विद्वान इस मान्यता को नितान्त भ्रामक स्वीकारते है। अभी तक बहुमत कबीर का जन्मस्थान उस लहरतारा को ही स्वीकार करता है, जो काशी के पास स्थित है।

**बाल्यकाल, विवाह तथा परिवार**—कबीर बचपन से ही राम-नाम से अनुराग करने लगे थे, यह एक सर्वमान्य तथ्य है। उन्होंने स्कूली शिक्षा भी प्राप्त नही की थी, अतः वह अनपढ़ अवश्य थे, अशिक्षित यद्यपि नही। वे बचपन के सुकुमार क्षणों से ही सभी धर्मो-सम्प्रदायों के साधु-संतों के सम्पर्क में आ, उनके सत्संग से ज्ञान अर्जित करने लगे थे। उन्होंने बचपन में ही कपड़े बुनना भी सीख लिया था, किन्तु सत्संग और राम-नाम की मस्ती मे वे अक्सर कताई-बुनाई त्याग दिया करते थे। इस कारण उनकी माता विशेप रूप से चिंतित हो उठा करती थी। इन बातों का परिचय कबीर की निम्नलिखित प्रमाणित पंक्तियों से भी मिल जाता है—

तननां बुननां तज्यौ कबीर। रांम-नांम लिखि लियौ सरीर॥
मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। यह बारिक कैसे जीवै खुदाई॥
जब लगि तागा बाहों बैही। तब लगि बिसरैं रांम सनैही॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। पूरनहारा त्रिभुवन राई॥

इन बातो के अतिरिक्त भावना या श्रद्धा के अतिरेक में कबीर-भक्तों ने कई चमत्कारपूर्ण बातें भी उनके बचपन के साथ जोड़ दी हैं। जैसे—वे बिना खाए-पिए पड़े रहते थे, अतः नीमा-नीरू विशेष चिंतित हो उठते थे। उनका दुःख दूर करने के लिए कबीर ने बड़े विचित्र ढंग से दूध पीना आरम्भ कर दिया। एक अनव्याई बछिया के नीचे मिट्टी का कोरा बर्तन रख दिया जाता। दूध पीने की इच्छा से कबीर जैसे ही बछिया की ओर निहारते, वह बर्तन स्वतः ही भर जाता। वही दूध पीकर बालक कबीर रहते। इस प्रकार की अन्य कई चमत्कारपूर्ण बातें भी कबीर के शैशव के साथ सम्बद्ध की जाती हैं।

जहां तक कबीर के विवाह आदि का प्रश्न है, प्रायः विद्वानों का यह अनुमान है कि उन्होंने एक वनखण्डी की पोषिता पुत्री लोई के साथ विवाह किया था। उस वनखण्डी को गंगा-स्नान करते समय लोई या कम्बल में लिपटी बहती आ रही वह बच्ची मिली, दयावश उन्होंने उसे पाल-पोसकर बड़ा किया और नाम 'लोई' ही रख दिया था। मृत्यु का समय निकट जान उस वनखण्डी ने लोई को आश्वस्त करते हुए कहा कि कुछ ही समय बाद वहाँ आने वाले एक सन्त उसके सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर देंगे, उन्ही से उसे आश्रय मिलेगा। वनखण्डी के स्वर्गवास के बाद दो सन्त महात्मा उनकी कुटिया पर आए। लोई द्वारा नाम, जाति, सम्प्रदाय आदि के सम्बन्ध मे प्रश्न करने पर एक महात्मा ने सिर्फ एक शब्द का ही उत्तर दिया—'कबीर'। प्रभावित हो लोई उनकी पत्नी बनकर उनके साथ रहने लगी। कुछ लोगो की मान्यता है कि लोई उनकी पत्नी नही, बल्कि शिष्या बनकर साथ रहने लगी। पर लोककथाओं और किम्वदन्तियों में लोई कबीर की पत्नी ही अधिक प्रसिद्ध है। यह भी एक मान्यता है कि अपनी माता की इच्छा से कबीर ने धनियाँ नामक एक अन्य स्त्री से भी विवाह किया था। धनियाँ को अनेकशः 'रमजनिया' नाम से भी अभिहित किया करते थे। गुरु ग्रन्थ साहब मे भी आता है—

"मेरी बहुरिया को धनिया नाउ।
लै राखियो रामजनिआ नाउ ॥"

यह भी मान्यता है कि कबीरजी का 'कमाल' नामक एक पुत्र और 'कमाली' नामक एक पुत्री भी थी। गुरुग्रन्थ साहब मे एक श्लोक आता है—

"बूढ़ा बंस कबीर का उपजिओ पूतु कमालु।
हरि को सिमरनु छाड़ि कै, घरि लै आयो मालु ॥"

पर कुछ लोग कमाल को पुत्र नहीं, शिष्य मानते है। पुत्री कमाली के बारे में कहा जाता है कि वह मूलतः शेख तकी की बेटी थी। उसका देहान्त हो जाने पर कबीर ने अपनी अलौकिक शक्ति से उसे जीवित कर अपनी पुत्री बना लिया। कबीर का करघे के सामने बैठा एक प्राचीनतम चित्र उपलब्ध होता है। उसमें एक युवक-युवती को भी सामने बैठे चितारा गया है। यही उनके पुत्र-पुत्री या शिष्य-शिष्या कहे-माने जा सकते या जाने जाते है। इन बातों के अतिरिक्त कबीर के विवाह, घर-परिवार आदि के सम्बन्ध में कोई अन्य निश्चित वर्णन-ब्यौरा कही नही मिलता। इसके आधार पर यह तथ्य निश्चत रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि कबीर गृह त्यागी सन्त नहीं, बल्कि गृहस्थ संत थे, जो पानी में कमल के समान रहते हुए, सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन एवं निर्वाह करते हुए भी कमल के समान ही पानी से निर्लिप्त थे।

कबीर के जीवन से सम्बन्धित कुछ अन्य घटनाओं का उल्लेख भी यत्र-तत्र मिलता है। 'निर्भर ज्ञान' और स्वामी अनन्तदास-विरचित 'परचई' जैसे ग्रन्थों में कबीरजी को लेकर अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं की परिकल्पना की गई है। उनकी चर्चा यहां व्यर्थ ही प्रतीत होती है। हाँ, सिकन्दर लोदी द्वारा कबीर को यातनाएँ देने की कहानियाँ अवश्य ही तथ्यपूर्ण एवं ऐतिहासिक कही जा सकती है। कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं सर्वधर्म-सद्भाव या समन्वय पर विश्वास रखते थे, इस्लाम की मान्यताओं के प्रतिकूल वे राम के उपासक एवं नाम-कीर्तन किया करते थे, इस कारण उनकी माँ नीरू तो चिढ़ा करती ही थी, काशी के मुल्ला-मौलवी आदि भी उनसे चिढ़ने लगे थे। उन्ही के सिखावे में आकर सिकन्दर लोदी के आदेश से स्थानीय शासकों ने कबीर को पानी में डुबो कर मार डालने, आग में जलाकर मारने तथा मदमस्त हाथी के पाओं तले कुचलवा डालने जैसे प्रयत्न किए। पर कबीर हर बार साफ बच गए। कबीर ने अपनी वाणी में भी यत्र-तत्र उन घटनाओं का उल्लेख किया है। लगता है, बाद में यह विरोध और यातनाओं का दौर स्वतः ही शान्त हो गया होगा। कबीर की सत्यनिष्ठा और अदम्य आध्यात्मिक शक्ति ने सभी पर अपनी छाप बिठा दी और सभी जातियों-धर्मों के लोग उनके शिष्य बनने लगे।

**कबीर के गुरु**—कबीर के जन्मस्थान और घर-परिवार के समय गुरु का प्रश्न भी विवादास्पद है। परम्परा और जन-श्रुतियों के अनुसार स्वामी रामानन्दजी ही कबीरजी के गुरु स्वीकार किए जाते है। इस सम्बन्ध मे एक

कहानी भी प्रचलित है। वह यह कि मुसलमान-परिवार में पालित होने पर भी कबीर स्वभाव से वैष्णव थे और वैष्णव भक्तो जैसा ही आचरण-व्यवहार किया करते थे। इस पर जब ब्राह्मणो ने आपत्ति की कि गुरु-बिन मुक्ति सम्भव नही, तब कबीर तत्कालीन प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली महात्मा स्वामी रामानन्द के पास दीक्षा लेने पहुचे। उनके एक मुस्लिम को दीक्षा देने मे असमर्थता व्यक्त करने पर कबीर ने एक नया उपाय सोच डाला। कबीर एक सुबह प्रातःकालीन झुटपुटे में गंगाघाट पर उस राह मे लेट गए जहाँ से स्वामीजी प्रतिदिन स्नान करने जाया करते थे। अंधेरे में अचानक टकरा जाने पर स्वामी रामानन्द के मुख से निकला—'हे राम!' इस 'राम' शब्द को ही कबीर ने गुरु दीक्षा मान अपने-आपको स्वामीजी का शिष्य प्रचारित कर दिया। इस घटना का उल्लेख नाभादास कृत 'भक्तमाल' के अतिरिक्त अनन्तदास द्वारा विरचित 'कबीर साहब की परचई' तथा अन्य कई ग्रन्थो मे भी मिलता है। इसी प्रकार 'प्रसंग पारिजात' मे भी रामानन्द को ही कबीर का गुरु स्वीकारा गया है पर स्वामी रामानन्द के स्वर्गारोहण के समय कबीरजी की आयु मात्र बारह वर्ष की थी, अतः इतनी कम आयु मे दीक्षा लेना उचित प्रतीत नही होता।

इसके विपरीत विद्वानों का एक वर्ग शेख तकी को कबीर का गुरु मानता है। मौलाना गुलाम सरवर ने अपनी पुस्तक 'खजीनतुल असफिया' में लिखा है कि "शेख कबीर जुलाहा शेख तकी के उत्तराधिकारी तथा शिष्य थे। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होने परमेश्वर और उनकी सत्ता के विषय मे हिन्दी मे लिखा। धार्मिक सहनशीलता के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हे अपना नेता माना। ...उनकी मृत्यु सन् १५९४ ई० मे हुई और उनके पीर (गुरु) शेख तकी १५७५ ई० मे मरे थे।" पर इस कथन पर इस कारण विश्वास नही किया जाता कि इसमे कबीर की निधन-तिथि बहुत बाद 'सं० १६५१ वि० की बताई गई है। शेख तकी नाम के दो व्यक्ति हुए है—एक कड़ा मानिकपुर के निवासी थे, जिनकी चर्चा कबीर की रचना 'बीजक' मे भी आई है—

"मानिकपुर कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी।"

इसी प्रकार 'सुनो तकी तुम सेख' जैसी पंक्तियाँ भी उपलब्ध होती है। इस नाम के दूसरे व्यक्ति इलाहाबाद के निकटस्थ झूंसी के रहने वाले थे। इनमे से पहले शेख तकी कबीर के समकालीन थे और बहुत सम्भव है कि उनके साथ कबीर का धार्मिक सत्सग भी हुआ हो, पर गुरु होने का प्रमाण नही मिलता।

फिर 'बीजक' का संकलन भी कबीर के स्वर्गारोहण के सौ वर्ष बाद हुआ, यह अब प्रमाणित हो चुका है। अतः उसके आधार पर कोई मान्यता प्रतिष्ठापित करना ठीक नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार झूंसी वाले शेख तकी भी खींच-खांचकर कबीर के समकालीन ही प्रमाणित होते है, गुरु नहीं। गुरुग्रन्थ साहब में संकलित कबीर के पदों में से एक गोमती नदी-तट पर रहने वाले किसी पीताम्बर पीर की चर्चा और प्रशंसा की गई है—

"हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहि पीताम्बर पीर॥
कण्ठे माला जिह्वा रामु। सहस नामु लै लै करहु सलामु॥

इसके आधार पर कुछ लोग इन पीताम्बर पीर को भी कबीर का गुरु कहते है, पर अन्य विद्वान इस पद्य की प्रामाणिकता सन्देहास्पद ही स्वीकारते हैं। कबीर के पदों और प्राचीन प्रसंगों में 'मतिसुथर' नाम भी मिलता है। कबीर ने इनके लिए 'दयाल' शब्द का प्रयोग भी किया है, पर मात्र इतने से ही इन्हें भी कबीरजी का गुरु स्वीकार नही किया जा सकता। इस प्रकार अभी तक कबीर के गुरु का प्रसंग अनिर्णीत ही माना जाता है। बहुमत स्वामी रामानन्द के पक्ष में ही जाता है। हमारे अपने नम्र मत में कबीर इन सभी समकालीन महापुरुषों के सम्पर्क में अवश्य आये थे। इनके वचनों एवं मान्यताओं से प्रभावित भी अवश्य हुए थे। इसी कारण सभी का स्मरण उन्होंने गुरुवत् ही किया है। स्वामी रामानन्द से ही उन्हे वह 'राम' नाम मिला जो 'दाशरथि राम' न होकर सर्वव्यापक, सूक्ष्म, निर्गुण एवं निराकार है और जिसका सर्वाधिक गायन कबीर की वाणी में किया गया है।

कबीर-जाति—कबीर का पालन-पोषण नीमा और नीरू नामक जुलाहा-दम्पति ने किया था। अपने पदों में कबीर ने स्वयं भी अनेकशः अपने-आपको जुलाहा कहा हैं। जैसे—

"तू बांम्हन मैं कासी का जौलाहा,
चीन्हीं न मोर गियांनां।"

× × ×

"जैसे जल जलहि ढुरि मिलियां,
त्यों ढुरि मिला जुलाह।"

× × ×

"हरि के नाउ बिन किन गति पाई,
कहै जुलाहा कबीरा ।"

जुलाहा के अतिरिक्त कबीरजी ने कई पदों में अपने-आपको 'कोरी' जाति का व्यक्ति भी कहा है—

"हरि को नांम अभै पद दाता, कहै करीवा कोरी ।"

कबीर के अनेक पद उन्हे जाति और कर्म दोनों से जुलाहा प्रमाणित करते हैं। इसमे दो बातें विचारणीय हो जाती है—पहली तो यह कि कबीर का जन्म ही परम्परा से कातने-बुनने वाले जुलाहा या कोरी परिवार में हुआ था। दूसरी यह कि उनका पालन-पोषण जुलाहा या इस प्रकार की जाति मे हुआ था। तृतीय सिक्ख गुरु अमरदास, अनन्तदास, रज्जब जैसे व्यक्तियों तथा तुकाराम जैसे सन्तों ने भी कबीर को जुलाहा माना है। अनेक मुस्लिम लेखक भी उन्हें जुलाहा कहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि वे वस्तुतः जुलाहा किस प्रकार के थे ? क्योंकि हिन्दू-मुसलमान दोनों में जुलाहा का अस्तित्व एक इतिहास-सिद्ध तथ्य है। यह तथ्य भी विशेष ध्यातव्य है कि कबीर ने स्वयं को जुलाहा तो अनेकशः कहा है, पर हिन्दू या मुसलमान एक बार भी नही कहा। वे तो अपने बारे में स्पष्ट कहते है—

"जोगी गोरख गोरख करै।
हिन्दू रामं नांम उच्चरै।
मुसलमांन कहै एक खुदाइ।
कबीर का स्वांमीं घट-घट रह्या समाई।"

पर सन्त रैदास और सन्त पीपा जैसे व्यक्तियों ने कबीर को मुसलमान ही माना है। पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने कबीर की कुछ पंक्तियों और कबीरपंथी धर्मदास के अनुभवों के आधार पर कबीर को मुसलमान ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होने कई प्रकार के उदाहरण उनकी वाणी में दिए हैं। विशेष कर 'जिद' शब्द पर बल देकर उन्हें मुसलमान ही बताया है, जबकि अन्य विद्वान 'जिन्द' का अर्थ 'जिन्दगी' मानते है, परा प्राकृतिक जीव नही। अतः पाण्डेयजी का मत युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। किम्वदन्तियां भी कबीर को ब्राह्मण-कन्या की सन्तान ही बताती है। एक किम्वदन्ती के अनुसार कबीर ने अपनी कन्या कमाली का विवाह सर्वाजीत नामक विद्वान ब्राह्मण के

साथ किया था। इसी प्रकार कबीरजी के व्यवहार-संस्कार आदि यद्यपि मुस्लिम-प्रभावित भी हैं, पर उससे कहीं अधिक हिन्दू-संस्कारों और व्यवहारों का प्रभाव उन पर अत्यंत स्पष्ट परिलक्षित होता है। वे अपने 'राम भतारि' का स्वागत-सत्कार एकदम हिन्दू-रीति से ही करते प्रतीत होते हैं—

"दुलहिनि गावहि मंगलचार,
मेरे घर आए मोरे राम भतार।"

हिन्दू-विवाह परम्परा पर ही उनकी आस्था प्रतीत होती है—

"सरीर सरोबर वेदी करिहौं ब्रह्मा बेद उचारा।
रामदेव संगि भांवरि लेइहौं धनि-धनि भाग हमारा।"

फिर उनकी साधना-पद्धति का दाम्पत्य भाव भी मुस्लिम (सूफी) सन्तों के 'आशिक-माशूक-भाव' से एकदम उलट है। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद जैसे हिन्दू वादों का भी उन्होंने खण्डन नहीं किया। खण्डन केवल हिन्दू-वाह्याचारों—वह भी धर्म-साधना के क्षेत्र में ही किया है। मानव-शरीर रचना से सम्बन्धित उनके विचार उपनिषद्-कुराण दोनों में खोजे जा सकते हैं, जो कि सातवी शती से ही दो संस्कृतियों के सम्पर्क का परिणाम कहा जा सकता है। ये सारी बातें कबीर को हिन्दुत्व के समीप ही प्रमाणित करती है।

कबीर किस जाति के थे, इस बारे में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का विवेचन-विश्लेपण उल्लेख्य है। उन्होंने कबीर को योगियों के किसी ऐसे वर्ग से माना है, जिसने कुछ समय पहले इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। पर वे लोग उस समय तक हिन्दू-मुस्लिम दोनों के रीति-रिवाजों और परम्पराओं का पालन करते आ रहे थे। यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि कबीर के स्वर्गवास के बाद शव के स्थान पर मात्र पुष्प बचे थे। उन्हें बांटकर हिन्दुओं ने दाहकर्म किया, जबकि मुसलमानों ने उन्हें दफना दिया था। आचार्य द्विवेदी का कथन है कि योगियों की इस जाति में आज भी पहले शव को जलाकर फिर उसे दफनाने की परम्परा विद्यमान है और यह जाति न्यूनाधिक सारे भारत में फैल रही है। उनका मुख्य व्यवसाय अतीत में सूत कातना-बुनना ही था। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का मत भी इसी प्रकार का है। उन्होंने यह भी कहा है कि 'कोरी' जाति के लोग भी इस्लाम ग्रहण के बाद जुलाहा-कर्म करने लगे थे। कबीर नाथ-योगियों के विचारों से भी बहुत ही प्रभावित थे। अतः डॉ० बड़थ्वाल का निष्कर्ष है कि "मेरी समझ से

कबीर भी किसी प्राचीनतया कोरी, किन्तु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने से पहले जोगियों का अनुयायी था।" परवर्ती विद्वानों ने भी कबीर की जाति के सम्बन्ध मे लगभग ऐसी ही मान्यता अभिव्यंजित की थी। उस सम्बन्ध मे डॉ० परशुराम चतुर्वेदी का कथन भी पर्याप्त प्रभावी प्रतीत होता है कि "यह सम्भव है और अधिक सम्भव है कि जुगी कहलाने वाली जाति पहले नाथ मत की अनुयायिनी रही होगी। ऐसी अनेक जातियों ने किसी न किसी कारण मुसलमानी प्रभाव मे आकर कही-कही सामूहिक रूप मे धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। हम तो यहां तक कहेगे कि काशी तथा मगहर के साथ विशेष सम्बन्ध रखने वाले कबीर का कुल क्रमशः सारनाथ और कुशीनगर जैसे बौद्ध तीर्थो के पास निवास करने वाले बौद्धो या उनके द्वारा प्रभावित हिन्दुओं में से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही।···फिर भी जब तक हमे कबीर साहब के माता-पिता, उनके पालन-पोषण करने वाले अथवा इनके पूर्व पुरुषों का वास्तविक पता ज्ञात नहीं होता, न उनकी पूरी जांच हो जाती है, तब तक उन्हें हम केवल जुलाहा और सम्भवतः इस्लामी धर्म के अनुयायी जुलाहे कुल का बालक मान सकते है।" जहां तक कबीर द्वारा काव्य मे हिन्दू रीति-नीतियों का निर्वाह का प्रश्न है, वह रहीम-रसखान आदि कवियो मे भी मिलता है, अत. इस कारण जैसे उन्हे हिन्दू नही कहा जा सकता, कबीर को भी नही कह सकने।

अन्त में डॉ० विद्यावती का मत भी अवलोकनीय है। उनके अनुसार 'कोरी' शब्द 'कोली या कोलिय' का ही विकृत रूप है कि जो प्राचीन भारत में एक प्रसिद्ध राजपूत जाति रही है। इस जाति की महारानियां तक सूत काता-बुना करती थी। बाद मे यह जाति सारे भारत मे फैल गई और कातने-बुनने के धन्धे ने ही इनकी पहचान बनाये रखी। मध्यकाल मे मुस्लिम अत्याचारों से आतंकित ये लोग या तो अन्य हिन्दुओ मे घुल-मिल गए, या फिर मुसलमान बन गए। पहले बौद्धो से भी बहुत प्रभावित रहे थे। कबीर के पूर्वज इसी 'कोली' जाति के ही थे। उन्होने इस्लाम ग्रहण करके भी अपने परम्परागत संस्कार अभी तक त्यागे नही थे। कबीर की वाणी में बौद्धों, सूफियों और हिन्दुओं का सारपूर्ण विचारों का समन्वित प्रभाव भी इस बात की पुष्टि करता है। हमारे विचार मे यह मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वस्तुत. कबीर नव-धर्मान्तरित परिवार मे पल-पुस कर ही बड़े हुए थे। बौद्धमत और नाथ-सम्प्रदाय

का गहरा प्रभाव ही उन्हें बाह्याचारों के नाम पर हिन्दू-मुस्लिम दोनों का विरोध और खण्डन करने को अनुप्राणित करता रहा। यह भी सम्भव है कि उन्हें जन्म विधवा ब्राह्मणी ने ही दिया और पालन-पोषण नीमा-नीरू के मुस्लिम जुलाहा परिवार मे हुआ। दोनों के संस्कारों ने ही उन्हे दोनों धर्मो में समन्वय करने की जन्मजात एवं संस्कारगत प्रेरणा दी। फिर भी कबीर की जाति का प्रश्न अभी तक अनुसंधान का विषय ही बना हुआ है।

**कबीर : जीवन-काल**—ऊपरिवर्णित अन्य सभी बातों के समान कबीर के जीवन-काल का भी अभी तक अन्तिम निर्णय होना स्यात् बाकी ही है। कबीर मतानुयायियों के अनुसार—

**"चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाठ ठए।**
**जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥"**

इसमें सम्वत् १४५५ की जेठ-पूर्णिमा और सोमवार के दिन कबीरजी के प्रगट होने की बात कही गई है। पर गणित बताता है कि १४५५-५६ को जेठ-पूर्णिमा के दिन सोमवार (चन्द्रवार) नही पड़ता, अतः इस दिनांक एवं तिथि आदि को कबीर का जन्मदिन स्वीकार नही किया जा सकता। इसी प्रकार निम्नलिखित कथन भी दर्शनीय है—

**"संवत बारह सौ पांच में, ज्ञानी कियो विचार।**
**काशी में परगट भयो, शब्द कहो टकसार॥"**

इसमें कबीर का प्राकट्य सम्वत् १२०५ में बताया गया है, जो किसी भी दृष्टि से ठीक नही जान पड़ता। सम्वत् १४५५ ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। जहां तक कबीर की निधन तिथि का प्रश्न है, मौखिक रूप से प्रचलित दोहों मे उसके बारे में भी मतभेद ही पाया जाता है। एक मत के अनुसार—

**"संवत पन्द्रह सौ पचहत्तरा, किया मगहर को गौन।**
**माघ सुदी एकादसी, रलो पौन में पौन।"**

दूसरे प्रचलित दोहे मे सम्वत् १५०५, अगहन सुदी एकादशी को निधन-तिथि बताया गया है। एक अन्य दोहे में सम्वत् १५४९ का उल्लेख मिलता है और एक अन्य मे सम्वत् १५६९। इस प्रकार अलग-अलग मतवाद प्रचलित हैं। इनमे से अधिकांश कबीरपंथी सम्वत् १५७५ को अधिक महत्व एवं मान्यता देते है। उनमें एक जन-श्रुति प्रचलित है कि कबीर काशी में एक सौ बीस

वर्षों तक रहकर मगहर गए । वहां वर्तमान आमी नदी के तट पर स्थित किसी सन्त की छोटी-सी कुटिया में द्वार बन्द कर लेट गए । कुछ समय बाद अलौकिक ध्वनि के साथ परमधाम सिधार गए । उनका अन्तिम संस्कार करने के लिए नवाब बिजलीखां पठान और एक हिन्दू शिष्य वीरसिंह बघेल में संघर्ष-सा छिड़ गया । द्वार खोलने पर जब वहां चादर के नीचे मात्र कुछ पुष्प ही प्राप्त हुए, तो दोनों ने आधे-आधे बांट लिए और अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार उनका अन्तिम क्रिया-कर्म किया । पर गणित-गणना के अनुसार उस दिन बुधवार नही बल्कि मंगलवार पड़ता है । इतने पर भी अधिकतर विद्वान यही निधन-सम्वत् स्वीकारते है ।

इस प्रकार अनेक प्रचलित मतवादों का विवेचन-विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि उनका जन्म सम्वत् १४५५ के आस-पास ही हुआ होगा । पर उनकी निधन-तिथि के सम्बन्ध मे अभी तक निर्णयात्मक रूप से कुछ कह पाना सम्भव नही हो सका । कबीर-ग्रंथावली में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने सम्वत् १५६९ को कबीर की निधन या निर्वाण-तिथि स्वीकार किया है । पर अधिकांशतः १५७५ वि० ही प्रतियुक्त ही स्वीकारा जाता है ।

जो हो, अभी तक कबीर के जन्म-जीवन के सम्बन्ध में और अनुसंधान की पर्याप्त गुंजायश है । अनुसंधान चल भी रहा है । मतभेद काफी-कुछ दूर हो रहे है । इतना सिद्ध है कि कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों मे समन्वयवादी तत्व विद्यमान थे । हिन्दू-मुस्लिम दोनों के संस्कार लेकर वे उत्पन्न हुए, दोनों के कुसंस्कारों का विरोध उन्होंने चौड़े चौराहे पर खड़े होकर दिन के चौड़े प्रकाश में किया । अनेक प्रकार के विरोधी-विसंगतियों का उन्हें सामना करना पड़ा । पर वह अपनी मान्यता के विपरीत झुके नहीं । आज जिस भावनात्मक एकता की आवश्यकता का अनुभव राष्ट्रों एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के स्तर पर अनुभव किया जा रहा है, सर्वप्रथम कबीर ने ही केवल उसका अनुभव किया था, बल्कि इसे स्थापित करने का भरसक प्रयास भी किया था; वह भी सीधी-सरल वाणी पर तीखी भाव-भंगिमा में । उसका प्रभाव भी पड़ा । परवर्ती जीवन-समाज भी उससे अप्रभावित न रह सका । उनका राजनीति के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नही था, पर परवर्ती या आज के महान राजनीतिज्ञों तक ने उनकी मान्यताओं, दर्शन, जीवन-दर्शन का महत्त्व मुक्त भाव से स्वीकार

किया है। उसे अपनाने की प्रेरणा भी दी है। कबीर के शतियों तक फैले महान व्यक्तित्व एवं कृतित्व की यही सबसे बड़ी उपलब्धि एवं देन है।

अपने व्यक्तित्व की, जीवन-वृत्त की झलक वे अपनी कृतियों मे भी स्थान-स्थान पर देते है। विवादास्पद रहते हुए भी कबीर का जीवन-वृत्त निश्चय ही महान प्रेरणादायक है।

## प्रश्न के विविध रूप

**प्रश्न १**—अन्त.साक्ष्य के आधार पर कबीर का जीवन-वृत्त प्रस्तुत कीजिए।

**प्रश्न २**—"कबीरदास युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर पैदा हुए थे और युग-प्रवर्त्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी, इसलिए वे युग-प्रवर्तन कर सके थे।" उचित उद्धरणों से इस कथन की पुष्टि कीजिए।

**प्रश्न ३**—कबीर के व्यक्तित्व का निरूपण कीजिए।

**प्रश्न ४**—'कबीर ग्रंथावली' की प्रस्तावना के आधार पर कबीर का परिचय दीजिए।

**प्रश्न ५**—प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर कबीर का जन्म-स्थान निर्धारित कीजिए।

**प्रश्न ६**—कबीर के व्यक्तित्व-निर्माण में तत्कालीन सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक परिस्थितियों के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

---

# २. कबीर : कृतित्व

कबीर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व वस्तुतः दोनों ही युग-प्रवर्तन की क्षमता से सम्पन्न थे, इस तथ्य मे तनिक भी सन्देह नही। अपने युग मे ही उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व कुछ इस प्रकार उभर कर सहसा सबके सामने आ गया था कि उसने सभी को चकित एवं स्तम्भित कर दिया था। तत्कालीन धर्म, समाज एवं जीवन के विविध क्षेत्रों मे जो अनेक प्रकार के मतवाद प्रचलित थे, उन सबका गहन मंथन करके कवीर ने जो वैचारिक नवनीत जीवन एवं समाज को अर्पित किया, वह आज भी उतना ही स्निग्ध, सुचिक्कण एवं स्वास्थ्यप्रद है। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर के मंथन के सम्बन्ध में उचित ही लिखा है कि "यह आलोड़न-विलोड़न अथवा महनारम्भ" इतना प्रभूत मात्रा में उन्होंने किया कि भारतीय चिन्तनधारा की तलहटी में जितना भी कचरा था, ऊपर आ गया। कल्पचेता निर्भीक होता है। कबीर ने भी निर्भीकता-पूर्वक भारतीय समाज के नियामकों की एक-एक दुर्बलता का नग्न रूप उद्घाटित करने में जरा भी कोर-कसर नही रखी। परिणामतः धर्म और चिन्तन के क्षेत्र में एक आंधी-सी आ गई। इस आंधी के सृजन एवं प्रवहण में उनकी ऊर्जास्वित वाणी निश्चय ही समर्थ थी और आज भी यह सामर्थ्य वह अपने आप में समाए हुए है।

कुछ लोगों की यह मान्यता रही है कि कबीर अनपढ़ थे—अशिक्षित यद्यपि नहीं थे। पर अन्य विद्वान पं० परशुराम चतुर्वेदी एवं माताप्रसाद गुप्त प्रभृति विद्वान कबीर को अनपढ़ नही मानते। इन दोनो विद्वानो ने क्रमशः अपनी-अपनी रचना—'कबीर साहित्य की परख' के पृष्ठ १७५ पर और 'कबीर-ग्रंथावली', पृष्ठ ४ पर यह स्पष्ट मान्यता व्यंजित की है कि कबीर न केवल पढे-लिखे, बल्कि सुशिक्षित एवं गहन अध्ययनशील चित्तवृत्ति वाले सन्त-साधक एवं सर्जक थे। इन्होने अपनी पूर्ववर्ती और समकालीन सभी प्रकार के धार्मिक, अध्यात्मवादी और दार्शनिक कृतित्वो का गहन अध्ययन किया था। उसी सबसे सार-तत्व ग्रहण कर, असार एवं व्यर्थ की छीछलेदर का उन्होने

भावमयी एवं सुधुमती भूमिका पर अपनी वाणी का उच्चारण किया जो वस्तुतः गंभीर तत्वों से अन्तः-वाह्य दोनों स्तरों पर परिपूर्ण एवं अपने में जीवन के सभी क्षेत्रों का सत्य समाए हुए है। हम डॉ. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री के इस मत से भी पूर्ण सहमत हैं कि जो व्यक्ति यह जानता था कि 'प्रेम' (परेम नहीं) शब्द में ढाई अक्षर ही होते हैं, वह निश्चय ही कभी अनपढ़ नहीं हो सकता—

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई आखर प्रेम के पढ़ै सो पण्डित होय॥"

यह ठीक है कि छन्द शास्त्र एवं अन्य प्रकार की परंपरागत शास्त्रीय कसौटियों से उनकी कविता स्खलित प्रतीत होती है पर इसका कारण उनका अनपढ़ होना नहीं, बल्कि स्वभाव की अक्खड़ता, मस्तमौलापन एवं परंपराओं को सभी स्तरों पर तोड़ने की निहित इच्छा भी तो हो सकती है। एक तथ्य यह भी है और हो सकता है कि कबीर कविता रचने के लिए कविता में बात नहीं कहते थे, बल्कि उस युग की बात कहने या विचार-प्रतिपादन करने की परपरा का निर्वाह मात्र करते थे। अतः भावावेश में जो कह जाते, उसे लिपिबद्ध करने की चिन्ता-चेष्टा उनकी नहीं रहती थी। उनके भक्त और शिष्य ही स्यात् उनके मुख से निकली वाणी बाद में संकलित कर लेते थे। ऐसा करते समय यदि कबीर की वाणी (कविता) छन्द आदि की दृष्टि से स्खलित हो जाती हो तो कोई अचरज की बात नहीं। उससे कबीर का अनपढ़ होना प्रमाणित नहीं हो जाता। इसी कारण कबीर की कोई पूर्णतया प्रामाणिक रचना भी आज उपलब्ध नहीं है। एक मान्यता है कि सिक्ख-सम्प्रदाय के 'गुरुग्रन्थ साहिब' में संकलित कबीर की वाणी ही प्रामाणिक कही जा सकती है। हमारे विचार में तथ्यगत और वैचारिक स्तर पर तो 'ग्रन्थ साहिब' मे संकलित कबीर-वाणी निश्चय ही प्रामाणिक है, पर उसका वाह्य स्वरूप अर्थात् भाषा-शैलीगत स्वरूप पंजाबी भाषा के तेवर से सम्पन्न हो गया है, यह बात भी पूर्णतया तथ्यपूर्ण है। ऐसा सिक्ख-इतिहास मे आता है कि प्रथम गुरु नानकदेव भाई बाला और मरदाना के साथ भ्रमण-प्रचार करते हुए जब काशी पहुंचे थे, तब उनकी कबीर साहिब से भेंट एवं कई दिनों तक ज्ञान-चर्चा हुई थी। उन्होंने अपने उपरोक्त दोनों शिष्यों के सहयोग से कबीर वाणी अपनी डायरी में नोट की थी, जिसे 'ग्रंथ साहिब' के सम्पादकों—गुरु अंगददेव, गुरु अर्जुनदेव और गुरु गोविन्द सिंह साहब ने उसमे सम्मिलित कर लिया था। क्योंकि ये अभी भी [illegible]

सकता है न कि मूर्ति-पूजक एवं अजान-मस्जिद आदि के नाम पर गला फाड़ने एवं सिर फोडने वाला। मूर्ति-पूजा एवं अन्य प्रकार के आडम्बरों का विरोध करते हुए कबीर ने कहा—

"पाहन केरा पूतरा, करि पूजै संसार।
इहि भरोसे जो रहे, बूढ़ काली धार॥"

या फिर मस्जिद एवं अजान आदि को खुदा का अपमान एवं व्यर्थ अनुभव करते हुए कहा—

"कांकर-पाथर जोरि करि, मस्जिद लई चिनाय।
ता चढ़ि मुल्ला वांग दे, वहरा हुआ खुदाय॥"

इसी प्रकार उनकी प्रत्येक साखी जीवन की गहन खट्टी-मीठी अनुभूतियों को रूपायित करने वाली है। यह रूपायन प्रत्यक्ष अनुभव के साथ-साथ कबीर के दृढ आत्मविश्वास का भी परिचायक है। सत्संगति का महत्व प्रतिपादित करने वाली उनकी एक साखी देखिए, उसे हम सामान्य तथा सभी प्रकार की सगति का प्रत्यक्ष निरूपणी करने वाली साक्षी भी कह सकते है—

"कबीर चंदन कै बिड़ै, बौंधे ढाक-पलास।
आपु सरीखे करि लिए, जो होते उनके पास॥"

प्रत्येक साखी कवि के प्रत्यक्ष अनुभव को व्यजित करने वाली है। अनुभव भी ऐसा कि आंख-कान या मन-मस्तिष्क खुले एवं सजग रखकर जिन्हे कोई भी व्यक्ति अपने जीवन मे असन्दिग्ध रूप से कर सकता है। परम तत्व के प्रति उनका साक्षात् अनुभव भी इन साखियो मे देखा जा सकता है—

"ज्यों नैनन मांहि पूतरी, त्यों खालक घट मांहि।
मूरिख लोग न जानहिं, वाहरि ढूंढन जांहि॥"

कही-कही इन साखियो मे गहन-तत्व-चिन्तन की बाते भी निश्चय ही आ गई है, विशेषता यह है कि वे सब अनुभूति का सत्य ही प्रतीत होती है, कोरी कल्पना या मात्र तर्क-वितर्क नही—

"सुरति समांनी निरति मैं, अजावा मांहै जाप।
लेखा समांना अलेख मैं, यौ आपा मांहें आप॥"

इस नश्वर संसार की क्षुद्रता का अनुभव करते हुए, मृत्यु को अवश्यम्भावी भय से छुटकारा पाने की प्रेरणाएं देते हुए कदम-कदम पर कबीर सबको सावधान करने के लिए कहते है—

"काल सिरहाने है खड़ा, जागित पियारे मित ।
राम सनेही बाहिरा, तू क्यों सोवै निश्चिन्त ।"

कबीर अनुभव करते थे कि हिन्दू-मुसलमान आदि सभी धर्मों, जातियों के लोग व्यर्थ के झमेलों मे पड़कर, वाह्याचारों का सतत् निर्वाह करते हुए भी अनवरत काल-कवलित हो रहे हैं, आवागमन का दुःख झेल रहे हैं, तो फिर इन सब बातों का, दिखावो और तथाकथित विडम्बनाओं का शिकार होने का क्या प्रयोजन ? तभी तो उन्होंने कहा—

"हिन्दू मुआ राम कहि, मुसलमान खुदाई ।
कहै कबीर सो जीविता, जो दुहु के निकट न जाई ॥"

कबीर ने संसार की भेड़चाल या गतानुगति का भी पूर्ण अनुभव किया । और देखा कि लोग मर रहे है, फिर भी सत्य को समझना नही चाहते । तब उन्होंने बड़े ही दुःख भरे स्वर में कहा—

"ऐसी गति संसार की, ज्यों गाडर का ठाट ।
एक गिरा जेहि खाड मांहि, सबै जाहि तेइ बाट ॥"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कबीर काव्य की प्रत्येक साखी जीवन-समाज के आस-पास के, प्रत्यक्ष दैनिक व्यवहारों के लिए किए गए अनुभव को ही रूपाकार प्रदान करने वाली है। धर्म, समाज, घर-परिवार, मन्दिर-मस्जिद आदि जहां भी उन्हे कुछ विपरीत पाखण्ड एवं व्यर्थ प्रतीत हुआ, उसका उन्होंने खुलकर विरोध किया । उसके स्थान पर सत्य को प्रतिष्ठापित किया जो कि मानव-मात्र के लिए हितकर एवं उपयोगी हो सकता था । साखियो मे हम कबीर के सूक्तिकार एवं समर्थ अन्योक्तिकार के स्वरूप के भी दर्शन कर सकते है । उनकी एक प्रसिद्ध अन्योक्ति देखिए—

"माली आवत देखि करि, कलियां करें पुकार ।
फूली-फूली चुन्ह लई, काल्हि हमारि बार ॥"

मूलतः कबीर की रचनावली मे 'साखी' शब्द का यही अर्थ एवं महत्व है कि जो उन्होंने देखा, सुना, अनुभव किया, वही सब अपनत्व के रग में रंग कर हमें लौटा दिया । कुशल एवं सफल साहित्यकार का दायित्व भी स्यात् इतना ही स्वीकारा जाता है । व्यावहारिक एवं स्वाभाविक अनुभवों पर आधारित कबीर की साखियों का ही निश्चय ही अपना अलग ही काव्यत्वमय सौष्ठव, प्रभाव एवं महत्व है ।

कबीर-वाणी या रचनाओं का दूसरा भाग 'शब्द' के नाम से अभिहित किया जाता है। -'शब्द' को 'ब्रह्म' का पर्याय भी स्वीकारा गया है जिसे 'नादब्रह्म' कहकर अभिहित किया जाता है, दार्शनिक शब्दावली मे वही 'शब्द' है—'शब्दम् ब्रह्मः' पद प्रचलित ही है। अतः कहा जा सकता है और कबीर-वाणी के 'शब्द' भाग के अध्ययन से भी यही पता चलता है, कि इन पदों के अन्तर्गत कबीर ने आत्मानुभूतियों को चित्रित किया है, आत्मा-परमात्मा के स्वरूप-सम्बन्धों के बारे मे अपने विचार अभिव्यंजित किए है। साखियों मे जहां जागतिक वाह्य साख्यो का चित्रण है और समाज-सुधारक कबीर का स्वरूप लख पड़ता है, यहां अन्तः अनुभूतियां ही मुख्य हो उठी है अतः सत्य या ब्रह्म-तत्व के साधक कबीर का स्वरूप हमारे सामने अपनी सम्पूर्ण आन्तरिक ऊर्जस्विता के साथ रूपायित होता हुआ दीख पड़ता है। कहावत है और सत्यानुभव पर आधारित यथार्थ भी है कि सुख-दुःखात्मक भावावेश के क्षणों में व्यक्ति का स्वर स्वतः ही ताल-लयाश्रित हो जाया करता है। तरलायित आवेशमयी हार्दिक भावनाओं का बहाव 'गीति' के रूप में हुआ करता है। कबीर की 'शब्द' रचनाओं की भी वस्तुतः यही स्थिति है। वहां साधक आत्मा की भावावेश रूपी तरलायित अन्तः अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। आनन्द का उद्रेक है। इसी कारण गेयता कबीर के शब्द-साहित्य के पदों की एक प्रमुख एवं उल्लेख्य विशेषता है।

कबीर निर्गुण-निराकार और निर्विकार ब्रह्म के आमक है। उसके तत्व-रूप के चिन्तक एवं साधक भी है। इन चिन्तना एवं साधना की अनन्यता के क्षणों मे जब उनकी साधक आत्मा पूर्णतः लबरेज हो जाती है, तब एक तूफान-सा, एक आंधी-सी आकर उन्हे आत्म-साक्षात्कार कराने लगती है। उसी सब की अभिव्यक्ति उनकी 'शब्द' शीर्षक रचनाओं मे हो पाई है। इनमे कबीर के आत्म-ज्ञान का सार संचित हुआ है, यह भी स्पष्टतः कहा जा सकता है। क्योकि उससे भावाविल अन्तः आंधी के परिणामस्वरूप ही कुछ का कुछ होने लगता है—

"सन्तो भाई आई ग्यान की आंधी ।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, आया रहे न बांधी ॥
दुचित की दूह थूनि गिरानीं, मोह-बलेड़ा टूटा ।
त्रिसना छानि परी घर ऊपर दुरमति भांडा फूटा ॥

आंधी पांछे जो जल बरसा, तिहिं तेरा जन भीगा।
कहै कबीर मनि भया परगासा उदै भान जब चीन्हा ॥

तो 'शब्द' रचना के पदों मे कवि और साधक ने अन्तः साधना के क्षणों में प्रकाश की साधना की है। मन को साधा है। इन्द्रियों को साधा और फिर एकाग्र होकर अन्तः स्तर पर शब्द-रूप ब्रह्म को आराध्य एवं उसका आभास पाया है। वह आभास सन्तों-साधुओं को भी तो कराने का प्रयास किया है। ध्यान रहे, इन शब्दों में क़बीर ने या तो अपने-आप अपनी अन्तरात्मा को सम्बोधित किया है, या फिर 'साधो-सन्तों' कह कर तत्व-साधकों एवं चिन्तकों को सम्बोधित करते हैं। इस सम्बोधन मे वे आत्मानुभूति के साथ-साथ उससे कटे हुए लोगों की बात भी 'लोयी-लोगों-लोका' आदि प्रयासों के माध्यम से कहते-करते हैं, ताकि वे भी आत्मानुभूतियों के अन्तः सत्यों का दर्शन एवं अनुभव कर सकें। कभी-कभी वे इन सभी बातों में उन्मत्त हो, मात्र अपने राम को ही सम्बोधित करने लगते है—

झगरा एक निबेरहु राम।
जे तुम अपने जन सौं काम ॥
ब्रह्मा बड़ा कि जिन से उपाया। वेद बड़ा कि जहां ते आया ॥
यहु मन बड़ो कि जेहिमन मानै। राम बड़ा कि रामहिं जानै ॥
कहै कबीर हों भया उदास। तीरथ बड़ा कि हरि का दास ॥

ब्रह्म-साधना के क्षणों में साधक को आन्तरिक स्तर पर भी अनेक प्रकार की स्थितियों, अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। उन सबको अपनी ऊर्जा से सफलतापूर्वक पार कर जाने के बाद ही साधक की अन्य निश्चयात्मक स्थिति या स्थितप्रज्ञता को प्राप्त कर पाती है। कबीर ने भी अपने शब्दों (पदों) मे अपनी इस प्रकार की सभी अन्तः स्थितियों का सुखद वर्णन किया है। उदाहरण-स्वरूप एक पद देख लेना उचित रहेगा—

"अब मोहिं नाचि बो न आवै।
मेरा-मन मन्दिरया न बजावै ॥
कू ऊभर था सो सुभर भरिया त्रिसनां गागरि फूटी।
काम-चोलनां भया पुराना गया भरम सब घूटी ॥
जे बहुरूप किए ते कीए अब बहुरूप न होई।
थाकी सौंज संग के बिछुरे राम-नाम मसि धोई ॥

थे थे अचल सचल ह्वै थाके चूके वाद-विवादा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया भया राम परसाया।"

इस प्रकार कबीर-रचनावली का 'शब्द' भाग वस्तुतः विविधा आत्मानुभूतियों का काव्यमय तो है ही, राग-रागनियों मे आबद्ध भी है। बड़े-बड़े संगीतकार जब कबीर के 'शब्द' भाव-विभोर होकर गा रहे होते हैं, तब यह अनुभूति भी सहज ही होने लगती है कि कबीर को वस्तुतः संगीत-शास्त्र का भी उत्तम ज्ञान था। तभी तो वे आत्मानुभूतियों को अत्यन्त सुसाधित पदों—शब्दों मे बाध पाए। अनवरत साधना के कारण कबीर की अतश्चेतना में जो आत्मविश्वास का भाव, अपने उद्धार का भाव दृढ़ा गया था, उसके दर्शन भी यत्र-तत्र कबीर की इन रचनाओं मे सहजभाव से हो जाते हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

'हम न मरै मरि है संसारा।
हम कौं मिला जिआवन हारा॥"
साकत मरहिं संत जन जीवहिं। मरि-मरि राम रसायन पीवहिं॥
हरि मरि हैं तो हमहुं मरि हैं। हरि न मरे हम काहे कौ मरिहैं॥
कहै कबीर मन मनहि मिलावा। अमर भया सुख-सागर पावा॥

कबीर की आत्मानुभूतियों के अन्तर्गत कबीर के साधनात्मक एवं भावनात्मक दोनों स्वरूपो के दर्शन हो जाते है। उनकी गहन कवित्व-प्रतिभा का परिचय भी मिल जाता है और संगीत-साधक का स्वरूप भी स्पष्ट उजागर हो जाता है। कवि विद्यापति के पदो से गीति-काव्य की जिस परम्परा का आरम्भ हुआ था, उसकी अगली कड़ी वस्तुतः कबीर के इस 'शब्द' रूप काव्य को ही कहा जा सकता है। यहां भावना एवं आत्म-चिंतन स्वर-संगीत के साँचे मे ढलकर एकमेक हो गए है—कबीर के 'शब्द'-साहित्य की यह सर्वोत्तम विशेषता और चरम उपलब्धि भी रेखांकित की जा सकती है।

कबीर-ग्रन्थावली या कबीर की रचनाओं का तीसरा अंग 'रमैनी' नाम से अभिहित किया जाता है। इनका सम्बन्ध वस्तुतः कबीर की साधना-पद्धति एवं साधना के सैद्धान्तिक पक्ष के मनो-मूल्यों के साथ माना जाता है। इस भाग का अध्ययन यह बात स्पष्ट कर देता है। सैद्धान्तिक विवेचन होने के कारण ही कबीर की रचनाओं मे 'रमैनी' को पूर्णतया शुष्क एवं नीरस स्वीकार किया जाता है। लगता है, इनकी रचना करते समय कबीर की कवित्व-

प्रतिभा एक तरफ धरी रह गई और सिद्धान्त-विवेचक की प्रतिभा उस पर पूर्णतया हावी हो गई है। कवीर का ब्रह्म मूल रूप मे क्या और कैसा है, सिद्धान्त-प्रतिपादन के स्तर पर 'रमैनी' के अन्तर्गत आने वाली निम्न पंक्तियाँ देखें—

"नां जसरथ धरि औतरि आवा। नां लंका का राव सतावा॥
देवै कोखिन औतरि आवा। नां जसवै ले गोद खेलावा॥
ना वो ग्वालन के सगि फिरिया। गौबरधन लै न कर धरिया॥
बावन होइ नहिं बाले छलिया। धरनी वेद लै न उघरिया॥
गंडक सालिगराम न कौला। मच्छ-कच्छ होइ जलहिं न डौला॥
बद्री वौशि ध्यान नंहि लावा। परसुराम ह्वै खत्री न सतावा॥
चारावती सठीर न छांड़ा। जगन्नाथ लै पिंड न गाड़ा॥
कहै कबीर विचारि करि, ऐ उनले व्यौहार।
याही तैं जो अगम है, सौ बरवि रहा संसार॥"

है न कवित्वहीन, शुष्क-नीरस वर्णन ? महज सिद्धान्त का प्रतिपालन ! स्यात् कवीर की इसी प्रकार (रमैनी) की उक्तियाँ देखकर ही कुछ लोग कहने लगते है कि वे कवि न होकर कोरे चिन्तक, सुधारक और सिद्धान्त प्रतिपादक ही थे। इस प्रकार की उक्तियों को देखकर इससे अधिक और कुछ उन्हें कहा भी कैसे जा सकता है ? देखें—

"अविगत अपरम्पार ब्रह्म, ग्यान-रूप सब ठाम ?
बहु विचार करि देख्या, कोई न सारिख राम॥"

निश्चय ही रमैनी के इस प्रकार के पदों का हृदयग्राही कविता के साथ कोई सम्बन्ध नही। इनमे कवीर ने युगीन परम्परा का निर्वाह करते हुए अपनी तुकबन्दियो मे बार-बार और विविध सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। प्रत्यक्ष जगतकी चित्रमय सत्ता को नहीं, बल्कि इस चित्र के सर्जक को सत्य बताते हुए कवीर एक और सिद्धान्त की वात करते है—

"जिन यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन भलै, चित्रवंतहि लेहि विचार॥"

अद्वैत-दर्शन या अन्य दर्शनों की सैद्धान्तिक वातो का प्रतिपादन तो 'रमैनी' में मिलता ही है, कही-कही समाज-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले शुष्क-नीरस चित्र भी मिल जाते है—

# ३. कबीर : दार्शनिक चेतना

दर्शन का सम्बन्ध किसी साधक या कलाकार की उस दृष्टि मे स्वीकार किया जाता है जो प्रायः आध्यात्मिक हुआ करती है। उसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्म, जीव, जगत्, माया आदि परोक्ष चेतनाओ के साथ हुआ करता है। उन्ही चेतनाओं का व्यक्तिकरण उस साधक या कलाकार के सृजन में रूपायित होकर जगत् जीवन को प्रभावित किया करता है। यह बात एकदम स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि दर्शन का सम्बन्ध प्रायः सूक्ष्म के साथ रहा करता है, जबकि जीवन-दर्शन का सम्बन्ध प्रत्यक्ष एवं स्थूल जगत् के प्रति दृष्टिकोण के साथ रहा करता है। इन तथ्यो के आलोक मे ही हमने यहाँ कबीर की दार्शनिक चेतनाओ का विवेचन एवं विश्लेषण करना है।

कबीर और उनके दार्शनिक धरातल पर विभाजित सन्त-सम्प्रदाय को विद्वानों ने 'सारग्राही-सम्प्रदाय' कह कर भी अभिहित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों मे इसका कारण निम्नलिखित माना जा सकता है—"वैष्णवों से उन्होने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उन (कबीर) के तथा निर्गुणवाद वाले और दूसरे सन्तों के वचनो मे कही भारतीय अद्वैत-वाद की झलक मिलती है, कही योगियो के नाड़ी-चक्र की, कही सूफियों के प्रेम-तत्व की, कही पैगम्बर के कट्टर खुदावाद की और कही अहिंसावाद की। अतः तत्व की दृष्टि से न तो हम उन्हे पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनो का मिला-जुला भाव इन की वाणी में मिलता है।" इन तथ्यों के आलोक मे एक शब्द मे यदि हम कबीर की दार्शनिक चेतना को परिभाषित करना चाहे, तो उसे 'समन्वयवादी' कह कर अभिहित किया जा सकता है। इस समन्वय का भी एक प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट कारण है। वह यह कि कबीर समेत समस्त सन्त साधक प्रायः निम्न जातियो-वर्गो से आए थे। वे लोग अनपढ अवश्य थे, अशिक्षित यद्यपि नही। प्रायः विद्वान कबीर समेत सभी सन्तों को बहुश्रुत स्वीकार करते है। इन्होने विभिन्न सम्प्रदायों के सज्जनो, सन्तों, साधुओं के सम्पर्क मे आकर, उनसे सत्संग कर, जो कुछ भी सुना और गुना,

उसी के सार-तत्व को ग्रहण कर अपने मतों एवं दार्शनिक चेतनाओं का निर्धारण किया। यही कारण है कि इनकी चेतनाओं में पुराणपंथियों जैसी कट्टरता कहीं दिखाई नहीं देती। व्यावहारिक सहजता, स्वाभाविक-सहज मानवीयता ही प्रबल एवं प्रमुख दिखाई देती है। इस सहजता के कारण ही कुछ लोग यहां तक कह देते हैं कि कबीर का अपना कोई विशिष्ट दर्शन एवं सिद्धान्त है ही नहीं। उन्होंने जो कुछ सुना—बस, उसी सब को अपनी आड़ी-टेढ़ी भाषा में व्यंजित कर दिया। इस प्रकार की धारणा रखने वालों का स्पष्ट कथन है कि—

"कबीरदास कभी तो अद्वैतवाद की ओर झुकते दिखाई देते हैं और कभी एकेश्वरवाद की ओर, कभी वे पौराणिक सगुणवाद के भाव से भगवान को पुकारते हैं और कभी निर्गुण भाव से—असल में उनका कोई स्थिर तात्विक सिद्धान्त नहीं था।" पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। उनकी वाणी का गम्भीर अध्ययन यह तथ्य एकदम उजागर कर देता है कि तब तक विकसित समस्त दार्शनिक प्रविधाओं से वह भली प्रकार परिचित थे। तत्व या दार्शनिक चिन्तन के लिए जिस प्रकार की सघन स्वानुभूतियों की आवश्यकता हुआ करती है, उनका भी कबीर के पास अभाव नहीं था। कबीर स्वयं भी इस ओर सतर्क थे कि लोग उनकी वाणी को तत्व या दर्शन-चिन्तन से रहित सामान्य वाणी ही न समझ लें। तभी तो उन्होंने चेतावनी के स्वर में स्पष्ट कहा—

"तुम्ह जिनि जांनौ गीत है यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया आतम-साधन सार रे।"

अतः दार्शनिक-चिन्तन के धरातल पर उनकी उपेक्षा कर पाना कतई संभव नहीं। कबीरजी संत थे। सन्त-दर्शन में प्रायः ब्रह्म, जीव, जगत्—इन तीनों और इनके स्वरूप आदि के साथ-साथ पारम्परिक सम्बन्धों पर ही मुख्य रूप से विचार किया जाता है। इनके साथ-साथ दार्शनिक चेतना के अन्तर्गत 'माया' नाम से एक चौथा तत्व भी स्वीकार किया जाता है। कबीर समेत सभी सन्त साधकों ने 'माया' पर भी खुले शब्दों मे गम्भीरता से विचार किया है। इस प्रकार कबीर की दार्शनिक-चेतना के अन्तर्गत निम्नलिखित चार तत्वों पर क्रम से विचार करना अपेक्षित है—

१. ब्रह्म-तत्व-दर्शन। २. जीव-तत्व—दर्शन। ३. जगत्-तत्व-दर्शन। ४. माया-तत्व-दर्शन।

इन चारों पर क्रमशः अलग-अलग विचार करने पर निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते है—

१. ब्रह्म-तत्व-दर्शन—कबीर मूलतः निर्गुणवादी थे। अतः उनका ब्रह्म निराकार, निर्गुण, निर्विकल्प, अनादि, अजन्मा, नित्य एवं सत्य है। वे राम नाम का जाप ब्रह्म के रूप में ही करते हैं, पर उनका राम 'दाशरथि राम' न होकर घट-घट मे वास करने वाला अत्यन्त सूक्ष्म तत्व है। वाह्य स्थूल के साथ उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। उसने दशरथ या देवकी के यहां राम-कृष्ण के रूप मे कभी अवतार ग्रहण नहीं किया। तभी तो अपने एक पद्य में वे स्पष्ट रूप से घोषित करते हुए कहते हैं—

"नां जसरथ घरि औतरि आवा। नां लंका कर रात्र सतावा।
दैवै कोखि नां औतरि आवा। नां जसवै लें गोद खलावा॥"

इसी प्रकार और अवतारो की भी गणना करते हुए अन्त मे अपने ब्रह्म को इन सब से परे बताते हुए कबीरजी कहते है—

"कहै कबीर विचारि करि, ए उनलै व्यौहार।
याही तैं जो अगम है, सो वरति रहा संसार॥"

क्योंकि वह अगम है, अतः उसे चर्म चक्षुओं से देखा नही जा सकता। उसे तो ज्ञान-साधना के बल पर अपने भीतर मात्र अनुभव किया जा सकता है। वह जन्म-मरण के जागतिक व्यवहारों से ऊपर है—

"जनमै मरे न संकटि आवै नांव निरंजन जाको रे
दास कबीर को ठाकुर ऐसो जाको माई न बापो रे॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर अवतारवाद की धारणा पर विश्वास नहीं करते। उनका ब्रह्म तो त्रिगुणातीत है। उसे ईश्वर, अल्ला, गोविन्द, राम कुछ भी कहा जा सकता है अवश्य और कबीर ने कहा भी है, पर वह इन नामों के समान सगुण कदापि नहीं है। यों कबीर ने ब्रह्म के लिए हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों और नाथ-योगियों में प्रचलित नामों का भी अनेकशः और खुलकर प्रयोग किया है, जैसे—शून्य, उन्मन, सहज, अनहद, सबद, खुदा, रहीम, करीम, रब, साहिब, माधव, बनवारी, केशव, नरहरि, मधूसुदन और न जाने क्या-क्या। पर पौराणिक मान्यताओ या कथाओं से इनका कोई सम्बन्ध नही। कबीर की तो मान्यता है—

"एक राम देखा सवहिन मैं,
कह कबीर मन मानां ॥"

स्वामी रामानन्द के शिष्यत्व या प्रभाव के कारण कबीर को ब्रह्म के विविध नामों-सम्बोधनो में 'राम' नाम सर्वाधिक प्रिय है। तभी तो वे इस नाम का अधिकाधिक प्रयोग करते हुए सर्वत्र दिखाई देते है। साथ ही वे यह भी स्पष्ट करते है कि—

"बावन अखिर सोधि कै 'र' रै 'म' मै मैं चित्त लाई।"

इतना ही नही, रमैनी के एक श्लोक में कबीर यहां तक कहते है—

"अविगत अपम्पार ब्रह्म, ज्ञान रूप सब ठांम।
बहु विचारि करि देखिया, कोई न सारिख राम॥"

कबीर का राम (ब्रह्म) केवल निर्गुण-निराकार, निर्विकल्प एवं निर्द्वन्द्व ही नहीं है, बल्कि अद्वैत से भी परे द्वैताद्वैत, अस्ति-नस्ति की भाव-भूमि से भी कहीं ऊपर उठकर परम सूक्ष्म, पर सुगन्धि के समान मोहक एवं व्यापक तत्व है—

"जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप-कुरूप।
पुहुप बास तैं पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥"

इतनी बात निर्भ्रांत रूप से स्वीकार की जानी चाहिए कि कबीर विविध दर्शनों से प्रभावित हैं। यह प्रभाव ही है कि कही-कहीं वे उपनिषदों के समय भी अपने ब्रह्म की स्थिति का वर्णन करते हुए उसे काला-सफेद, हल्का-भारी, रात-दिन, धरती-आकाश आदि कुछ भी नहीं मानते। उनका राम तो बस अपने भीतर ही वास करता है, उसको ज्ञान-प्रेम और लगन से भीतर ही अनुभव किया जा सकता है—

"कस्तूरी कुंडलि बसै, म्रिग ढूण्ढै बन माहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियां देखे नाहि॥"

अपने से वाहर ढूंढने वाले कवीरजी के विचार मे मूर्ख है—

"ज्यों नैननि में पूतरी, त्यों खालिक घट माहि।
मूरिख लोग न जांनहीं, बाहिर ढूंढन जांहि॥"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की दार्शनिक चेतना में वास करने वाला ब्रह्म तत्व परम सूक्ष्म, व्यापक, सर्वत्र रमण करने वाला निर्गुण, निराकार और निर्विकल्प है। वह एक है और सभी पंथ उसी की ओर जाते है। उसके

इस व्यापक, सूक्ष्म सत्स्वरूप को समझ कर अपनी अन्तरात्मा में ही उसकी अनुभूति की जा सकती है। कबीर—जिस भावनात्मक एकता के इच्छुक थे, जिसकी स्थापना के लिए आजीवन सक्रिय, सचेष्ट रहे, उसकी साधना ब्रह्म के इसी प्रकार के तत्व-ज्ञान से ही सम्भव हो सकती थी। यों समन्वयवादी दृष्टि-कोण अपना, जन-भावनाओं को आधार देने के लिए 'ब्रह्म' के बारे में अन्त में उन्होंने यहां तक भी कह दिया था—

"भाव-भाव में सिद्धि है, भाव-भाव में मेव।
जो मानो तो देव है, नहिं तो भीत को लेव॥"

२. जीव-तत्व-दर्शन—ब्रह्म-दर्शन के समान कबीर का जीव या आत्मा-सम्बन्धी दर्शन भी मध्ययुगीन सन्तों की समन्वयवादी चेतनाओं के अनुरूप ही स्वीकार किया जाता है। उनके मतानुसार जीव उस अजर-अमर, अविनाशी ब्रह्म का अश है, इस कारण वह भी एक अविनाशी या नित्य तत्व ही है। यों कहने या बाह्य दृष्टि से देखने पर वह ब्रह्म से विभिन्न प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वह भिन्न नही है। मायाजन्य अन्तर के कारण ही वह विभिन्न प्रतीत होता है। मायाजन्य भ्रम या आवरण की समाप्ति पर यह भेद भी स्वतः समाप्त हो जाता है। इस भ्रम या आवरण को समाप्त करने के लिए जीव में ब्रह्म के प्रति अनन्य आस्था एवं प्रेम-भाव परमावश्यक है। प्रेम-सम्पूर्ण की पूर्णताः केवल दाम्पत्य भाव से ही आ सकती है। अपनी इसी मान्यता के कारण कबीर जीव या आत्मा को 'राम नाम बहुरिया' कहकर अभिहित करते है। ब्रह्म की पहचान के लिए कबीर ने आत्म-तत्व के सत्स्वरूप की वास्तविक पहचान को नितान्त अपरिहार्य माना है। मन को पलटने देने पर ही वे त्रिविध ताप से छुटकारा सम्भव मानते है। यही कारण है कि कबीर सभी प्रकार के बाह्याचारो, व्रत-उपवास, रोजा-नमाज-तीर्थ-यात्रा आदि का विरोध कर मात्र आत्मचिंतन पर बल देते है। वे एक स्वर से कहते है—

"दिल महिं खोजि दिलै दिलि खोजहु
इहहै रहीमां-रामां।"

अपने आप-पास से कस्तूरी-मृग, कुण्डल आदि के उदाहरण, या 'पुहुपन में बास' जैसी बाते कहकर भी कबीरजी वस्तुतः आत्म-चिन्तन की प्रेरणा इसी दृष्टि से देते है कि अश-अंशी भाव के कारण आत्मा मे ही परमात्मा को पाया

जा सकता है। वे आत्मा को ही परम परमार्थ भी स्वीकारते है। परमात्मा के समान ही आत्मा को निर्गुण-निराकार और अनन्त कह कर सर्वव्यापक भी मानते हैं—

"अकल निरंजन सकल सुरीरा।
ता सन सौं मिलि रहा कबीरा॥"

सभी विद्वान यह तथ्य स्वीकार करते हैं कि कबीर का आत्म-तत्व-चिन्तन अधिकतर भारतीय उपनिषदों एवं श्रीमद्भागवत् गीता के ही अनुरूप हैं। गीता के आधार पर ही वह कहते है—

'आपै गगनां अन्ते गगनां,
मद्धे गगनां भाई।"

अर्थात् आदि, मध्य, अन्त-सर्वत्र वह एक तत्व ही समाया हुआ है। कबीरजी का आत्म-चिन्तन नाथ-पथियों के माध्यम से बौद्ध दर्शन से भी काफी प्रभावित प्रतीत होता है। यह प्रभाव ब्राह्मणवाद और वेद-शास्त्रों के खण्डन में तो देखा जा ही सकता है, आत्मचिन्तन मे भी स्पष्ट दिखाई देता है। यहां विद्वानों की मान्यताओं के अनुसार कबीर से एक भ्रांति भी हो गई है। वह यह कि बौद्ध-दर्शन अपने मूल स्वभाव में अनात्मवादी माना जाता है, जबकि कबीर ने उनके सहज, शून्य आदि कई सैद्धान्तिक या दार्शनिक शब्दों को आत्म-तत्व आदि का द्योतक मानकर उनके प्रति आस्था व्यक्त की है। जैसे—

"ऐसे हम लोक-वेद के बिछुरें,
सुन्निहि माँहि समावहिंगे।"

यहां पर कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि कबीर ने ब्रह्म दर्शन के समान आत्म-दर्शन के क्षेत्र मे भी विविध सम्प्रदायो की मान्यताओं का भरसक प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से ही हम उन्हे आत्मा-परमात्मा के संबन्धों के सन्दर्भ में अद्वैतवादी कह सकते है। वे बूंद मे समुद्र और समुद्र मे बूंद का, यह 'जल में कुम्भ और कुम्भ मे जल' का अस्तित्व समान रूप से स्वीकार करते कहते है—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है,
बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जाहि समाना,
यही ततु कथौ गियानी॥"

अपनी इसी धारणा के कारण ही कबीर सभी प्राणियों को विशेपकर औरतों-मर्दों को उस परम तत्व का स्वरूप ही स्वीकार करते हैं। इसी अभेदत्व के कारण उन्होंने मुक्ति की इच्छा भी कही व्यजित नहीं की। इस प्रकार की इच्छा वही सम्भव हुआ करती है कि जहां 'भेदत्व' का दर्शन विद्यमान हो। कबीर का आत्म-चिन्तन अभेदत्व पर आधारित है, अतः जो स्वयं नित्य है, शाश्वत है, वह किसी अन्य में मिलकर मुक्ति या नित्यता की वाछा क्यो कर करने लगा? कबीरजी की निम्नलिखित पंक्तियो से यह तथ्य एकदम उजागर हो जाता है—

'जउ तुम मो कों दूरि करत हो तो मोहि मुकुति बतावहु।
एकमेक रमि रह्यौ समनि मै तो काहे भरमावहु॥
तारन तरनु सबे लगि कहिए जब लगि तत्त न जांना।
एक राम देखा सबहीन मै कहै कबीर मन मांना॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर का आत्म-तत्व-चिन्तन अद्वैत-भाव पर आधारित है, इस्लाम के एकेश्वरवाद पर नही। यों कबीर भी ईश्वर या ब्रह्म को एक ही मानते है, पर ध्यातव्य है कि इस्लाम में अल्ला को जीवों से अलग स्वीकारा गया है। वहां जीव या प्राणी अल्ला के समय नही हो सकता, अतः वहां वन्दे और खुदा मे एक अन्तर स्पष्ट है जबकि कबीर ब्रह्म को सर्वव्यापक एवं समान रूप से सभी में समाया हुआ स्वीकार करते है। उन्होंने निर्भ्रान्त रूप से अंश-अंशी भाव स्वीकार कर आत्मा (जीव) परमात्मा मे एकतत्व की प्रतिष्ठा की है। यह प्रतिष्ठा औपनिषिदिक ही अधिक है। अनेकत्व को असत्य या अविश्वसनीय मान एकत्व पर ही उन्होंने वल दिया है। यहां आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत विशेष उल्लेख्य है। वह कहते है—"जब कबीर राम और रहीम की एकता की बात करते है तो उनका मतलब भारतीय पारम्परिक अद्वैत ब्रह्म को सामी धर्म के 'पैगम्बरी खुदा' के साथ घुला देना नही होता। वे अत्यन्त सीधी-सी बात अत्यन्त सीधे तौर पर कहते है कि सृष्टि के रचियता भगवान को यदि मानते हों तो वो भी कल्पना व्यर्थ है।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि कबीर आत्मा को ब्रह्म के समान ही शुद्ध, बुद्ध एवं नित्य मानते है। जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन कबीर ने सर्वत्र ही अत्यन्त निर्भ्रान्त रूप से किया है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, पार्थक्य का वोध मायाजन्य है और माया का आवरण रहते ही पार्थक्य स्वतः ही समाप्त हो 'जल में कुम्भ, कुम्भ

में जल है, की मान्यता के अनुरूप एकत्व के भाव को स्वतः उजागर कर देता है।

२. जगत्-तत्व-दर्शन—कबीर एवं उनके सन्त मत के अनुसार हमें अपने आकार एव अस्तित्व के आसपास स्थूल रूप में जो कुछ भी दीख-सुन पड़ता है एवं स्पृश्य रूप में अनुभव होता है, वह समूचा स्थूल स्वरूप ही जगत् है। पर वास्तविकता यह है कि यह समूचा स्थूल वस्तुजगत माया-विभ्रम होने के कारण मिथ्या है। समस्त जागतिक आकर्षक स्वरूप नितान्त भ्रामक हैं। जीव या आत्मा अनेक बार यात्री के समान इस स्थूल प्रसार में अपना पड़ाव डाला करता है, माया के वशीभूत होकर कई बार इस विभ्रम को ही सत्य मान लिया करता है। पर कबीरजी के सन्त-मत के अनुसार यह सब तो 'छाया-सा', 'माया-सा' नश्वर एवं क्षणिक है। अतः इसे सत्य मान मन न रमाना ही अच्छा है। इस प्रकार मायावाद से प्रभावित जगत्-दर्शन पर भी कबीरजी ने अपनी वाणी में अनेकशः अपने विचार व्यक्त किये हैं। कबीर के जिज्ञासु मन ने कई बार अपने-आप से प्रश्न किया है—

"कहो भइया अम्बर कासौं लागा।
कोई जानेगा जाननहार सभागा॥
अम्बर दीसै कैता तारा।
कौन चतुर ऐसा चितरन हारा॥"

और फिर स्वयं यह भी कहा है कि—

"जेतहि दीसै धरत-गगन-विच ।
तैतहिं सब उस जासी ।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर संसार को या दृश्य स्थल रूप को अस्थिर एवं नश्वर ही मानते है। उनका कहना है—

"रहना नहिं देश बिराना है।
यह संसार झाड़ अरु झांखड़ आग लगै जलि जाना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बुन्द पड़े घुलि जाना है॥

नश्वर संसार के चित्रात्मक स्वरूप को कबीर वास्तविक नही मानते। उनकी दृष्टि मे अमर और सत्य तो केवल वह अलग सत्ता है, जिसने यह सब बनाया है और वह है निर्गुण-निराकार ब्रह्म—

"जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुत धार।
कहै कबीर तै जन भलै, चित्रवंतहि लाई विचार॥"

इस जगत् के चित्रकार को पहचानना ही कबीर की साधना का सार तत्व है। जहां तक जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में कबीर एकमत या विचार पर स्थिर नही लगते। कभी तो वे कहते है—

"ओं ओंकार आदि है मूला।"

अर्थात् ओंकार ही सृष्टि का आदि और मूल कारण है, पर कही वे प्रकाश या नूर से जगत् की उत्पत्ति वताते हुए कहते हैं—

"एक नूर तै सब जग कीया कोन भला कौन गन्दा।"

अगले ही क्षण वह सृष्टि को त्रिगुणात्यिका वताते हुए कहते है—

"सत् रज, तम पै कीन्हीं माया।
आपन मझे आप छिपा था॥"

परन्तु जब हम गम्भीरता से विचार करते है, तो पाते है कि वस्तुतः कबीर ज्योतिस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते है और यह मान्यता उपनिषदों के अधिक निकट पडती है। ओंकार, प्रकाश, नूर आदि सभी शब्द ब्रह्म के ही द्योतक है। कबीर की माया भी ब्रह्माश्रित ही है, सांख्य दर्शन की प्रकृति नही है। सांख्य दर्शन का मत निरीश्वरवादी है, जबकि कबीर निरीश्वरवादी नही हैं। फिर भी सांख्य दर्शन का थोड़ा बहुत प्रभाव उन पर देखा जा सकता है—

"बहुरि हम काहे कौ आवहिंगे।
विधुरे पंच तत्त की रचनां तव हम रामहिं पावहिंगे।
पिरथी का गुन पानी सोखा पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सवद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे॥"

कबीर पर पड़े इस सांख्य दर्शन के प्रभाव के बारे में डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का मत विशेष उल्लेख्य है। वे कहते है—"साख्य दर्शन के सिद्धातों को कवीर ने अद्वैत दर्शन के प्रभाव से आंका और साख्य पर अद्वैत का रंग चढ़ाकर उसका वर्णन किया। कबीर ने सांख्य के प्रकृति और पुरुष को व्यावहारिक सत्य के रूप मे ग्रहण किया। दोनों के संयुक्त रूप को ब्रह्म का व्यावहारिक व्यक्त स्वरूप माना और उसके परे अव्यक्त पूर्ण ब्रह्म की प्रतिष्ठा की।" स्पष्टतः कबीर ने जगत् की उत्पत्ति के बारे में अद्वैतवादियो के विवर्तवाद

को ही मान्यता दी है। वह मान्यता यह है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य एवं नित्य तत्व है। उसी का सत्ता-परिवर्तन इस दृश्य एवं स्थूल जगत् के रूप में हुआ करता है, पर यह उसका मात्र आभास ही है, वास्तविक सत्ता का परिचायक नही है। अपनी इसी मान्यता को कबीर ने अपनी रचनाओं मे अनेकशः प्रतिष्ठापित किया है। संसार को वाजीगरी का खेल अतएव अनित्य एवं मिथ्या माना है, जवकि यह खेल करने वाला वाजीगर (ब्रह्म) ही नित्य एवं सत्य है। वे स्पष्ट कहते हैं—

**"वाजी झूठ वाजीगर सांचा कहै कबीर विचारी।"**

इस प्रकार कुल मिलाकर कबीरजी के जगत्-तत्व-दर्शन को न तो 'नूर' आदि शब्दों के कारण इस्लाम-प्रभावित कहा जा सकता है, न पंच तत्व को महत्व देने के कारण सांख्य-प्रभावित एवं न बौद्ध आदि दर्शनों से प्रभावित ही स्वीकारा जाता है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के साथ भी उसका सम्बन्ध नहीं है। वह मूलत. एवं वस्तुतः शंकराचार्य के अद्वैतवाद के ही निकट पड़ता है।

**४. माया-तत्व-दर्शन**—अन्य भारतीय दार्शनिकों एवं साधकों के समान कबीर आदि सन्त साधकों ने भी माया के अस्तित्व को मुक्त भाव से स्वीकार किया है। भारतीय परम्परा मे मात्र दो दार्शनिक परम्पराएं ऐसी उपलब्ध होती है, जो माया को उतना महत्व नही देती या फिर उसके अस्तित्व को नकारती हैं। ये दो दर्शन है—विशिष्टाद्वैतवाद और न्याय वैशिषिक दर्शन। शेप सभी आत्म-अनात्मवादी दर्शन माया के अस्तित्व को और महत्व देते है। उपनिपदों और गीता मे जिस प्रकार नाम-रूपात्मक जगत को अविद्या, भ्रांति और प्रकृति को माया मानकर त्याज्य वताया गया है, उसी प्रकार कबीरजी ने भी माना है। उन पर शंकराचार्य के मायावाद का भी प्रभाव स्पष्ट है। कबीर के मतानुसार माया जीव को भ्रम-भाव में भटकाने वाला तत्व है। इसके दृश्य-अदृश्य अनेक रूप हैं। संसार में जितने भी आकर्षक एवं लुभावने स्वरूप, तत्व एवं पदार्थ हैं, वे सभी माया के ही व्यक्त-अव्यक्त रूप हैं। यों इनके स्वरूप मधुर प्रतीत होते है, पर इन सवका अन्तिम प्रभाव विषवत् ही हुआ करता है। तभी तो कबीर ने स्पष्ट कहा है कि—

**"माया महा ठगनी हम जानी।"**

इसी कारण लौकिक स्तर पर इन्होने माया को नारी-रूपा कहा है और

# ४. कबीर : भक्ति भावना

कबीर बहुमुखी प्रतिभा वाले सन्त, साधक, विचारक, भक्त और कवि थे। कुछ समय तक यह धारणा प्रचलित रही है कि कबीर केवल समाज-सुधारक सन्त थे। भक्ति और कविता के साथ उनका दूर का वास्ता भी नहीं था। उनकी 'बीजक' मे संकलित रचनात्मक उक्तियों के आधार पर ही पाश्चात्य प्रभावित लोग ऐसा मानते-कहते रहे। परवर्ती अनुसंधानों ने यह भली प्रकार से प्रमाणित कर दिया है कि वे एक अच्छे भक्त तो थे ही, सुघड़ एवं प्रभावशाली कवि भी थे। जहा तक उनकी भक्ति-भावना का प्रश्न है, अनेक विचारक और विद्वान उन्हे पहले भक्त और बाद में ही कुछ और स्वीकारते है। परम्परा से प्रचलित किम्वदन्ती और दोहे से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि वस्तुतः मध्यकाल में भक्ति के प्रचार में कबीरजी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वह प्रचलित उक्ति या दोहा है—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।
परगट करी कबीर ने, सप्त द्वीप नौ खण्ड॥"

अर्थात् भक्ति का उदय या आरम्भ तो द्रविड़ प्रदेश में हुआ, पर उसे उत्तर और समस्त भारत में प्रचारित स्वामी रामानन्द के प्रयत्नों ने किया। पर जनसाधारण के समक्ष समूचे संसार में भक्ति के प्रचार-प्रसार का श्रेय भक्तप्रवर कबीरजी को ही जाता है। इस प्रकार की मान्यताएं एवं उक्तियां एकदम निराधार नही हुआ करती। न ही किसी युग की जनता मूर्ख हुआ करती है कि इस प्रकार की बातों पर आखे मूदकर विश्वास कर ले। प्रत्यक्ष अनुभव एवं प्रभाव ही इस प्रकार की मान्यताओं को जन्म देकर प्रचारित-प्रसारित किया रहते है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि कबीरजी प्रकाण्ड भक्त भी थे और सबसे पहले थे। उसी ने उनके व्यक्तित्व को इतना प्रखर एवं प्रभावी बना दिया था। दशम ग्रंथ या 'गुरु ग्रंथ साहिब' में, जहां कबीर की वाणी का प्रामाणिक संकलन मिलता है, कबीर के नाम के साथ 'भक्त' विशेषण जुड़ा हुआ मिलता है। स्वयं पहले गुरु नानकदेव ने उनकी वाणी का संकलन किया था।

वैष्णव भक्त के रूप में कबीर की मान्यता को निहार कर ही उन्होंने ऐसा किया होगा, यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

मध्यकाल में भक्ति की निर्गुण और सगुण नामक दो धाराएं प्रचलित हुई। निर्गुण-भक्ति के क्षेत्र में कबीर से पहले भक्तप्रवर नामदेव का नाम ही विशेष रूप से उपलब्ध होता है। कबीर ने भी अपनी वाणी में इनके नाम का अनेकशः स्मरण किया है। उनके बाद कबीर ही ऐसे व्यक्ति है, जिन्होने निर्गुण भक्ति के प्रचार-प्रसार में अपना तन-मन और सभी कुछ अर्पित कर दिया। इनके प्रभाव को अनेकशः सगुणवादियों ने भी स्वीकार किया। सगुण भक्ति के प्रचार-प्रसार में गोस्वामी तुलसीदास ही प्रथम क्रम में आते हैं। सूरदास आदि अन्य वैष्णव मतावलम्बी सगुणवादी उनके बाद ही आते है। हिन्दी साहित्य में निर्गुण भक्ति या सन्त मत के आदि प्रवर्तक यदि नामदेव हैं, तो उन्नायक कबीर। शेष सभी नाम उनके बाद ही आते है। ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि और प्राप्त साहित्य का गहन अध्ययन दोनों बातें यह प्रमाणित कर देती हैं।

भक्ति-भाव का उदय कब और किस रूप में हुआ, यह प्रश्न आज भी विचारणीय बना हुआ है। अन्य सभी बातों के समान भक्ति-भाव के उदय को भी वेदों—विशेषतः ऋग्वेद से जोड़ देने की बात अनेक विद्वानों ने कही है। यह ठीक है कि भक्ति एक चिरन्तन भावना है और वैदिक काल में भी इस भावना का अस्तित्व विद्यमान था। परन्तु भक्ति-परम्परा का क्रमिक विकास जिस रूप मे हुआ, वह निश्चय ही वैदिककालीन नही है। उसका उदय परवर्ती काल में ही सम्भव हो सका। इसी कारण वैदिक एवं परवर्ती भक्ति-भावना में एक स्पष्ट मौलिक अन्तर रेखांकित किया जाता है। वैदिक युग की भक्ति का संसार बाह्य व्यवहार या कर्मकाण्ड तक ही सीमित रहा। वहां भक्ति साध्य न होकर मात्र साधन ही रही। परवर्ती भक्ति के आचार्यों ने जिस प्रेम-तत्व को भक्ति का आधारभूत तत्व स्वीकारा है, वैदिक आचार्य स्यात् उसके नाम तक से भी परिचित नही थे। परवर्ती भक्ति-आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में 'जाति-पांति पूछे न कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' जैसी जिस भावना को मान्यता देकर शूद्र-ब्राह्मण, पुरुष-नारी आदि सभी के लिए भक्ति के द्वार उन्मुक्त कर दिए थे, वह भावना वैदिक भक्ति के क्षेत्र में कही भी दृष्टिगोचर नहीं होती। वहां अन्त्यजों एवं नारियों के लिए भक्ति के द्वार बन्द ही दिखाई देते

हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन निर्गुण-सगुण भक्तों ने जिस भक्ति-भावना और प्रक्रिया का प्रचार-प्रसार किया, वह वैदिक काल की अवधारणाओं से काफी-कुछ भिन्न है।

ऐसा माना जाता है कि परवर्ती भक्ति-भावना का प्रचार-प्रसार दक्षिण के आलवार भक्तों के कारण एवं उनके प्रयासों (भक्ति-गीतों) से ही संभव हो सका। इनके भक्ति-गीतों का संकलन 'प्रबन्धार' नामक रचना में मिलता है। ऐसी भी मान्यता है कि 'भागवत धर्म' सम्प्रदाय ही परवर्ती भक्ति-भावना का आदि स्रोत है। इसका संस्थापक श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया जाता है। महाभारत के 'शान्ति पर्व' में भागवत धर्म के प्रवर्तन की कथा का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार नर-नारायण नामक दो ऋषियों ने इसका प्रवर्तन किया (ध्यातव्य है, श्रीकृष्ण और अर्जुन को नारायण-नर का अवतार भी स्वीकारा जाता है)। परिणामत. भागवत धर्म को पहले 'नारायण धर्म' नाम से भी अभिहित किया जाता रहा। बाद में बुद्ध मत के उदयकाल मे जब इस धर्म का मार्ग उत्तर भारत में अवरुद्ध होने लगा, तो इस धर्म के प्रचारक दाक्षिणात्य राजाओं के आश्रम में चले गए। वही उन्हें 'आलवार' नाम मिला। बाद में भक्ति के सैद्धान्तिक या शास्त्रीय पक्षों का प्रतिपादन करने वाले आचार्य भी आगे आने लगे। शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में जिन आचार्यों ने मायावाद का खण्डन कर विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना और विकास का कार्य किया, उनमे प्रमुख है, क्रमशः—यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य तथा अन्य अनेक; इनके प्रयत्नो से बारहवी-तेरहवी शताब्दी तक दक्षिण भारत मे भक्तिभाव ने एक आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया। वहां से यह आन्दोलन सन्त ज्ञानेश्वर और नामदेव आदि के माध्यम से महाराष्ट्र में पहुंचा। गोरखपथी योग-मार्ग का समन्वय कर इन दो सन्त-भक्तों ने भक्ति-भाव को नया संस्कार एवं स्वरूप प्रदान किया। स्वामी रामानन्द इस आन्दोलन को उत्तर-भारत में लाए। उनके प्रयत्नों से बगाल, बिहार, आसाम, पंजाब तक इसके घेरे में आ गए। तब तक अपभ्रंश आदि मध्यकालीन भाषाओं के अर्थ से हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओं का आरम्भ हो चुका था। अतः हिन्दी समेत प्रायः सभी आधुनिक आर्य भाषाओं में दक्षिण से आये इस भक्ति-आन्दोलन का विकास निर्गुण और सगुण नामक दो धाराओं में होने लगा। कबीर की भक्ति-भावना इसी व्यापक आन्दोलन की निर्गुण भक्तिधारा पर ही आधृत है।

इससे पहले कि कबीर की भक्ति-भावना पर विचार किया जाए, भक्ति का स्वरूप एवं उसके भेदोपभेदों पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित रहेगा। उन्हें जान लेने के वाद कबीर की भक्ति-भावना को समझने मे पर्याप्त सहायता मिलेगी। कोशकारों ने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के सन्दर्भ में भक्ति के कई-कई अर्थ ग्रहण किए और करने की प्रेरणा दी है। भक्ति के अर्थ हैं क्रमशः—सेवा, अनुराग, आराधना, श्रद्धा और विभाग। पर पुराणों एवं भक्ति-सम्वन्धी शास्त्रीय ग्रंथों मे भक्ति के अर्थ के सम्वन्ध मे एक अन्य परम्परा एवं मान्यता के दर्शन होते हैं। श्रीमद्‌भागवत के अनुसार—"वेद विहित कार्यों मे निरत जनों की भगवान के प्रति भावपूर्ण, अनन्य स्वाभाविक सात्विक प्रवृत्ति का नाम 'भक्ति' है। जैसे अखण्ड्य भाव-रूप से गंगाधारा सागरोन्मुख प्रवाहित रहती है, उसी तरह सर्वान्तिर्यामी भगवान् के गुण-श्रवण मात्र से जागृत एवं उद्‌भूत अविरल मनःमति 'भक्ति' कहलाती है।" इसी प्रकार महर्षि शाण्डिल्य ने कहा है—"सा परानुरक्ति दीश्वरे।" अर्थात् ईश्वर-विषयक परम अनुरक्ति की भावना ही भक्ति है। इसी प्रकार कहा जाता है कि भागवत्प्रेम की पराकाष्ठा को भी भक्ति कहा गया है। महर्षि नारद का कथन है कि—"सा त्वचिन् परम प्रेम रूपा।" अर्थात् ईश्वर के प्रति परम प्रेम का भाव ही भक्ति है। इन समस्त मतों का सार-तत्व ग्रहण कर स्वामी रामानुजाचार्य भक्ति की व्याख्या करते हुए कहते है कि—"स्नेहपूर्व अनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।" अर्थात् भगवान् का स्नेह भाव से किया गया अनवरत ध्यान ही भक्ति है। इन्होंने प्रेम-स्नेह-रूपा भक्ति को ज्ञान से ऊपर वताया है, जवकि गीता-उपनिषद् आदि में भक्ति को ज्ञान का हेतु माना गया है। भक्त आचार्य इस प्रकार की भक्ति को 'विशिष्ट' नहीं 'सामान्य' ही मानते है। इस प्रकार भक्ति में प्रेम, शरणागति और प्रपत्ति आदि तत्व परम आवश्यक स्वीकारे गए है। प्रपत्ति का अर्थ विना शर्त आत्मसमर्पण ही प्रमुखतः लिया जाता है।

भक्ति के कितने प्रमुख भेद एवं उपभेद है, इस सम्वन्ध में भी आचार्यों में मतैक्य नही। अपनी-अपनी दृष्टि से सभी ने कई-कई भेदोपभेद गिनाए है। भेदोपभेदों की यह संख्या दो से लेकर चौदह-पन्द्रह तक विस्तार पा गई है। पर मूलतः संख्या-भेद के अतिरिक्त अन्य प्रकार का कोई सूक्ष्म अन्तर इनमें नही दिखाई देता। वैधी भक्ति-भावना के सामान्यतया नौ प्रकार या भेद (नवधा-भक्ति) स्वीकार किए गए है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, दास्य, सख्य, पाद सेवन,

अर्चन, वन्दन, आत्मनिवेदन। नारद ने जो स्मरणभक्ति, दास्यासक्ति एवं सख्यासक्ति जैसे भेद स्वीकारे है, स्पष्टतः उपरोक्त स्मरण, दास्य, सख्य आदि में उनका अन्तर्भाव हो जाता है। श्रीमद्भागवत में बताए गए एक रूप 'पूजासक्ति' का अन्तर्भाव पाद-सेवन, वन्दन-अर्चन आदि में स्पष्ट हो जाता है। हां, नारद ने 'कान्ताभक्ति' और 'वात्सल्यासक्ति' नामक जो अन्य दो उपभेद स्वीकारे है, उनका अन्तर्भाव नवधा भक्ति के उपरोक्त अंगों में सम्भव प्रतीत नही होता। उनका रूप हम सूर आदि के कृष्ण-काव्य मे ही स्पष्टतः देख पाते हैं। वहां कान्ता और वात्सल्य भाव का चरमोत्कर्ष एवं परिष्कार अवश्य सम्भव हो सका है।

यहां पर यह तथ्य विशेष ध्यातव्य है कि कबीर की भक्ति-भावना कोई शास्त्र-विहित, बधी-बंधाई भक्ति-भावना नही है। फिर भी उनमें उपरोक्त सभी रूपों एवं भावों का समन्वयात्मक सौष्ठव अवश्य देखा तथा अनुभव किया जा सकता है।

कबीर की भक्ति-भावना मूलतः एवं मुख्यतः निर्गुणवादी चेतना पर आधारित है। 'शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र' के अनुसार—निर्गुण भक्ति केवलाद्वैती आत्मज्ञानी की निराकार ब्रह्म-विषयक भक्ति का पर्यवसान 'सो हम्' बुद्धि में हुआ करता है। इसी को उन्होने 'अभेद-भक्ति' भी कहा है। कबीर की भक्ति इसी 'अभेद' भाव पर टिकी है। इस बात को समझने के लिए इस तथ्य का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कबीर जिस निर्गुण-निराकार के भक्त हैं और भक्ति की प्रेरणा देते है, वह 'अभाव' का पर्याय या सूचक नही है। वह तो घट-घट में व्याप्त एवं रमण करने वाला 'राम' है। वह एक सार्वकालिक सत्ता है और इस कारण उसमें सगुणता का समावेश स्वत. ही हो जाता है। कबीर यदि उसकी सगुणता से परहेज या इंकार करते है तो जन्म-मरण जैसे जड़-नश्वर तत्वों या रूपों की दृष्टि से। इसी कारण कबीर परब्रह्म परमेश्वर को अनुभव-जन्य स्वीकार कर उसकी उपासना की, सान्निध्य की प्रेरणा देते है। सन्त ज्ञानेश्वर की इस मान्यता को ही कबीर अपनी भक्ति-भावना मे चरितार्थ करते हुए प्रतीत होते है कि "भक्त को परा भक्ति का अनुभव पूर्ण रूप से उस समय हो सकता है जब वह परमात्मा के निर्गुण-निराकार स्वरूप में तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।" निश्चय ही कबीर ने ऐसा ही किया। इसी कारण वे एक साथ

सन्त और भक्त दोनों हैं। यहां यह भी ध्यातव्य है कि शंकर अद्वैतवाद के पक्षधर एवं पोषक होते हुए भी कबीर ने भक्ति को साधन रूप में नही, बल्कि रामानुज के समान साध्य रूप में ही स्वीकार किया है। कबीर ने ज्ञान का महत्व भी भक्ति के साधन रूप मे स्वीकार किया है। वह ज्ञान क्योंकि गुरु से ही प्राप्त होता है, अतः वह गुरु को विशेष महत्व देते है—

"सतगुर की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपगार।
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार॥"

कबीर ने योग-साधना को भी भक्ति के साधन के रूप में ही स्वीकारा एवं महत्व प्रदान किया है—

'सब रग तांति रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै, कै सोई कै चित्त॥"

और उनका वह साई (ब्रह्म) निर्गुण-निराकार ही है। उसका मुह-माथा कुछ भी नही और वह पुष्प-बास से भी 'पातरा हैं' है—

"जाकै मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप-कुरूप।
पहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥"

कबीर ने उसे देखा कभी नही, केवल अनुभव किया है। जो अनुभव किया है, वह अकथ्य है। कहने पर भी तो स्यात् कोई विश्वास न करे। अतः वह सर्वात्मभाव से उसका गुण-गान करने की बात कहकर सन्तोष कर लेते है—

"भारी कहूं तो बहु डरू, हरुवा कहूं तो झूठ।
मै क्या जानूं राम कौं, नैनां कबहूं न दीठ।
दीठा है तो कस कहूं, कहैं न कोइ पतिआइ।
हरि जैसा वैसा रहै, तूं हरखि-हरखि गुन गाई॥"

कबीर ने अपनी भक्ति-भावना मे जिस 'योग' को महत्व दिया है, विद्वान उसे 'सुरति शब्द योग' की संज्ञा देते है। योग का महत्व उनके लिए मन की चंचलता एवं इन्द्रिय-निग्रह तक ही सीमित है—वह इसलिए कि एकाग्र एवं अनन्य भक्ति सम्भव हो सके। कबीर की भक्ति-भावना वस्तुतः अनन्य आत्म-समर्पण की भावना पर आधारित है। तभी तो वे कहते है—

"कबीर सूता राम का, मुतिया मेरा नाऊं।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं॥"

कबीर भक्ति को परमावश्यक स्वीकारते हैं। उनकी दृष्टि में भक्ति के विना मनुष्य जीवन जीना एक प्रकार का घोर अपराध है। भक्ति के अभाव में कबीर जन्म-जीवन को नितान्त व्यर्थ मानते हुए कहते हैं—

"जिहि नर रांम भगति नहिं साधी।
सो जनमत बस घुन मुवो अपराधी॥"

भक्ति को कबीर एक ऐसा 'पुण्य भाव' स्वीकारते है, कि जिसके वल पर मनुष्य आवागमन के चक्कर से छुटकारा पाने में समर्थ हो सकता है।

अतः जिसने राम की भक्ति नहीं की, संसार में उस अपराधी ने कुछ भी नही किया। विश्वास भाव-भक्ति का आधारभूत तत्व है। इस धरातल पर खड़ा रहकर ही व्यक्ति की मुक्ति-साधना पूर्ण हो सकती है—

"भाव भगति सों हरि न अराधा।
जनम मरन की मिटी न साधा॥"

वे आगे फिर कहते है—

"भाव भगति विसवासु बिन्, कटै न संसे सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन्, मुकति नहीं रे मूल॥"

कबीर ने एक स्थान पर अपनी भक्ति को 'नारदी भक्ति' कहकर भी अभिहित किया है और बताया हैं कि उसके अभाव में जीवन की अन्य समस्त साधनाएं नितान्त क्षुब्ध एव व्यर्थ है—

"भगति नारदी हिरदै न आई काछि-कूछि तनु दीनां।"

नारदी भक्ति निश्चय ही वैष्णव भक्ति ही है और वैष्णव-भक्तों का स्नेह-सम्मानपूर्वक स्मरण करते हुए, उन्हे अपना श्रेष्ठ एवं सुदृढ़ साथी स्वीकार कर कवीर आदर-भाव से कहते है—

"मेरे सगी दोइ जना, एक बैस्नों एक रांम।
वो हैं दाता मुकुति कै, वो सुमरावै नांम॥"

नारद की भगवान के प्रति सर्व-समर्पण की भावना को भी कवीर ने विशेष मान एवं महत्व प्रदान किया है—

"मेरा मुझ में कछु नहीं, जो कछु है सो तोर।
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लागे है मोर॥"

नारदी भक्ति मे प्रभु-भक्ति की जिस व्याकुलता का उल्लेख किया गया है,

जिस विरहानुभूति की प्रखरता आवश्यक बताई गई है, कबीर में उस सबका उल्लेख अनेकशः मिलता है। एक-दो उदाहरण देखें—

"अंखड़ियां झांई परी, पंथ निहारि-निहारि ।
जीभड़यां छाला परा, रांम पुकारि-पुकारि ।।"

और यह पुकार कई बार मनुहार भी बन जाती है। तब कबीर जिस किसी से भी प्रभू-मिलन का उपाय करने-कराने के लिए संवाद की स्थिति में आकर कह उठते हैं—

"है कोई ऐसा पर उपकारी, हरि सौं कहै सुनाई रे ।
अब तो बेहाल कबीर भए हैं, बिहु देखे जिउ जाई रें ।।"

जब संसार से कोई उत्तर नही मिल पाता, तो निराश चेतना फिर अपने राम की ओर मुड़ कर अनुनय करने लगती है—

"नैनां नीझर लाइया, रहट बहै निस-याम ।
पपिहा ज्यों पिउ-पिउ करी, कब रे मिलहुगे राम ।।"

स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति का आलम्बन निर्गुण-निराकार फिर भी घट-घटवासी राम है, दशरथ का बेटा या कोई अवतारी पुरुष राम नही है। वह एक आख्यात्मक सत्ता न होकर पूर्णतया भावात्मक सत्ता है, अतः उसकी पूर्ण अनुभूति भी भावना के स्तर पर ही सम्भव है, चर्म-चक्षुओं के स्तर पर कदापि नहीं। उसमें साधनामूलक योग का भी यत्किंचित समन्वय हो गया है, ज्ञान के दर्शन भी होते है। पर ये योग-ज्ञान उनके साध्य नही, राम के सत्स्वरूप को पहचानने, उस तक पहुंच पाने के साधन मात्र है। नारद की सगुण-भक्ति-व्याख्या में प्रेमा-भक्ति की ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख किया गया है—गुण महात्म्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्ता-सक्ति, आत्मभिवेधासक्ति, तन्मयासक्ति, परम विरहासक्ति। हमारे विचार में इन सभी आसक्तियों के उदाहरण कबीर की वाणी में न्यूनाधिक खोजे जा सकते हैं। जब वे अपने को 'राम की बहुरियां' कहकर कहते है—

"दुल्हन गावहु मंगलाचार,
मेरे घर आए राम भतार ।"

तो निश्चय ही यहां कान्तासक्ति का भाव देखा जा सकता है। गुणासक्ति का तो अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण है—

"सात समन्द की मसि करूं, लेखनि सब बन राइ ।
धरती सब कागद करूं, हरि-गुन लिखा न जाइ ।।"

तन्मयतासक्ति का एक उदाहरण भी प्रस्तुत है—

हेरत हेरत हे सखि, रहा कबीर हिराइ।
बून्द समानीं समुन्द में, सो कत हेरी जाइ॥"

प्रपत्ति या सम्पूर्ण समर्पण भाव को भी भक्ति का एक विशिष्ट रूप-अंग स्वीकार किया जाता है। प्रपत्ति मे दैन्य एवं कार्पण्य-भाव भी रहा करते हैं। कबीर की वाणी में भक्ति के इन भावों का स्वरूप भी यत्र-तत्र देखा-पढ़ा जा सकता है। एक-दो उदाहरण प्रस्तुत है—

"प्रीति रीति तो तुज्झ सौं, मेरे बहु गुनियाले कन्त।
जो हंसि बोलूं और सौं, तो नील रंगाऊं दन्त॥

मूरख संग न कीजिए, लोहा जल न तिराइ।
कदली, सीप भुवंग मुख एक बूंद तिहु भाइ॥"

इस प्रकार की भक्ति-भावना मे प्रायः शास्त्रोक्त सभी मान्यताओं का समावेश मिल जाता है। कबीर ने यह भी माना है कि भक्ति की प्राप्ति गुरु-कृपा और सत्संग से ही सम्भव हुआ करती है। यही कारण है कि अपनी साखियों में उन्होने गुरु और सत्संग की महिमा का गायन बार-बार किया है। कुसंग से दूर रहने की प्रेरणा भी दी है। क्योंकि कुसंग भक्ति में तो बाधक होता ही है, अन्य अनेक प्रकार से भी हानि पहुंचाता है। इसके विपरीत सत्संग में लाभ ही लाभ है। तभी तो वे कहते हैं—

"कबीर चन्दन के विड़ै, वेधे ढाक-पलास।
आपु सरीखे करि लिए, जो होते उन पास॥"

सत्संग या साधु-संगति को कबीर ने वैकुण्ठ तक इसी दृष्टि से कहा है और साकतों (शाक्तो) की बारम्बार निन्दा की है। उन्हें भटकाने वाला कहा है। भक्ति मार्ग पर चलने वाले भक्तों के लिए कबीर ने काम, क्रोध, लोभ; मोह-मद जैसे मनोविकारों से दूर रहने की प्रेरणा दी है। इनसे दूर रहकर राम-नाम के स्मरण-भक्ति को ही मुक्ति का मार्ग बताया है—

"जो पै रसनां रामु न कहिवो।
तो उपजत बिनसत भरमत रहिवो॥"

इस प्रकार भक्ति मार्ग पर चलने के लिए गुरु से प्राप्त ज्ञान, कुसंगत का त्याग, सत्संग, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य मन से प्रभु नाम का स्मरण, मनोविकारों से दूर रहकर सर्व समर्पण ही वे साधन है, जिन पर चलते हुए कबीर के विचार मे कोई व्यक्ति भक्त हो सकता या सच्ची भक्ति को प्राप्त कर सकता है।

उपरोक्त विवेचन-विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण-निराकार-वाद का समर्थक होते हुए भी कबीर का भक्ति-मार्ग कठिन दुर्लभ नहीं है। वह शून्य में साधना करने का सन्देशवाहक भी नहीं है। उसका आग्रह मात्र ब्रह्म की उस परम सत्ता के प्रति आस्था भाव रखने का है कि जो जन्म-मरण के जागतिक वन्धनों, पंचभौतिक तत्वों से ऊपर है। जो घट-घटवासी और सर्वत्र रमण करने वाला है, पर चाक्षुष-विम्बों में बंधने वाला नहीं है। इस मान्यता को हम सामान्य शब्दों में अवतारवाद का खण्डन भी कह सकते है। कबीर की मान्यतानुसार भक्ति के लिए और भगवान मे दार्शनिक अभेद ही परमावश्यक है। उसके प्रति पूर्ण अनुरक्ति रखकर अनुभूति के स्तर पर ही उसमें एकत्व की प्राप्ति सम्भव हो सकती है। ऐसे ही एकत्व की प्राप्ति कबीर ने की थी। तभी तो उन्होंने कहा—

"सुरति समांनी निरति मैं, अजपा मांहैं जाप।
लेखा समांना अलेख मैं, यौं आपा मारै आप॥"

या फिर—

"नां कछु किया न करहिगे, नां करनै जोग सरीर।
जो कछु किया सु हरि किया, भया कवीर-कवीर॥"

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—"कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई।" इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

प्रश्न २—"भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
परगट कीयो कबीर ने, सात द्वीप नौ खण्ड॥"

इस अनुश्रुति का युक्तियुक्त विवेचन करते हुए भक्ति-परम्परा में कवीर का स्थान निरूपित कीजिए।

प्रश्न ३—कबीर की भक्ति-भावना का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न ४—कबीर के भगवत्प्रेम के आदर्श पर एक लघु निवन्ध लिखिए।

प्रश्न ५—"कवीर की साधना में योग और भक्ति का सुन्दर समन्वय है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न ६—"कबीर की भक्ति-पद्धति में ज्ञान और योग के तत्वों का उचित संश्लेष है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

प्रश्न ७—कबीर की भक्ति का आलम्वन कौन है—इस विषय में हिन्दी के आचार्यों की धारणाओं पर युक्तियुक्त विचार प्रस्तुत कीजिए।

# ५. कबीर : रहस्य-साधना

भारतीय जीवन, दर्शन और साहित्य-साधना मे रहस्य-साधना की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। जितने प्रकार की भी दार्शनिक चेतनाएं उपलब्ध हैं, वे समस्त वस्तुत. रहस्य-साधना का ही अंग स्वीकारी जाती हैं। भक्ति-कालीन साहित्य की निर्गुणवादी काव्यधारा की दोनों शाखाओं (ज्ञानमार्गी और प्रेम-मार्गी) का मूलाधार ही रहस्य-साधना को स्वीकारा जाता है। रहस्यवाद के जो दो रूप माने गए हैं—साधनात्मक रहस्यवाद और भावनात्मक रहस्यवाद, इनमे से पहला स्वरूप विशुद्ध आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत अद्वैतवादी क्रिया-प्रक्रिया में देखा जा सकता है, जबकि दूसरा भावनात्मक रहस्यवाद का स्वरूप काव्य का विषय बनकर अद्वैतवादी चेतना का ही दूसरा स्वरूप हो जाया करता है। स्यात् इसी कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि "साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र मे वही रहस्यवाद है।" काव्यात्मक या भावनात्मक रहस्यवाद वस्तुतः काव्यात्मक अद्वैत-साधना का ही दूसरा नाम है। रहस्यवादी का संबंध चाहे विशुद्ध अध्यात्म या अद्वैत-साधना से हो या फिर भाव-साधना से, वस्तुतः होता वह सत्य का ही अन्वेषक है। हाँ, कबीर आदि रहस्य साधकों का सत्य विशुद्ध कवियो का कल्पित या सम्भावित सत्य नही है, बल्कि परम तत्व के चिन्तन एवं उसके स्वरूप आदि के निर्धारण से संबंधित सत्य है। फिर भी रहस्यवाद की स्पष्ट परिभाषा रेखांकित कर पाना सहज कार्य नही, बल्कि अत्यधिक कठिन एवं पेचीदा कार्य है।

समय-समय पर विद्वानो ने रहस्यवाद को परिभाषित करने के अनेक प्रयत्न किए हैं, पर निर्णायक या अन्तिम रूप से आज तक स्यात् कोई भी कुछ नही कह सका। मूलत. रहस्यवाद का संबंध आध्यात्मिक साधनों के साथ ही स्वीकार किया जाता है। कहा जाता है कि ब्रह्म के आध्यात्मिक या परा-प्राकृतिक स्वरूप के साथ आत्मा की भावात्मक एकता की अनुभूति का नाम ही रहस्यवाद है। साधनात्मक रहस्यवाद जहां आत्मा परमात्मा के ऐक्य की

अनुभूति के साधना ज्ञान एवं भक्ति को प्रमुखतः स्वीकार करता है, वहाँ भावनात्मक रहस्यवाद में काव्यमयी भावनाओं का ही प्राधान्य रहा करता है। फिर भी विद्वान आत्मा-परमात्मा की प्रणय एवँ मिलन की अनुभूति को, अनिर्वचनीयता के क्षणों को ज्ञान एवं भक्ति से प्रायः भिन्न स्वीकारते है। जब वौद्धिक मान्यताओं एवं तर्क-शास्त्र का सहारा लेकर आत्मा-परमात्मा-संबंधी सत्य का निरूपण-निर्धारण किया जाता है, तब विद्वान उसे ज्ञान की स्थिति कहते है। इसके विपरीत जब प्रेम एवं भावना के आधारभूत तत्वों द्वारा पर-ब्रह्म परमेश्वर के आधिदैविक स्वरूप की उपासना की जाती है, तो उसे भक्ति स्वीकार किया जाता है। रहस्यवाद को इन दोनों विलग स्थितिओं से भिन्न रेखांकित किया जाता है। इन दोनों स्थितियों का सूक्ष्म समन्वय ही रहस्यवाद की—विशेप कर काव्यात्मक रहस्यवाद की अवधारणा को स्पष्ट करने वाला है। सो, कहा जा सकता है कि जब कोई परम तत्व का साधक भावानुभूतियों को वाणी प्रदान कर आध्यात्मिक या परा प्राकृतिक सत्ता के रहस्यों को भाषा-चित्रों में सजा-संवार कर रूपायित करता है, साहित्यिक पर्यावरणों में उसी को रहस्यवाद कहा जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि साधनात्मक एवं भावनात्मक संज्ञा से रहस्यवाद के दो प्रमुख स्वरूप स्वीकार किए गए है, कवीर की वाणी में ये दोनों रूप स्पष्टतः पाये जाते है।

अपने साधक और कवि दोनों रूपों के लक्ष्यों की ओर स्पष्ट इंगित करते हुए कबीर ने कहा है कि—

"लोग जाने यहु गीत है, यह तो ब्रह्म विचार।"

× × ×

"तुम जिन जानी यह गीत है, यह निज ब्रह्म विचार रे।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सम् है॥"

स्पष्ट है कि कवीर अध्यात्मवादी चेतना से अनुप्रणित होकर परब्रह्म के वारे में जो कुछ अनुभव कर रहे थे, उसी को अपनी वाणी (कविता) द्वारा वे आम जनों को भी समझाना-बुझाना चाहते थे। ब्रह्म-विचार एवं अनुभूति के स्तर पर उसके दर्शन ही रहस्य-साधना का चरमोद्देश्य हुआ करता है। दर्शन जहाँ बुद्धि एवं तर्क के सहारे अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हुआ करता है, वहाँ कवि भावना को अपना सम्बल बनाया करता है। कवीर दार्शनिक एवं कवि दोनों है, अतः उनकी साधना मे बुद्धि एवं भावना का समन्वय हो जाना

स्वाभाविक ही कहा जाएगा। (हमारे उपनिषद् ब्रह्म को 'रस-रूप' स्वीकार करते है और रसानुभूति हृदय का कार्य है, तर्क का आश्रय लेने वाली बुद्धि का नही।) ब्रह्म ही सत्य एवं नित्य है और सत्य की अनुभूति के लिए पाश्चात्यों के अनुसार सत्य का सम्बल ही अनिवार्य हुआ करता है। पर भारतीय दर्शन इस प्रकार के सत्य को आभ्यान्तरिक नही, वाह्य ही स्वीकारता है। तभी तो उपनिषद् तक रस रूप ब्रह्म की अनुभूति बौद्धिक तर्कों मे न मान हार्दिक तत्वों अर्थात् भावना के स्तर ही स्वीकार करते है। कबीर ने भी कहा है—

"भाव-भाव में सिद्धि है, भाव-भाव में भेव।
जो मानो तो देव है, नहिं तो भीत को लेव॥"

तभी तो कबीर ने ब्रह्म की अनुभूति को तर्क-साध्य न मानकर भावना-साध्य ही स्वीकार करते हुए कहा है—

"कहत कबीर तरक दुइ साधै, तिनकी मति है मोटी॥"

इस अनुभूति के लिए कबीर ने यद्यपि योग-साधना का आश्रय भी लिया, पर मात्र मनादि इन्द्रिय-निग्रह की सीमा तक। प्रश्रय उन्होंने भी प्रेम-भाव-भगति को ही दिया। उनकी प्रेम-भाव-भगति का आशय सगुणोपासको के समान सगुण-साकार स्वरूप के प्रति आसक्ति नही है। वे तो विशुद्ध प्रेम के सहारे ब्रह्म की अनुभूति के कायल थे, अतः प्रेमाभिव्यक्तियां स्वतः ही रहस्यरूप एवं रहस्यवाद की सृष्टि करने वाली हो गई है। इसी कारण उनका साधनात्मक रहस्यवाद उतना आकर्षक एवं ग्राह्य नही बन पाया, जितना कि भावनात्मक रहस्यवाद। उस पर भी तत्कालीन विविध प्रचलित पद्धतियों का प्रभाव असन्दिग्ध है। इसी ओर इंगित करते हुए डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है कि—"कही पर उनमें सूफियों के प्रेम-मार्ग का निरूपण मिलता है, कही पर हठयोगियों के पारिभाषिक शब्दों एवं प्रक्रियाओं का रहस्यात्मक वर्णन है। कही वे सिद्धों की संध्याभाषा शैली का अनुकरण करते है, और कभी उपनिषदों के ढंग पर रहस्यात्मक शैली मे तत्व का प्रतिपादन। यही कारण है कि उनकी रहस्य-भावना विविध-रूपिणी है तथा उसकी अभिव्यक्ति के विविध स्वरूप, स्तर और सोपान है।"

जहाँ तक रहस्य-साधना के मूल तत्वों एवं उपकरणों का प्रश्न है, आस्तिकता को सर्वप्रमुख उपकरण स्वीकारा गया है। कबीर की आस्तिक मानसिकता सभी प्रकार के प्रश्नों से परे है। वे सर्वत्र नास्तिकता का कट्टर

एव घोर विरोध करते हुए दिखाई पड़ते है। तभी तो अनात्म एवं अनीश्वर-वादियों की उन्होंने सर्वत्र कड़ी भर्त्सना की है—

"बौद्ध, जैन और साकत सेना,
चार भाग चतुरंग-विहीना ।"

और बाह्याचारों में उलझे आस्तिकों को भी वे नही बख्शते—

"जोगी, जपी-तपी संन्यासी, बहु तीरथि भ्रमना ।
लुंचित, मुंडित मोनि जटाधर अंति तऊ मरना ।।"

उनकी आस्तिकता इन सब से परे अतएव ब्रह्म के सत्य स्वरूप की विधायिनी एवं अनुभूति कराने वाली है। जहाँ वह शून्यसाधना की बात कहते हैं, वहाँ भी उनका संकेत वस्तुतः नाथपंथियों के समान अलख किन्तु ज्योति स्वरूप परब्रह्म की सत्ता की ओर ही होता है, बौद्धों की तरह निरीश्वर सत्ता की ओर कदापि नही। कबीर तो उपनिषदों के समान ब्रह्म को तत्वस्वरूप एवं अनिर्वचनीय स्वीकारते हैं। अनिर्वचनीय एवं मात्र तत्व होते हुए भी उनका ब्रह्म अपने-आप मे पूर्ण है। उस पूर्ण से परिचय पाना ही उनकी समूची साधना का चरम लक्ष्य है। उसकी अभिव्यक्ति वाणी आदि के द्वारा संभव नही। वह तो गूंगे का गुड़ है, जिसके बारे में कबीर कहते है—

"कह कबीर गूंगे गुड़ स्वाद बिन रसना का करै बड़ाई ।"

वह शाब्दिक बड़ाई की वस्तु नही, वरन् लौ लगाने की वस्तु है, मात्र अनुभूतिजन्य उपलब्धि है, उससे चर्म-चाक्षुष साक्षात्कार संभव नही—

"ऐसा कोई न मिले, सब विधि देह बताई ।
सुनि मंडल में पुरुष एक ताहि रहै ल्यो लाई ।।"

उस अनादि, अखंड, निर्विकल्प सत्ता का आविर्भाव मात्र भावना में ही संभव है अन्य किसी रूप या भाव से नही। वह एक निष्प्राण या निर्जीव सत्ता भी नहीं है। सुगन्धि के समान सूक्ष्म होते हुए भी वह सुगन्धि के समान ही अनुभूतिजन्य या घ्राण्य—अर्थात् वही अनुभूति की ही वस्तु है। तभी तो कबीरजी कहते है कि—

"जाकै मुंह माथा नहीं, नहीं रूप-कुरूप ।
पुहुप बास तै पातरा ऐसा तत्त अनूप ।।"

और फिर कह उठते हैं—

"भारी कहूं तो बहु डरूं, हरुवा कहूं तौ झूठ।
मैं क्या जानूं राम को, नैना कबहूं न दीठ।।"

जो है ही अनुभूतिजन्य उसे देखा या उसके बारे में कुछ कहा-सुना जा भी कैसे सकता है ? इस प्रकार कबीर की ब्रह्म विषयक रहस्यमय अनुभूतियाँ निश्चय ही समन्वयात्मक है। रहस्यवादी के लिए प्रेम और भावना आवश्यक हुआ करती है, कबीर यह बात भली प्रकार जानते थे। वे यह भी जानते थे कि प्रेम के साथ-साथ भक्ति भी आवश्यक है, इसी कारण उन्होने निर्गुण भक्ति का महत्व प्रतिपादित कर खुले हाथों उसका प्रचार-प्रसार भी किया। भगत और भक्ति का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्होने कहा—

"भगत हजारी कापड़ा, तामैं मल म समाइ।
साकत काली कामरी, भावै तहाँ बिछाइ।।"

भक्ति के लिए हृदय के साथ-साथ आचरण-व्यवहार की पवित्रता भी आवश्यक है। सात्विक आचरण से ही हृदय शुद्ध होकर उस भक्ति का पात्र बन पाता है कि जो अन्तरात्मा में ही परमात्मा की रहस्यानुभूति करा सकती है। वह भी तब, कि जब उस अलख निरंजन की कृपा हो जाती है। उसकी कृपा के बिना आत्म-साक्षात्कार या आत्मा में ब्रह्म साक्षात्कार का प्रश्न ही नही उठता। उसकी कृपा और उसके प्रति पूर्ण प्रेम भाव के उदय के लिए उसके अलौकिक सौन्दर्य के गुणों का परिचय परमावश्यक है। कबीरजी मानते है कि यह परिचय ज्ञान से और पूर्ण ज्ञान पहुंचे हुए गुरु से ही प्राप्त हुआ करता है। उसके गुरु की कृपा आवश्यक है। गुरु ही उसके स्वरूप की पूर्ण अनुभूति कराकर आत्मा-परमात्मा मे भावात्मक ऐक्य की स्थिति तक पहुंचाया करता है। तभी तो कबीरजी ने अपनी साधना-पद्धति में गुरु का महत्व निरूपित करते हुए कहा है—

"सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनन्त दिखावन हार।।"

और जब गुरु-कृपा से 'अनंत दिखावणहार' नेत्र खुल जाता है, तब उस परम प्रिय की झांकी की अनुभूति साधक की समग्र चेतना को विभोर कर देती है—

"कबीर पेख्या एक अंग महिमा कही न जाय।
तेजपुंज पारस धणि नैनूं रहा समाय।।"

इसी अवस्था को रहस्य-साधना मे 'ज्ञान-जागृति' की अवस्था कहा गया है। कबीर की अनेक साखियों में इस अवस्था का जीवन्त चित्रण मिलता है। इसकी विभोरता या तल्लीनता का वर्णन करते हुए कबीर कह उठते है—

"हरि रस पीया जाणिये, जे कबहूं न जाय खुमार।
मैंमन्ता घूमत रहैं, नाहीं तन की सार ॥"

पर रहस्य-साधना में बाधक रूप में कबीर ने माया के अस्तित्व को भी स्वीकारा है। यह अविधा माया अपने प्रभाव मे विभोरता की उस स्थिति को अधिक देर तक नहीं बनी रहने देती। तब प्रिय का विरह रहस्य-साधक की आत्मा को व्याकुल-मोहित करने लगता है। प्रेम रहस्य-साधना का मूल तत्व है, तो विरह सभी प्रकार से आत्मा का परिष्कार करने वाला, हर क्षण प्रिय या ब्रह्म की निकटता की अनुभूति कराए रखने वाला एक विशिष्ट तत्व है। तभी तो विरह एवं तद्जन्य व्याकुलता को बुरा कहने से रोकते हुए कबीर कहते हैं—

"विरहा बुराह जनि कहौ, बिरहा है सुलतान।
जिहि घट बिरहा न संचरे, सो घट सदा मसान ॥"

-विरह सुलतान इसलिए है कि उस क्षण आत्मा की विकल चेतना में जो रागिनी बजती है, उसे वह परम तत्व (प्रिय, ब्रह्म) अवश्य सुनता है—

"सब रग तांति रबाव तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै सांई कै चित्त ॥"

स्पष्टतः कबीर प्रेम-विरह को आत्मा-परमात्मा में मिलन कराने वाला स्वीकार करते हुए कह उठते है—

"विरह कहै कबीर सों तू जिन छांड़े मोहि।
पार ब्रह्म के तेज में तहां लै राखौं तोहि ॥"

ऐसे विरह को कबीर बुरा कैसे कह सकते हैं? उसे तो उन्होंने आत्म का परिष्कारक एवं परमात्मा का सान्निध्य कराने वाला कहा है। उसकी सभी दशाओं का बडा ही मार्मिक एवं रहस्यानुभूति का अंगभूत वर्णन किया है।

प्रेम और विरह की अनुभूति भावना-प्रधान हुआ करती है और दाम्पत्यभाव में ही इसकी चरम परिणति दिखाई देती है। इसी कारण कबीर ने भी अपनी रहस्य-साधना मे दाम्पत्य भाव को ही प्रश्रय दिया एवं अपने (आत्मा) आपको 'राम की बहुरिया' कहकर अभिहित किया है। इसी भाव की आधार भूमि

पर उन्होंने प्रेम-विरह की विभिन्न अवस्थाओं एवं भगिमाओ का वर्णन भी किया है। उसमें मिलन की परिकल्पनाएँ भी आ जाती है। कबीर की यह मान्यता भी है कि रहस्य-साधना में दाम्पत्यभाव ही साधक को नैतिक भी रख सकता है। इसी कारण उन्होने सहज-स्वाभाविक नैतिकताओ का ही उल्लेख यत्र-तत्र किया है, आरोपित नैतिकताओं या वाद-विशेष से संबंधित का नही, कबीर तो यहाँ तक कहते है कि जब नैतिकता का निबाह कठिन या दुर्लभ हो जाए तो अपने आप को सर्वात्म भाव से अपने प्रभु के अर्पित कर दो—

"केवल नाम जपहु रे प्रानी,
परहू एक कै सरना ॥"

भारतीय अध्यात्मदर्शन में इसी को प्रपत्तिवाद कहा गया है। इसके साथ-साथ आत्मशुद्धि एवं ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए कबीर ने नाम-जाप, ध्यान-धारण, भजन-कीर्तन, सत्संग का महत्व भी स्वीकार किया है। नाम-ब्रह्म की उपासना के लिए संगीत को भी आवश्यक बताया है और नाम-स्मरण या 'सुमिरन' का महत्व इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

"तू तूं करता तूं भयो, मुझ में रही न हू।
वारी फेरो बलि गई, जित देखूं तित तूं ॥"

आत्मशुद्धि करके भावातिरेक के क्षणों मे उस परम तत्व की अनुभूति पाने के लिए कबीर ने अजपा जाप, साधना मे उल्टी-चाले अर्थात् बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने की प्रक्रिया, राजभोग आदि कई तत्वो को महत्व दिया है। इन्हें रहस्य-साधना की एक प्रकार से अनिवार्य प्रक्रिया बताया है। पर अन्तरात्मा मे परमात्मा की रहस्यानुभूति के लिए प्रेम-भक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया है। शेष सभी बातों को साध्य तत्व के मान्य साधन या गन्तव्य तक पहुंचने के पथ-आगत उपकरण ही कह सकते है। प्रेमाश्रय से ही कबीर वह भावात्मक स्थिति पा लेते है कि जहा 'ब्रह्म का भावनात्मक साक्षात्कार होकर, एक अचिन्त्य आनन्द की सृष्टि करने लगता है। तब भक्त-भगवान में कोई स्थूल या दृश्य अन्तराल नही रह जाता। आध्यात्मिक शब्दावली में इसी स्थिति को भावमूलक समाधि भी कहा गया है, जिसका वर्णन कबीर ने यो किया है—

"कबीरा हरदी पीड़री चूना उज्जर भाय।
राम सनेही यों मिले दून्हों वरन गमाय ॥"

कबीर तथा अन्य सन्त साधकों ने तर्क-वितर्क से छुटकारा दिला द्रष्टा की मानसिकता तक पहुँचा देने वाली इस अवस्था को 'उन्मनावस्था' भी कहा है। इस अवस्था में उपासक को उपास्य की आन्तरिक अनुभूति (दर्शन) होने पर वह उसके साथ अपने अनेकविध सम्बन्ध स्थापित करने लगता है। इसी दशा में पहुँच कबीर ने आत्मा-परमात्मा के बारे मे कहा है कि—

"हरि मेरा पीव मै राम की बहुरिया।"

नारद भक्ति-सूत्र में इस अवस्था को कान्ता भावावस्था भी कहा गया है जो कबीर के दाम्पत्य भाव को ही दर्शाती और प्रेम-माधुर्य की चरम परिणति का कारण है। इससे अगली अवस्था मिलन की है कि जिसमें पहुंच अन्दर-बाहर के सभी स्थूल-सूक्ष्म भेद-भाव स्वतः ही समाप्त हो जाते है। मन मे विविध कोमल कान्त एवं माधुर्य संयत अनुभूतियाँ अंगड़ाने लगती है। इस अवस्था का आभास पाकर साधिका आत्मा की जो दशा हो जाया करती है, वह नव-विवाहिता के पिय से प्रथम मिलन-क्षण के समय ही उद्भूत अनुभूति प्रवण हुआ करती है। कबीर की साधना में से इस प्रकार की सहजानुभूतियों को साकार करने वाला एक उदाहरण देखें—

"थरहर कपै बाला जीउ,
ना जानेऊ किया करसी पीउ।
रैनि गई मति दिन भी जात,
भंवर गए बन बैठे आय ॥"

इस स्थिति में मन के सारे द्वैत-द्विधाभाव जाते रहते है। यहाँ तक कि साधक साध्य के भाव भी नही रह जाता। दोनों एक-दूसरे मे समाकर द्वैत की सीमा पार कर अद्वैतत्व प्राप्त कर लेते है—

"कबीर मन निरमल भया, जैसे गंगा नीर।
तब पाछै लागा हरि फिरै, कहत कबीर-कबीर ॥"

और फिर वह घड़ी आ ही जाती है जब रहस्य की अनवरत साधना में निरत साधक की आत्मा 'मिलन' का सहज आभास पा लेती है। फिर विचार का रूपक बांधकर कबीर की साधक आस्था अपनी इन्द्रियरूपी दुल्हिनों को सम्बोधित करती कह उठती है—

✓ "दुलहिन गावहु मंगलचार।
हम घरि आयो हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मै मन रति करहूं पंच तत्व बराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आए मैं जोबन मदमाती॥
सरीर सरोवर वेदी करिहू ब्रह्म वेद उचार।
रामदेव संगि भांवरि लैहूं धनि-धनि भाग हमार॥
सुर तैतिस कोटिक आये मुनिया सहस्र अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले पुरुष एक अविनासी॥"

और फिर मिलन-क्षण की अनुभूति को लक्षित कर कबीर कहते हैं एक सुहागिन की ही अनुभूति और भाषा मे—

"अंक भरे भर भेटिया, मन में नाहीं धीर।"

अधीरता की सारी स्थिति अपने प्रिय का एकान्त दर्शन कर उसी मे विलीन हो, एकत्व की चिरन्तन भावना से भर कर तादात्म्य की गहनता मे जैसे मौन वाणी में गुहारने लगती है—

✓ "लाली मेरे लाल की जित देखू तित लाल।
लाली खोजन मैं गई मै भी हो गई लाल॥"

लाली खोजते-खोजते आप भी लाल हो जाना ही रहस्य-साधना की चरम परिणति या अद्वैत की अन्तिम अवस्था है, जहां पहुंच आनन्द के सिवाए और कुछ भी शेष नही रह जाता। (आनन्द की उस अनिर्वचनीय स्थिति में रहस्य साधना ही चरमावस्था या चरम परिणति है।) इसी को तादात्म्य की स्थिति भी कहा जाता है) साध्य-साधक का सारा अन्तर छंट जाता है, बर्फ विगलित होकर जल में समा जाता है। अंश-अंशी या अंग-अंगी आदि के सभी भेद-प्रभेद ओझल हो जाते है। आनन्द की तीव्रतम होती अनुभूति अन्त में साधक का मौन—अर्थात् आत्मा की परमात्मा मे समाहिती बनकर उजागर हुआ करती है। पर साधक उस मिलन (दर्शन या साक्षात्कार) क्षण की अनुभूति को शब्दाकार दे पाने में अपने को असमर्थ पाया करता है। कबीर के शब्दों मे—

"ज्यों जल जलहि समाना, त्यों हरि मिल्या जुलाहा।"

या फिर—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी॥"

और तव सारे वाद-विवाद भी स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं—

"जे थे सचल अचल ह्वै थाके चूके बाद विवादा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया भया राम परसादा॥"

इस प्रकार कबीर की भावनात्मक रहस्य-साधना की यात्रा पूर्ण होती है। रहस्य-साधक को जिन-जिन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है, कबीर की वाणी में उन सबका वर्णन व्यौरा एवं क्रमिक विकास देखा जा सकता है।

रहस्यवाद के दो रूप हम आरम्भ में कह आए है। ऊपर जिस रूप को चितारा गया है, वह मुख्यत भावनात्मक रहस्यवाद ही कहा जाएगा। कबीर की वाणी में साधनात्मक रहस्यवाद की चेतना के भी समन्वित दर्शन होते हैं। साधनात्मक रहस्यवाद भी मुख्यतः एवं मूलतः आत्मा द्वारा ब्रह्म की अनुभूति यानी की एक प्रकार की यौगिक प्रक्रिया का नाम है। इस कारण कुछ लोग इस दूसरे प्रकार के रहस्यवाद को यौगिक रहस्यवाद भी कहकर अभिहित करते है। वैदिक संहिताओं, उपनिषदों और पुराणों में भी इस प्रकार की रहस्य-साधना के संकेत और वर्णन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते है। महर्षि पतंजलि ने क्योंकि इसकी व्यवस्थित प्रतिष्ठापना की है, इस कारण कई लोग इसे पातंजल योग-दर्शन के नाम से भी अभिहित किया करते है। इस आस्तिक योग दर्शन का वर्ण्य-विषय मुख्यतः नाद या शब्द ब्रह्म की व्याख्या एवं साक्षात्कार को बनाया गया है। इसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि आदि अष्ट अंगों का विशेष महत्व स्वीकारा गया है। अन्तिम अंग समाधि की अवस्था को ही ब्रह्मानुभूति की अवस्था कहा या माना जाता है। इस प्रकार की योग-साधना का लक्ष्य ब्रह्मादि मे पिण्ड और पिण्ड में ब्रह्माण्ड की अनुभूति पाना है जो वास्तव में अत्यधिक रहस्यमय प्रक्रिया है। इसके लिए भारतीय साधना में उल्टी चाल अर्थात् बाह्य वृत्तियों को अन्तर्मुखी वृत्तियों मे पलटना और पाश्चात्य प्रक्रिया में अन्तर्दृष्टि की एकता की प्रक्रिया कहा जाता है। कबीर की रहस्य साधना में इस यौगिक या साधनात्मक रहस्य साधना के भी अनेकशः दर्शन होते है। इस स्थिति में विचित्र शब्दों, रूपों और दृश्यों की अनुभूति में से साधक को गुजरना पड़ता है। कबीर की वाणी में इस प्रकार के दृश्यों एवं ध्वनियों के कई-कई उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। कहीं उन्हें गगन घंटा गहराता सुन पड़ता है और कही अनहद नाद की ध्वनि मुखरित होती सुनाई देती है। इसी प्रकार उन्हें विचित्र दृश्य दिखाई भी देते

हैं और वह षड चक्रों का रहस्यात्मक वर्णन भी करते हैं। इस प्रकार के वर्णनों मे योग-भक्ति के मिश्रण के साथ-साथ रहस्यात्मक संकेतों का स्वरूप भी उन्होंने पर्याप्त उकेरा है। परिणामतः उनका साधनात्मक रहस्यवाद भी विशुद्ध साधनात्मक या यौगिक न रहकर भावनात्मकता से समन्वित हो गया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"मन के मोहन बीठुला यम मन लागो तेहि रे।
चरन कमल मन मानिया और न भावे मोहि रे॥
षट् दल कमल निवासिया चहुं कौ फेरि मिलाय रे॥"

कबीर की रहस्य-साधना मे रहस्यात्मक पारिभाषिक शब्दो का विशेष महत्व स्वीकारा जाता है। जहां पारिभाषिक शब्दो पर कबीर ने अधिक बल दिया है, वहाँ के वर्णनों मे निश्चय ही शुष्कता एवं नीरसता का समावेश हो गया है। जहां वह रूपकों आदि का प्रयोग करते हैं, वहां काफी कुछ नीरसता-शुष्कता का परिहार होकर सरसता का समावेश हो गया है। इस प्रकार समन्वित रहस्य-चेतना का पोषक एक उदाहरण देखें—

"इला पिंगला भाटी कीन्ही ब्रह्म अगिनि परजारी।
ससि हर सूर द्वार दस मूंदे लागी जोग जुग तारी॥
मन मतवाला पीवै राम रस दूजा कछु न सुहाई।
उल्टी जग नीर वहि आया अमृतधार चुवाई॥
पच जने सो संग करि लीन्हें चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियाले पीवन लागे सोवित नगिनि जागी॥"
..................इत्यादि।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि रहस्य-साधना की जितनी भी स्थितियां, अवस्थाएं एवं स्वरूप मिलते है, वे सब कबीर काव्य मे सहज ही खोजे-देखे जा सकते है। भारतीय रहस्य-साधना-प्रक्रिया की सारी मान्यताओं और विशेषताओं के दर्शन तो होते ही है, उनकी कुछ मौलिक विशेषताएं भी विद्वानों ने रेखांकित की है। सबसे पहली मौलिकता है कि कबीर ने अपने को किसी वाद-विशेष के साथ सम्बद्ध नही रखा, बल्कि समूची धारणाओं को समेटने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। अतः इनकी रहस्य-साधना का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत एवं व्यापक होकर सामने आया है। दूसरी यह विशेषता रेखांकित की जाती है कि कबीर कोरे रहस्यवादी न होकर एक सफल

विचारक, सुधारक, उपदेशक एवं गृहस्थ भी थे, अतः उनमें प्रवृत्यात्मकता का समावेश स्वतः ही हो गया है। परिणामस्वरूप शुष्कता, नीरसता, दुरुहता आदि का समाहार भी स्वतः ही हो गया है। तीसरे उनके द्वारा अपनाए प्रतीकादि उपकरण पूर्णतया अपने आस-पास से लिए गए, परिचित होते हुए भी ताजा प्रतीत होने वाले है। उनमें सरसता का समावेश भी हो गया है। सरसता का समावेश करने वाली उनकी रहस्य-साधना की चौथी और विशेष उल्लेख्य विशेषता है प्रेम-तत्व का दाम्पत्य भाव में अधिग्रहण। ऐसा करके वे प्रेम को या उसकी प्रक्रियाओं को जोगियों की तरह अश्लील नही बनने देते, बल्कि समग्र श्लीलता की रक्षा कर पाने में समर्थ होते है। प्रेम तत्व का समन्वय समग्रतः वर्ण्य-विषय को रोचक एवं ग्राह्य बना देता है। एक वास्तविक एवं तरलायित आनन्द की भी सृष्टि कर देता है। प्रेम रस की मादकता को व्यंजित करने वाला पद अवलोकनीय है—

"छकि पर्यौ आतम मतिवारा,
पीवत राम रस करत विचारा।
बहुत मोलि महगै गुण पावा, ले कसाव रस राम चुवावा ॥
तन पाटन में कीन्ह पसारा, मांगि मांगि रस पीवै विचारा।
कहै कबीर प्याली मतिवारी, पीवत राम रस लगी खुमारी ॥"

अद्वैत भावना या एकात्मकता की अनुभूति कबीर की रहस्य-साधना की अगली विशेपता कही गई है। द्वैत भावना का वह खण्डन करते है। वह इसलिए कि उसके रहते एकात्मभाव सम्भव ही नही। सत्य के दर्शन भी द्वैत की स्थिति में साधक नही कर पाता। कबीर ने मानसिक विकास का या मन के उन्नयन का कारण पूर्व एवं इस जन्म के कर्मो को माना है। यह मान्यता भी उनकी अविकल निजी विशेपता कही जाती है। कर्म के बल और फलस्वरूप ही रहस्य-साधक अपने साध्य से तादात्म्य कर पाता है, ऐसी कबीर की दृढ मान्यता है। इसी प्रकार डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने आध्यात्मिक सक्रियता को भी कबीर के रहस्यवाद की एक मौलिक विशेषता कहकर रेखांकित किया है। उनके मतानुसार सती और सूर की रूपकात्मक योजना द्वारा कबीर ने यही विशेषता व्यंजित की है।

इस प्रकार उपरोक्त समूचे विवेचन-विश्लेषण के निष्कर्ष स्वरूप हम कबीर को एक प्रमुख एवं सफल भारतीय रहस्य-साधक कह सकते है। उनकी चेतना

तरह ही स्वयम्भुव एवं परिव्याप्त तत्व है। इसी कारण सभी प्रकार की भक्ति-योग में भी उसका अस्तित्व असंदिग्ध रूप मे स्वीकार किया जाता है।

सन्त-साधना के मूल मे भी नीव के समान प्रेम-तत्व का व्यापक अस्तित्व विद्यमान है, सभी सन्तों ने इस वात को मुक्त भाव से स्वीकार किया है। सन्त-साधना एवं काव्य मे परिव्याप्त प्रेम-तत्व का मूल उत्स कौन-सा है, यह विवाद का विषय हो सकता है, पर इस सत्य को कनई नकारा या झुठलाया नही जा सकता कि सभी सन्त कवि और साधक अपनी भावगत मूल अवधारणा में भक्ति के मार्ग को प्रेम का मार्ग ही मानते है। उनकी मान्यता है कि इस मार्ग पर चल पाना सहज नही, वल्कि खाण्डे की धार पर चलने के समान ही अत्यन्त कठिन है। इसी वस्तु सत्य की ओर स्पष्ट इंगित करते हुए सन्त प्रवर कबीर ने स्पष्ट कहा है—

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुई धरे ? तब पैठै घर माहिं॥"

मीरां ने भी प्रेम के मार्ग को 'सूली ऊपर सेज पिया की' कहा है। यहां तक पहुचने के लिए सीस उतारकर भूमि पर रखना पड़ता है—अर्थात् सभी प्रकार के स्वार्थों, अहं भावों का त्याग कर आत्म-वलिदान का मार्ग अपनाना पडता है। तव कही जाकर इस प्रेम के क्षेत्र मे प्रवेश सम्भव हो पाता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि निर्गुणवादी सन्तमत एवं कबीर ने प्रेम-तत्व सूफी-साधकों-कवियों से अधिगृहीत किया है। पर यह विचार ठीक नही। चूंकि साधना की प्रक्रिया भारत में आरम्भ होने से पहले भी यहां के भक्ति-सम्बन्धी सैद्धान्तिक ग्रंथों में प्रेम-तत्व का व्यापक वर्णन मिलता है, मधुरा-भक्ति या प्रेमा-भक्ति अथवा कान्ता भाव की भक्ति आदि की समस्त अवधारणाएं वस्तुतः प्रेम-तत्व पर ही आधृत है। श्रीमद्‌भागवत् तक में प्रेम की अनन्यता का व्यापक वर्णन मिलता है। कबीर का आगमन सन्त नामदेव के वाद हुआ। सन्त नामदेव ने भी अपनी साधना और भक्ति-काव्य में प्रेम का महत्व यथेष्ट प्रतिपादित किया है। कबीर की प्रेम-भावना वस्तुतः सन्त नामदेव की प्रेम-भावना की अनन्यता पर ही आधारित है। अनन्य प्रेम साधना को कबीर आदि सन्तों ने न केवल भक्ति के लिए आवश्यक वताया है, वल्कि उसे सर्वाधिक महत्व भी प्रदान किया है। कबीर ने अपनी वाणी मे मधुरा या प्रेमा-भक्ति के अनन्य भक्त एवं 'गीत गोविन्द' जैसी सरल काव्य रचना करने

वाले कवि जयदेव का भी अपनी रचनाओं में कई बार उल्लेख किया है। लगता है, कबीर की प्रेम-भावना जयदेव की मधुरा-भावना से भी अनेकशः प्रभावित हुई है। उनकी वाणी और व्यक्तित्व काफी-कुछ अक्खड़ होते हुए भी इसी कारण शुष्क एवं नीरस नही हो पाते कि उनके पास भक्ति की माधुर्य भावना और प्रेम-तत्व भरपूर मात्रा मे विद्यमान है। इस प्रेम के अतिरेक मे ही अपने प्रिय के प्रति पूर्ण या सर्वात्मभाव से समर्पित हो वे कह उठते है—

**"कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।**
**गलै राम की जेवड़ी, जित खैचे तित जाऊं॥"**

यह आत्मविश्वास और समर्पित प्रेम-भाव ही अनेकशः उन्हें अक्खड़ बना दिया करता है। उनके हृदय में ब्रह्म एवं सत्य के प्रति प्रेम का अनन्य भाव सदा विद्यमान रहता है। वे सारी दुनिया को अपने समान ही अनन्य प्रेमी देखना चाहते है अतः ऐसे व्यक्तियों को खोजते फिरते है, जो इस राह पर उनका साथ दे सकें। इसी रौ में वह कह जाते हैं—

**"प्रेमी ढूण्ढत में फिरूं, प्रेमी मिलै न कोइ।**
**प्रेमी को प्रेमी मिलै तब सब विष अमृत होइ॥"**

पर प्रेम के कारण यह विष तभी अमृत हो सकता है, जब उसमें अनन्यता हो। दुई या द्वैत का भाव कतई न रह जाए। उनके अनुसार प्रेम-पथ मे दो का समाव सम्भव ही नही। दुई या द्वैत के अभाव का अर्थ है अहम्भाव का विसर्जन। प्रिय के सान्निध्य के लिए अहम् विसर्जन नितान्त आवश्यक है—

**"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।**
**प्रेम-गली अति सांकरी, ता मैं दो न समाहिं॥"**

कबीर ने अनेकशः यह मान्यता व्यक्त की है कि तत्व रूप ब्रह्म यदि कभी कही साकार भी होता है; तो महज सूक्ष्म 'प्रेम-रूप' में ही हुआ करता है। अन्यथा वह तो ऐसा है कि—

**"जाकै मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।**
**पुहुप वास तैं पातरा, ऐसा तत अनूप॥"**

इस प्रकार की भावनाएं निश्चय ही कबीर ने इस्लाम के सूफीवाद या कही अन्यत्र से अधिगृहीत नही की है, बल्कि विशुद्ध भारतीयता या वैदिक तत्व की देन ही कही जा सकती हैं। उसे परम्परागत वैष्णव धारणा के अनुकूल भी कहा जा सकता है। अध्यात्म-साधना के तत्व रूप में तो कबीर ने प्रेम को अपनाया

ही है, उनकी सामाजिक-व्यावहारिक धारणाओं एवं भावनाओं को भी मूलतः हम प्रेम-प्रभावित स्वीकार कर सकते है। जिस ऐक्य भाव या भावनात्मक एकता का प्रतिपादन कबीर अपनी समाज-साधना मे करते है, वह वस्तुतः मानव-मानव का अन्तः-प्रेम भाव ही तो है। उसी की व्यापकता वे आवश्यक स्वीकारते है।

मध्यकालीन भारतीय भक्ति एवं रहस्य-साधना के क्षेत्र मे एक निरंजनी सम्प्रदाय का उल्लेख भी मिलता है। इस सम्प्रदाय के साधक सन्त प्रेम और विरह-भाव को साधना के क्षेत्र में बहुत अधिक महत्व देते है। निरंजनी सम्प्रदाय वालों का कथन है कि प्रेम-भाव का सभी प्रकार की अध्यात्म साधना मे प्राणवत् संचार रहना चाहिए। कबीर का प्रेम-भाव स्यात् काफी कुछ इस सम्प्रदाय से भी प्रभावित है। कबीर ने गुरु से प्रेम का अंक पढ़ ('गुरु ने प्रेम का अंक पढ़ाय दिया') कर उसे पूर्णतया आत्मसात् कर लिया है। उनकी धारणा है कि प्रेम का गुरु-प्रदत्त यह अंक ही आत्मा को परमात्मा से साक्षात्कार कराने वाला है। तभी तो प्रेम-विरह को बादलवत् बास कर साधक की आत्मा को सराबोर कर देने वाला कहते हैं। निरंजनियों की ध्वनि-लय पर ही कबीर कहते है—

"सतगुरु हम सूं रीझि करि, कह्या एक प्रसंग।
बराया बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥"

अंग भीजने की यह स्थिति वस्तुतः प्रेम में तल्लीनता की स्थिति कही जा सकती है। इसी को प्रचलित शब्दावली में अनन्दता भी कहा गया है। हम ऊपर कह आए है कि कुछ विद्वान सन्त मत या कबीर के प्रेम-तत्व को सूफीवाद की देन मानते है। पर यह बात पूर्णतः नही अंशतः ही तथ्यपूर्ण स्वीकारी जा सकती है। बात केवल इतनी ही है कि कबीर भक्ति या साधना के मार्ग में प्रेम-विरह का महत्व सूफियों के समय ही स्वीकार करते हैं। पर कबीर की प्रेम-साधना की प्रक्रिया निश्चय ही सूफियों से नितान्त नही, तो काफी-कुछ भिन्न है। सूफियो ने जहां प्रेम-साधना मे 'शुर्ब-ओ-शब्र' की चर्चा की है, कबीर वहां उसके स्थान पर 'राम-नाम-रसायन' की चर्चा करते हुए कहते है—

"राम रसायन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवणा दुर्लभ है, मांगे सीस कलाल॥"

कलाल सीस मांगता है प्रेम-रस का पान कराने के लिए। अर्थात् अहं त्याग

एवं सर्वसमर्पण की आवश्यकता है। पर जब इस प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति होकर 'राम रसायन' रूपी 'प्रेम-रस' की प्राप्ति हो जाती है, तब फिर अन्य सभी रस स्वतः ही महत्वहीन हो जाया करने है। उस स्थिति का द्योतन करते हुए कबीर कहते है—

"राम रस पाइया बिसर गए रस और।"

कबीर सूफियों के समय ही प्रेम का स्वरूप अत्यन्त सात्विक स्वीकार करते हैं। वे यह भी मानते है कि सत्य स्वरूप प्रेम की प्राप्ति सात्विक हृदय को ही सम्भव हुआ करती है। तभी तो वे 'सीस उतार कर भुई पर धरते' की बात भी कहते है। सूफियों के समय ही कबीर प्रेमविहीन जीवन को व्यर्थ बताते हुए कहते है—

**"जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस पुनि रखना नहिं नाम।**
**तै नर इस संसार में उपजि भए बेकाम ॥"**

एक जगह तो कबीर ने प्रेम-विहित हृदय को मसानवत (श्मशान के समान) भी कहा है। सूफियों की प्रेमानुभूति की चरम परिणति भी एक अन्य रूप में कबीर की वाणी में देखी जा सकती है। सूफी साधना में ब्रह्म (प्रिय या आराध्य) को 'माशूक' और आत्मा (प्रेमी या आराधक) को आशिक स्वीकारा गया है, पर कबीर में यह परिणति हमे दाम्पत्य भाव में दीख पड़ती है। अर्थात् कबीर की आत्मा (साधक या प्रेमी) का रूप पत्नी या प्रेमिका का है और परमात्मा (साध्य या प्रिय) का रूप पति का है। इसी दाम्पत्य भाव से अनुप्राणित होकर ही कबीर ने कहा था—"मैं राम की बहुरिया।" वे कहते है—

"हरि मेरा पीव भाइ हरि मेरा पीव,
हरि बिनु रहि न सके मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,
राम बड़े मै छुटक लहुरिया।
......................इत्यादि ॥"

कबीर के रहस्यवाद का मूलाधार यह प्रेम या दाम्पत्य भाव ही है। कबीर ने प्रेम की पूर्णता के लिए भगवान् की कृपा, सचित एव किए जा रहे कर्मो, भाग्य आदि के साथ-साथ प्रिय या साध्य के दिव्य गुणो, अलौकिक सौन्दर्य एवं परम सत्ता का ज्ञान भी आवश्यक माना है। क्योंकि प्रिय या साध्य का यह सर्वगुण-सम्पन्न या सर्वांगपूर्ण सौन्दर्य ही साधक की आत्म-चेतना को तल्लीन

कर भावात्मक तादात्म्य के योग्य बनाया करता है। इस स्थिति तक गुरु-कृपा एवं गुरु-प्रदत्त प्रेम-अंक के द्वारा ही पहुंच पाना सम्भव हुआ करता है। गुरु-प्रदत्त ज्ञान एवं प्रेम-अंक के भाव से भरकर जब साधक की आत्मा आलोकित हो जाती है, तभी उस अलौकिक सौन्दर्य की विभोर कर देने वाली अनुभूति का जन्म हुआ करता है, जिसके बारे में कबीर कहते हैं—

"कबीर पेख्या एक अग महिमा कही न जाए।
तेज पुंज पारसमणी नैना रही समाय ॥"

नैनों में समा रही इस ज्योति का अस्तित्वाभास करने के लिए ही प्रेमी साधक सामान्य मार्ग त्यागकर रहस्य-साधना के मार्ग पर चलने लगता है और तब उसे अनेक कठिन स्थितियों-परिस्थितियों एवं अवस्था में ही गुजरने के लिए बाध्य होना पड़ता है। प्रेम-साधना बाह्य न रहकर एक प्रकार की अन्तरग-साधना का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। आत्मा तेज-पुंज की ज्योति का आभास पा उसके प्रेम में दीवानी हो उठती है। पर उस दीवानगी का सीधा सम्बन्ध भी प्रिय के साथ रहने के कारण एक प्रकार के अकथनीय आनन्द की तरलायित अनुभूति सदा बनी रहती है। उस समय की अवस्था वाले प्रेमी की पहचान बताते हुए कबीर कहते हैं—

"हरि रस पीया जांणिये, जो कबहू न जाय खुमार।
मैमंता घूमत रहैं, नाहीं तन की सार ॥"

पर जैसे ही माया के कारण यह खुमारी टूटती है, तो प्रेमी या साधक का मन प्रिय-विरह में तड़प उठता है। पर कबीर प्रेमजन्य विरह को बुरा नहीं मानते। वे तो विरह को 'सुलतान' कहते हैं—

"बिरहा बुरहा मति कहौ, बिरहा है सुलतान।
जिहि घट बिरह न सचरै, सो घट सदा मसान ॥"

मसान निर्जीवता का प्रतीक है, जबकि प्रेम-मार्ग में निर्जीवता के लिए कोई स्थान नहीं। 'विरह' 'सुलतान' इसलिए है कि वह आत्मा को परिष्कृत करके हमेशा सजग-सजीव एवं प्रिय के निकट रखता, उसी की ध्यान-धारणा में विलीन किए रहता है। कबीर की दृष्टि में यद्यपि यह ठीक है कि—

"चकई बिछुरी रैनि की, आइ मिले परभाति।
जै नर बिछुरे राम सौं, ते दिन मिले न राति।"

फिर भी विरह की अपनी विशेषता है। वह प्रेमी को प्रिय में ही तल्लीन

रखता है। उसका रोम-रोम रबाब-सा तनकर प्रिय की रटन में अनवरत बजता रहता है और उसकी आवाज प्रिय तक अवश्य पहुंचती है, कबीर का यह दृढ विश्वास है—

"सब रग तांति रबाब तन, विरहा बजावै नित।
और न कोइ सुनि सकै, कै सांई कै चित्त॥"

इतना ही नही कबीर का प्रेम विरही मन 'विरह' महाराज से कई प्रकार के आश्वासन भी पाने लगता है। उससे प्रिय-साधना में अनवरत संलग्न रहने की अन्तःप्रेरणा भी प्राप्त करने लगता है। इससे भी बढ़कर परब्रह्म से साक्षात्कार के आश्वासन तक प्राप्त कर लेता है—

"विरह कहै कबीर सों तू जिन छांड़ै मोहि।
पार ब्रह्म के तेज में तहां ले राखों तोहि॥"

प्रेम-साधक कबीर की विरही आत्मा यथास्थान विरह की चिन्ता, उद्वेग, जागरण, कृशता आदि सभी अवस्थाओं का वर्णन करती जाती है। इन अवस्थाओं के वर्णन मे भी कही-कही सूफी-प्रभाव अवश्य परिलक्षित होने लगता है। तुलना के लिए पहले प्रमुख सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' का एक उद्धरण देखे—

"या तन जारौ छार कै कहौ कि पवन-उड़ाव।
मकु तहि मारग उड़ि पड़ों कन्त धरै जहं पाव॥"

इसी से मिलता-जुलता या इसी भाव-भूमि पर अधिष्ठित कबीर का भी एक पद्य प्रस्तुत है—

"यहु तन जालौं मसि करौं ज्यों धुंआ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि॥"

इस प्रकार कबीर का प्रेम-भाव विरह की अनेकविध सहज, सरल एवं स्वाभाविक अनुभूतियो से परिचालित होता हुआ साधना के पथ पर अनवरत अग्रसर होता जाता है। अनेकविध भाव-सरणियां उस अनन्त-अनन्य धारा में समाहित हो कबीर के व्यक्तित्व का निजत्व प्रदान करती जाती है। यह भी पूर्वकथित तथ्य है कि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य भाव मे ही समग्रतः दिखाई देती है और कबीर ने इसी भाव को ही अपनी समूची साधना मे प्रमुखतः अपनाया है। प्रिय-प्रिया के विरह भाव पर आश्रित होने के कारण ही कबीर की इस प्रकार की उक्तियाँ रहस्यवाद की सीमा का संस्पर्श कर उसका अन्तः-

. प्रेम और विरह-वर्णन

...हन भी करने लगती है। तब कबीर कभी तो विरहजन्य परिस्थितियों का और कभी उसके दाहो का वर्णन करने लगते है, कभी प्रिय-लोक के माधुर्य का उल्लेख करते एवं कभी मिलन की विभोरता का दिग्दर्शन करने लगते है। तव कई वार उनकी वाणी इस प्रकार से स्वरित होने लगती है—

**"तूं तूं करता तू भया मुझ में रही न हूं।**
**वारी फेरी वलि गई जित देखों तित तूं ॥"**

पर इस स्थिति तक पहुंचने के लिए साधक की आत्मा को कई प्रकार की विपम परिस्थितियों मे से गुजरना पड़ता है। तन के अन्तः वाह्य अंग-प्रत्यंग को प्रेम-विरह की कसौटी पर कसना-कसाना पड़ता है। न जाने प्रिय-मिलन की साध लेकर कहां-कहां की खाक छानने की वाध्यता ढोनी पड़ती है—

**"परवति परवति मैं घिरा, नैन गंवाया रोइ।**
**सो बूटी पाऊं नहीं, जाते जीवन होइ॥"**

तव नयन जीभ और जीभ नयन बनकर प्रिय-मिलन के लिए व्याकुल हो एक मुखर गुहार बन जाती है—

**"नैनां नीझर लाइया, रहट वहै निस यामं।**
**पपिहा ज्यों पिउ पिउ करौं, कबरे मिलहुगे राम॥"**

पर धीरे-धीरे प्रेम-साधना रंग लाने लगती है। विरह का ताप प्रिय तक पहुंच उसकी प्रस्तरता को भी पिघलाने लगता है। विरहणी आत्मा को प्रिय मिलन का पूर्वाभास-सा होने लगता है। भावनात्मक मिलन की-सी स्थिति आ उपस्थित होती है। वह इस कारण कि साधक आत्मा स्यात् अपना चरम निर्णय प्रिय के समान निवेदित कर देती है—

**"जैते तारे रैनि के, तेती वारी मुज्झ।**
**धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न विसारों तुज्झ॥"**

साधक आत्मा का यह उद्घोप स्यात् साध्य को विगलित कर देता है। साधक को अपने प्रेम का भी आभास करा देता है (क्योंकि प्रेम हमेशा द्विपक्षीय ही हुआ करता है।) तव सहसा मिलन-पूर्व की अनुभूति जागृत होकर प्रेम-विरहिणी आत्मा को भी एक अनिर्ववनीय चेतना से, अहसास से भर देती है—

"थरहर कपै वाला जीउ, ना जानउ किया करसी पीव।"

और मिलन-पूर्व की इन अवस्थाओं को भी पार करती हुई ...

आत्मा अपनी अनन्य प्रेम-साधना के वल पर साध्य की अनुभूति से भर कर चारों ओर उसी का आभास पाने लगती है—

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली खोजन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥"

कबीर की प्रेम-साधना क्योंकि सम्पूर्णतः और समग्रत: दाम्पत्य-भाव पर ही आश्रित है, अतः मिलन की उस सुखदावस्था का विवाह-रूपक बाँधकर वे विभोर भाव से गाने लगते है—

"बहुत दिनन थे प्रीतम पाए।
भाग बड़े घर बैठे आए ॥

मंगलाचार मांहि मन रांखो, राम-रसायण रसना चाखो।
मंदिर मांहि भया उजियारा, लै सूती अपना पिव पियारा ॥
मै रनिदासी जे विधि पाई, हमहिं कहा वह तुमहिं बड़ाई ॥
कहै कबीर मै कछु नहिं कीन्हाँ, सखी सो हमार रांम मोहि दीन्हा ॥"

और इस प्रकार कबीर की प्रेम-साधना पूर्ण हो जाती है। इसी प्रेम का उपदेश वे जीव मात्र को देते है। इसी कारण उनके प्रेम-भाव को जीव मात्र को सरसित करने वाला कहा गया है। एकत्व, अनन्यत्व एवं विशुद्ध दाम्पत्य-भावाश्रित पावन-प्रेम ही कबीर का वैशिष्ट्य है। दूसरे शब्दो मे, हम कबीर की प्रेम-साधना को आत्मा द्वारा परमात्मा की साधना भी कह सकते हैं। वह साधना अनेक प्रकार से प्रभावित होते हुए भी कबीर के निजत्व की निश्चय ही अनन्य परिचायक और इसलिए वरेण्य भी है।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—कबीर की प्रेम-भावना का स्वरूप समझाते हुए उसकी विशेषताएं सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न २—"कबीर मूलतः प्रेम के गायक हैं। उनका ईश्वर-प्रेम जीव मात्र के प्रेम से सरसित है।" इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

प्रश्न ३—सन्त काव्य में वर्णित प्रेम-सम्बन्धी धारणाओं को स्पष्ट करते हुए, कबीर के विचारों एवं महत्व का युक्तियुक्त प्रतिपादन कीजिए।

---

# ७. कबीर : ब्रह्म का स्वरूप

अपनी वाणी के सन्दर्भ मे स्वयं कबीर ने एक स्थान पर कहा है कि—

"तुम्ह जिनि जानों गीत है, यहु निज ब्रह्म-विचार।
केवल कहि समुझाइया आतम-साधन-सार रे ॥"

अर्थात् मेरे गीत साधारण गीत न होकर ब्रह्म-विचार एवं आत्म-साधना का सार प्रस्तुत करने वाले है। इससे यह धारणा समाप्त हो जानी चाहिए कि कबीर का कोई विशिष्ट दर्शन, सिद्धान्त या ब्रह्म सम्बन्धी विचार नही है और वे "कभी तो अद्वैतवाद की ओर झुकते दिखाई देते है और कभी एकेश्वरवाद की ओर, कभी वे पौराणिक सगुण भाव से भगवान को पुकारते है और कभी निर्गुण भाव से—असल में उनका कोई स्थिर तात्विक सिद्धांत नही है। इस प्रकार के कथन और फतवे उस समय महत्वहीन होकर रह जाते है, जब हम कबीर-वाणी की गहराई मे उतर उनका अध्ययन एवं मनन करते है। वास्तव मे सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक धरातल पर उनका तत्व चिन्तन अत्यन्त गम्भीर, स्पष्ट एवं प्रभावी है। उन्होने अपने आराध्य ब्रह्म, जीव, जगत् एवं माया आदि के प्रति अपनी वाणी मे स्थान-स्थान पर अत्यन्त स्पष्ट विचार व्यंजित किए है। उनके अध्ययन पर उनके ब्रह्मवाद या उनके आराध्य का स्वरूप एकदम स्पष्ट हो जाता है।

ब्रह्म-चिन्तन वस्तुतः अध्यात्मवाद का विषय है। अध्यात्मवाद कोरे तर्क-वितर्क पर नहीं बल्कि अनुभूतियों पर टिका हुआ है। कबीर भी भक्ति एवं अनुभूतिजन्य आवेश में अनेकश ब्रह्म-तत्व पर विचार करने लगते है। अनुभूति-जन्य वैचारिक आवेश में जब उन्हे ब्रह्म का अनुभव होने लगता है तो स्वतः ही वे कह उठते है—

"राम रतन पाया रे, करत विचारा।"

और विचार मे उन्हे जिस राम-रतन या ब्रह्म-स्वरूप की अनुभूति होती है, वह "नैना-वैना अगोचर" ही होता है। नयन-वाणी से उस अगोचर उस परम तत्व की अनुभूति तर्क-वितर्क से नही हो सकती, कबीर इस तथ्य से भी भली-भांति परिचित थे। तभी तो कहते है—

"कहै कबीर तरक दुई साधे, तिनकी मति है मोटी ॥"

तर्क से नही मात्र आत्मा की अनुभूतियों से ही उसे देखा या पाया जाता है। क्योंकि वह निर्गुण, निराकर, अजन्मा, निर्विकल्प, अविगत, अचिन्त्य एवं स्थूल इन्द्रियों की सीमा से अर्वथा अलक्षित है। अतः वे अवतारवाद की पौराणिक मान्यताओं का उल्लेख करते हुए अन्त मे कह देते है कि मेरा राम या ब्रह्म इनमें से कोई नही, बल्कि इन सबसे परे है। उनका अपना कथन द्रष्टव्य है—

"ना जसरथ घरि औतरि आवा। नां लंका का राव सतावा।।
दैवै कोखि न औतरि आवा । ना जसवै ले गोद खेलावा ।।
ना वो ग्वालन के संगि फिरिया। गौवरधन लै ना कर धरिया ।।
बावन होइ नहीं बलि छलिया। धरनी बेद लै न उघरिया ।।
गंडक सालिगराम न कौला । मच्छ-कच्छ होइ जलहि न डोला ।।
बद्री बैसि ध्यान नहि लावा। परसुराम ह्वै खत्री न सतावा ।।
द्वारावती सरीर न छांड़ा । जगन्नाथ लै पिंड न गाड़ा ।।
कहै कबीर विचारि करि, ए उनले व्यौहार।
याही तै जो अगन है, सो बरति रहा संसार।।"

कबीर का ब्रह्म जन्म-मरण के बन्धनों, लौकिक रिश्ते-नातों और उपाधियों से सर्वथा परे है—

"जनमे मरै न संकटि आवै नाव निरंजन जाको रे।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो जाको भाई न बापो रे ।।"

अगर कबीर नारायण, गोविन्द, केशव, माधव आदि नामों का प्रयोग करते भी है, तो इनसे उनका अभिप्राय अवतारी पुरुषों का स्मरण करना नही बल्कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म का चिन्तन ही हुआ करता है। उन्होंने परब्रह्म के लिए इस्लामिक़ खुदा, अल्लाह, कर्म-करीम, रहीम, रब आदि का भी प्रयोग किया है। वे सिद्धो-नाथों आदि के समान परम ब्रह्म को उन्मन, शून्य, सहज, अनहद, शब्द कहकर भी सम्बोधित करते है। पर उनका अभिप्राय ऐसा करने के मूल में यह बताना ही प्रतीत होता है कि ब्रह्म के नाम अनंत हो सकते हैं और हैं भी, पर मूलतः एवं तत्वतः वह एक ही है और अचिन्त्य होने के कारण इन नामों की परिधियों से भी कहीं परे है। तभी तो वे कहते है—

"एक राम देखा सबहिन में कहै कबीर मन माना ।"

पर उसका साक्षात्कार (विग्रह के रूप मे) करा सकने वाला कबीर को कभी कोई नही मिला । मिलता भी कहाँ से ? वह परम पुरुष तो किसी रूपाकार में बंधने वाला है ही नही । तभी तो कबीर उसे आत्मतत्व मे ही अनुभव करते हुए कह उठते हैं—

"ऐसा कोई न मिले सब विधि देइ बताय ।
सुनि मंडल में पुरुष एक ताहि रह्यौ ल्यौ लाय ॥"

ब्रह्म की कृपा से गुरु मिलते हैं और गुरु-कृपा से प्राप्त ज्ञान-प्रेम के द्वारा ही उस ब्रह्म की अनुभूति हुआ करती है । वह अलौकिक सत्ता संसार के कण-कण में रमण करती रहने के कारण ही राम है । वह एक अव्यक्त एवं अनिर्वचनीय सत्ता है । जब उसकी आत्मगत अनुभूति होने लगती है, तभी उसे 'ब्रह्म' कहकर अभिहित किया जाता है । उसके दर्शन चाक्षुप स्तर पर ससार के जड़-चेतन प्रत्येक प्राणी-पदार्थ में किए जा सकते है, अन्य किसी प्रकार से नही । जब व्यक्ति सभी भूतों (तत्वों) में उस एक तत्व की सत्ता को स्वीकार कर लेता है, तो सारे वाद-विवाद स्वतः ही समाप्त हो जाया करते है । चन्द्र-सूर्य की ज्योति से भी परे एक ज्योति के दर्शन तब साधक-आत्मा को होने लगते है । यह ब्रह्मवादी दृष्टि वस्तुतः अद्वैतवाद की ही देन है । अद्वैतवादी दृष्टि से ही ब्रह्म तत्व का निरूपण करते हुए कबीर कहते है—

"लोगा भरमि न भूलहू भाई ।
खालिकु खलक खलकु महि खालिक पूर रह्यौ सब ठाई ॥"

कबीर ने अधिदैविक ब्रह्म की ही उपासना की ओर उसका वर्णन अपनी वाणी में किया है । कबीर क्योंकि भक्ति और प्रेम को भी महत्व देते हैं कोरे तत्व चिन्तन को नही, अतः कही-कही वे व्यक्त-अव्यक्त ब्रह्म के दोनो रूपों मे अभेद स्थापित करते हुए भी देखे जा सकते है—

"अविगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यान-रूप सब ठाम ।
बहु विचारि कर देख्या, कोइ न सारिख राम ॥"

कबीर जब संसार के कण-कण मे परिव्याप्त सौन्दर्य मे उस अरूप ब्रह्म की ज्योति का आभास पाने एवं रूप-दर्शन करने लगते है, तो लगने लगता है कि व्यक्त (सगुण) और अव्यक्त (निर्गुण) सत्ता उनकी वाणी में एकाकार होने

जा रही है। पर तब स्वतः ही वे अपने ब्रह्म को सिद्धों-न
अद्वैत से भी परे निर्धारित करते हुए कह उठते हैं—

"एक कहौं तो है नहीं, दोइ कहौं तौ गारि
हरि जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि ॥

जो हो मूलतः कबीर का ब्रह्म एक ऐसा सूक्ष्म एव अनुभूतिजन्य परम तत्व है कि—

"जाके मुह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पहुप बास तैं पातरा, ऐसा तत्त अनूप ॥"

कबीर की ब्रह्मवादी चेतना अनेकशः उपनिषदों से भी प्रभावित प्रतीत होने लगती है। जब वे ब्रह्म को हल्का, भारी, श्वेत-काला, रात-दिन, धरती-आकाश, धूप-छांह आदि कुछ भी न कहकर अभिहित करने लगते हैं, तब उपनिषदों का प्रभाव सर्वथा स्पष्ट हो उठता है। तब उनकी चेतना में एक प्रकार का विरोधाभास का-सा भी आभास होने लगता है। पर जब हम इस वस्तु-सत्य को समझ लेते है कि अवतारवादी नामो के समान यहां भी कबीर का आरोप ब्रह्म की सूक्ष्म परिव्यापकता, निर्गुण-निराकारता एवं निर्विकल्पता का प्रतिपादन करना ही है, तब यह विरोधाभास स्वतः ही तिरोहित हो जाता है। वस्तुतः कबीर का ब्रह्म-वर्णन अनेक धर्मो, मत-सम्प्रदायों के वर्णनों से आन्तरिक स्तर पर प्रभावित है। तभी तो कभी वे औपनिषदिक शैली को अपनाते हुए दिखाई देते है, कभी योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षणवाद और कभी बौद्धों-सिद्धों आदि की शून्यवादी पद्धति को भी अपनाते हुए दिखाई देने लगते है। इस सन्दर्भ मे आचार्य क्षितिमोहन सेन का मत विशेष द्रष्टव्य है—

"कबीर की आध्यात्मिक भूख एवं आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नही चाहती, इसलिए वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नही है, इसीलिए उन्होने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योग प्रभृति सभी साधनों को जोर से पकड़ रखा है।" और इसी कारण उनकी ब्रह्म संबंधी अवधारणाओ में वैविध्य के दर्शन होते है, जबकि मूलत वह एकमेक, निर्गुण-निराकार, निर्विकल्प तत्व ही है। उन पर सहजवाद, सूफियों के नूर और इश्कवाद, इस्लामिक एकेश्वरवाद का प्रभाव भी यत्र-तत्र झलकने लगता है इस प्रकार डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों में कहा जा सकता है कि "कबीर का ब्रह्म-निरूपण वैदिक एकेश्वरी अद्वैत-वादी होते हुए भी सर्वात्मवाद और परात्परवाद के अधिक समीप है, किन्तु अनेक स्थलो पर उसका स्वरूप अन्य विविध धर्मो की ब्रह्म भावना से भी संवारा गया है।"

उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के अनादि अव्यक्त रूप के ढंग पर ही कबीर अधिकांशतः अपने ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए दीख पड़ते हैं। परन्तु ऐसा करते समय बहुश्रुत एवं सारग्राही होने के कारण उनके वर्णन अन्य कई मत-वादों से भी यत्किंचित प्रभावित होने लगते हैं। उन्होंने अपने निरूपणों में शास्त्रीय शैली अपनाकर भावना-बुद्धि से समन्वित रहस्योपदेशात्मक शैली अपनाई है। कुछ लोग कबीर की ब्रह्म सम्बन्धी अद्वैतवादी अवधारणा को इस्लाम के एकेश्वरवादी चेतना की ही देन स्वीकारते हैं। पर यह मान्यता सत्य नहीं है, तथ्यपरक कभी नहीं कही जा सकती।

यह सत्य है कि कबीर का ईश्वर या ब्रह्म एक ही है—उसी प्रकार जैसे इस्लाम एकेश्वरवाद को मान्यता देता है। पर कबीर ने अपने एक ब्रह्म का प्रतिपादन जिस पद्धति एवं जिस रूप मे किया है, वह वस्तुतः इस्लाम के एकेश्वरवाद से भिन्न एवं मूलतः भारतीय अद्वैतवादी अवधारणाओं पर आधारित है। इस्लाम की अवधारणा के अनुसार ईश्वर या अल्लाह सर्वव्यापक, सर्व समर्थ होते हुए भी जीवों से अलग है। अतः बन्दा कभी भी खुदा नहीं हो सकता। इस्लाम जीव को खुदा के समान मानना कुफ्र मानता है। तभी तो 'अन-अल हक' का नारा लगाने वाले मंसूकर को सूली पर लटका दिया गया था। दूसरी ओर कबीर का ब्रह्म तो अद्वैतवादियों की मान्यतानुसार सर्वव्यापक अर्थात् प्रत्येक जीव में विद्यमान है। दूसरे शब्दों मे, सभी जीव उसी का स्वरूप हैं। कबीर ने इस्लामिक एकेश्वरवाद से स्पष्ट मतभेद व्यक्त करते हुए कहा है :-

"जोगी गोरख-गोरख करै। हिन्दू राम-नाम उचरै।
मुस्लिम कहैं एकु खुदाइ। कबीर का स्वामी रहा सदाइ ॥"

वे मुसलमानों को ईश्वर की सर्वव्यापकता का रहस्य समझाते एवं सावधान करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि "खालिक में खलक और खलक मे खालिक" समाया हुआ है—

"लोका जानि न भूलहु भाई।
खालिक खलक खलक महिं खालिक सब घटि रहा समाई ॥"

अन्त में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निम्नलिखित कथन के बाद इस प्रसंग को यों समाप्त किया जा सकता है कि—"जब कबीर राम और रहीम की एकता की बात करते है तो उनका मतलब भारतीय परम्परा के 'अद्वैत

ब्रह्म' को सामी धर्म धर्म के 'पैगम्बरी खुदा' के साथ घुला देना नही होता। वे अत्यन्त सीधी-सी वात अत्यन्त सीधे तौर से कहते है कि सृष्टि के रचयिता भगवान को यदि मानते हो तो दो की कल्पना व्यर्थ है।" स्पष्ट है कि कवीर का ब्रह्म 'शांकर-अद्वैत' द्वारा निरूपित ब्रह्म ही मूलतः है, अन्य कोई नही।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—कवीर की ब्रह्म-सम्बन्धी अवधारणा की मीमांसा कीजिए।

प्रश्न २—कवीर-वानी के साक्ष्य के आधार पर उनके 'आराध्य' का स्वरूप स्पष्ट कीजिए और वताइए कि क्या वह 'शांकर-अद्वैत' से मेल खाता है ?

प्रश्न ३—कवीर के ब्रह्मवाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वताइए कि वह इस्लाम और उसके एकेश्वरवाद से कहां तक प्रभावित है ?

———

है। स्पष्ट है कि कबीर जगत् की अवधारणा के सम्बन्ध मे एक ओर तो बौद्धो के स्वप्नवाद से प्रभावित है जबकि दूसरी ओर अद्वैतवादियों के मिथ्यावाद से। दोनों मतो में कोई मौलिक अन्तर दिखाई नही देता पर इन्द्रियजन्य अनुभव के आधार पर दोनों मतों मे जो अन्तर किया जाता है, उसके आलोक मे कहा जा सकता है कि निरीश्वरवादी या नास्तिक बौद्धों की तुलना मे ईश्वरवादी और आस्तिक शकर के अद्वैतवाद के समीप ही कबीर की मान्यता अधिक पड़ती है। कबीर सब कुछ ब्रह्ममय स्वीकारते है, यह बात ऊपर दिए गए जिज्ञासा भाव-सम्बन्धी उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाती है। कबीर द्वारा सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व की वर्णित स्थितियां भी बौध मतानुरूप न होकर नासिय सूक्त के समान ही है—

"जब नहीं होते पवन नहीं पानी, तब नहीं होती सृष्टि उपानी।
जब नहीं होते पिण्ड न वासा, तब नही होते धरिन-आकासा।
जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नहीं होते कली न फूला।
......................इत्यादि ॥"

इस प्रकार कबीर जब जगत् के बारे में यह कहते है कि—

"ऐसा यो संसार है जैसा सेंवल फूल।
दिन दस के व्यौहार में झूंठे रंग न भूल॥"

तब वे जगत् के सत् होते हुए भी सारहीन कहकर उसको मिथ्या मान उसकी अवहेलना कर देते है। उनकी यह मान्यता भी बौद्धों या अन्य इस्लाम आदि मतों के निकट न पड़ शांकर-अद्वैत के निकट ही पड़ती है। कबीर का 'शून्य' बौद्धों आदि का सूनापन न होकर ब्रह्म का पदार्थवादी ही है, जो उन्हें निरीश्वरवादियों की मान्यताओं से स्पष्टतः बिलगा देता है।

जहां तक जगत् की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, इस बारे में भी कबीर की वाणी एवं मतवाद में वैविध्य दीख पड़ता है। कभी तो कबीर 'ओं ओंकार आदि का मूला' कहकर जगतोत्पत्ति ओंकार से मानते है और कभी 'एक नूर ते सब जग कीया'—कहकर नूर को जगतोत्पत्ति का कारण बताते है। इसके अतिरिक्त कबीर ने त्रिगुणात्मिका माया से भी जगत् की उत्पत्ति की बात कही है—

"सत रज तम पै कीन्हीं माया।
आपन मंझे आप छिपाया॥"

पर यहां भी तथ्य यह है कि जिस प्रकार कबीर का 'शून्य' बौद्धों का

'सूनापन' न होकर ब्रह्म का प्रतीक-परिचायक है, उसी प्रकार उनका ओंकार, नूर भी वस्तुतः ब्रह्म का ही प्रतीक एवं परिचायक है। अतः 'नर' शब्द के कारण कबीर के जगत्-सम्बन्धी विचारों को इस्लाम का प्रभाव या देन नही मान लेना चाहिए। उपनिषद् भी तो अनेकशः ब्रह्म का स्मरण उसे ज्योति-स्वरूप या 'नूर' 'रूप' मानकर करते हैं। इसी प्रकार त्रिगुणों से जगत्-उत्पत्ति बताने के कारण कबीर को सांख्य-दर्शन का अभिभावक भी नही कहा जा सकता। कबीर शंकर के समान प्रकृति का कारण या आश्रय भी ब्रह्म को ही मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जगत् की उत्पत्ति से सम्बन्धित कबीर की अवधारणाएं भी वस्तुतः औपनिषदिक या शांकर-अद्वैत का ही प्रभाव हैं, इस्लाम आदि बाह्य मतों की औपचारिकताओं से कतई नही। पर जब हम उनकी निम्न प्रकार की उक्तियां पढ़ते है, तो लगता है कि अपनी अन्तश्चेतना में कबीर सांख्यवादी चेतनाओं एवं मान्यताओं से शांकर-अद्वैत के सन्दर्भ में ही सही, न्यूनाधिक परिचित एवं प्रभावित अवश्य हैं—

"बहुरि हम काहे कौ आवहिगे।
बिछुरे पंच तत्त की रचना, तब हम रामहिं पावहिंगे।
पिरथी का गुन पानी सोखा, पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि, पवन सबद मिलि सहज समाधि पावहिंगे।
...............इत्यादि ॥"

इस प्रकार सांख्य दर्शन के क्षेत्र में विचरण करते हुए कबीर सहसा अद्वैत की भूमिका पर उतर फिर अपनी नितान्त निजत्व भरी 'सहज समाधि' की पृष्ठभूमि पर आ खड़े होते है। इस प्रकार सांख्य-दर्शन की निरीश्वरवादिता का नकार कबीर ईश्वर या ब्रह्मवादी धरातल पर रहकर ही जगत-जीवन पर विचार करने लगते है। क्योंकि अद्वैतवादी शंकर यह स्वीकार करते हैं कि प्रकृति-पुरुष का अस्तित्व तो है, पर उससे भी परे जगत् का परब्रह्म-रूप एक मूल अदृश्य या अलक्षित तत्व है जो प्रकृति-पुरुष आदि का भी सर्जक है। इस दृष्टि मे डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल की यह मान्यता सर्वथा उचित प्रतीत होती है कि—"साख्य-दर्शन के सिद्धान्तों को कबीर ने अद्वैत दर्शन के प्रभाव से आंका है और साख्य पर अद्वैत का रंग चढ़ाकर उसका वर्णन किया। कबीर ने सांख्य के प्रकृति और पुरुष को व्यावहारिक सत्य के रूप मे ग्रहण किया।

दोनों के संयुक्त रूप को ब्रह्म का व्यावहारिक व्यक्त स्वरूप माना और उसके परे अव्यक्त पूर्ण ब्रह्म की प्रतिष्ठा की।"

यहां तक तो हुई जगत्-रचना की बात। जहा तक रचना के बाद विनाश का प्रश्न है, कबीर ने उसका कोई विशेष एवं व्यवस्थित वर्णन नहीं किया है। जो और जितना भी इस सन्दर्भ में कहा है, वह सब भी इस्लाम आदि से प्रभावित न होकर परम्परागत भारतीय आस्थाओं के अनुकूल ही है। वह भी उपरिकथित वेदांत और सांख्य दर्शन से प्रभावित है कि जिसे अपनेपन के रंग मे रंगकर कबीर ने प्रतिष्ठापित किया है। कबीर ने सृष्टि या जगत् के उद्भव और विकास का क्रम किस दार्शनिक चेतना के आधार पर किया है, इसकी सम्यक् जानकारी के, उनके ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्धों से सम्बद्ध विचार अवलोक्य एव विचारणीय हैं। इन कार्य-कारण के सम्बन्ध मे तीन प्रमुख मत-वाद पाए जाते है—

१. नैयायिकों का आरम्भवाद। २. सांख्यों का परिणामवाद। ३. अद्वैत-वादियों का विवर्तवाद।

इनके अतिरिक्त भी कार्य-कारण सम्बन्धी कुछ अन्य वाद पाए जाते हैं। जैसे—विशिष्टाद्वैतवादियों का ब्रह्म परिणामवाद, अध्यात्म या अध्यारोपवाद और बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद आदि।

आरम्भवादी नैयायिकों की मान्यता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत होता है। घड़ा मिट्टी से बनता है, पर तब तक नही जब तक कि मिट्टी असत् रहती है। ये न्याय वैशेषिक जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण परमाणु को मानते है। इन परमाणुओं की संख्या अनगिनत है। इन्ही के संयोग से जगत् की उत्पत्ति और विकास होता है। परमाणु को महत्व देने के कारण इस मतवाद को 'परमाणुवाद' भी कहा जाता है और कहा जा सकता है कि यह मत आज के इस प्रकार के सिद्धान्तों से—विकासवाद आदि से काफी-कुछ मिलता-जुलता एवं वैज्ञानिक धरातल पर प्रामाणिक भी है।

दूसरा मत परिणामवाद सांख्यदर्शन द्वारा प्रतिपादित त्रिगुणात्मक प्रकृति को जगत् की उत्पत्ति और विकास का कारण मानता है। यह उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य का सत् एवं नित्य मानते है। मान्यता है कि धरती की मिट्टी मे विद्यमान बीज कभी नष्ट नही होता, अतः सत् एवं नित्य है। जैसे मिट्टी में घड़ा और दूध मे दही-माखन आदि विद्यमान हैं, उसी प्रकार कार्य-जगत् भी कारण तत्वों मे विद्यमान रहता है। अर्थात्-प्रकृति मे विद्यमान त्रिगुण ही

परिवर्तित होकर जगत् का स्वरूप धारण कर लेते हैं। स्पष्टतः यह मत आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्तों के और भी अधिक निकट पड़ता है।

तीसरा प्रमुख वाद है—विवर्तवाद। इस मत के अभिभावकों के अनुसार, कारण ही सत है, उससे सम्भव कार्य नही। जैसे मिट्टी का घड़ा बनाने से पहले और टूटने के बाद भी रहता है, उसी प्रकार कारण सत्य हमेशा बना रहता है। इस प्रकार आदि, मध्य, अन्त में अवस्थित रहने वाला वस्तु-तत्व ही सत्य एवं नित्य है। यह वाद अद्वैतवाद से सम्बन्ध रखता है। इनकी मान्यता है कि ब्रह्म ही सत् एवं नित्य है। उसी का जगत् रूप में परिवर्तन होता है जो कि स्पष्टतः अनित्य एवं नश्वर है। वह तो, मात्र आभास ही है, अन्य कुछ भी नही।

कबीर ने इन तीनों मतों में से पहले आरम्भवाद को कतई मान्यता नही दी, दूसरे परिणामवाद को आंशिक मान्यता दी है जबकि तीसरे विवर्तवाद को समग्रतः स्वीकार कर एतत्सम्बन्धी विविध उक्तियां अपनी वाणी में कही हैं। जैसे—

**पाणी ही ते हिम भया हिम है गया बिलाप।**
**जो कुछ था सोई भया अब कुछ कह्या न जाय॥"**

कबीर ने बाजीगर का रूपक बांधकर भी जगत् को बाजीगर का खेल अतएव मिथ्या-विभ्रम और खेल करने वाले बाजीगर को सत्य बताया है। जैसे वे कहते हैं—

**"बाजी झूठी बाजीगर सांचा कहै कबीर विचारी।"**

अद्वैतवादी चेतना ही जगत् की उत्पत्ति, विकास और लय के बारे में कबीर को मान्य है, निम्नलिखित पंक्तियां भी इसी तथ्य की ओर संकेत करने वाली हैं। जल-कुम्भ का रूपक बांधकर कबीर कहते है—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल-जलहिं समाना, यह तथ कथ्यो गियानी॥"

कबीर अपने आप और संसार को जल में उठने वाली तरंग के समान देखते-मानते हुए कहते है कि—

"जैसे जलहि तरंग, तरंगिनी ऐसे हम दिखलावहिंगे।"

उनकी सृष्टि शून्य (ब्रह्म) मे उत्पन्न होकर फिर उसी (शून्य-ब्रह्म) में समा जाती है। इस प्रकार जगत् के बारे में कबीर के विचार स्पष्टतः एवं

प्रमुखतः शांकर-अद्वैत की आधारशिला पर ही बने हुए है। पर कही-कही उन्होंने वेदान्त के अध्यवसायवाद विम्ब-प्रतिबिम्बवाद, ब्रह्म परिणामवाद का आश्रय भी लिया है।

अध्यवसायवाद का सम्बन्ध भी वेदान्त-दर्शन से ही है। इसकी परिकल्पना सत्कार्यवाद के दोष-परिहारार्थ की गई प्रतीत होती है। सत्कार्यवादियों की मान्यता है कि निर्गुण ब्रह्म से सगुण जगत् की सृष्टि सम्भव नही। इस असम्भव को सम्भव बनाने के लिए ही एक ओर तो यह अध्यवसायवाद परिकल्पित किया गया, जबकि दूसरी ओर विम्वप्रतिविम्बवाद आकार मे आया। अध्यवसायवाद की परिकल्पना 'ब्रह्म' की इस मान्यता पर आधृत है कि सम्पूर्ण जागतिक परिवर्तनों का अधिष्ठान ब्रह्म से ही होता है। शुद्ध रूप मे तो ब्रह्म निर्विकार ही है, पर अविद्या के कारण अध्यास होकर जगत् का उद्भाव या आभास करा जाता है। उदाहरण के लिए—सीप मे रजत और रज्जु मे सांप का भ्रम अध्यास है। उसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म का अध्यास ही हुआ करता है। इसी प्रकार प्रतिबिम्बवादी संसार को ब्रह्म का प्रतिबिम्बवाद स्वीकार करते है। जैसे प्रतिबिम्द या परछाई केवल दृष्टि का आभास है, उसे छुआ-पकड़ा नही जा सकता, क्योंकि वह सत्य नही है, वही गति-स्थिति इस दृष्टि-बिम्बित समस्त जगत् की भी है। जहा तक जगत् की उत्पत्ति आदि के बारे मे ब्रह्म परिणामवाद का सम्बन्ध है, उसकी मान्यता है कि कारण-रूप में ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर ही कार्यावस्था मे विकसित होकर जगत् या सृष्टि की उत्पत्ति-विकास आदि करता है। ऐसा होने पर भी ब्रह्म स्वयं हमेशा अव्यक्त ही बना रहता है। यह मत विशिष्टा द्वैतवादियो का मान्य किया जाता है।

विशिष्टाद्वैतवादियों की मान्यता के सम्बन्ध मे जहां तक कबीर का प्रश्न है, वे इसके समर्थक नही लगते। जीव के सम्बन्ध में भी कबीर की मान्यताएं इनसे भिन्न है। इनके अंशांसी भाव को कबीर ने व्यवहार के स्तर पर कुछ मान्यता अवश्य प्रदान की है, परन्तु पारमार्थिक स्तर पर नही। क्योंकि इस स्तर पर कबीर ब्रह्म एवम् जीव में कतई विभेद निरूपित नही करते। वे तो कहते है—

"एकमेक ह्वै मिलि रहा, दास कबीरा राम।"

हा, कबीर की उक्तियो मे बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद को अवश्य ही अनेकशः मान्यता दी गई है—

"ज्यों दर्पन प्रतिविम्ब देखिए आप दवासू सोई ।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जगत्-दर्शन के सम्बन्ध मे कबीर मूलतः एवं मुख्यतः अद्वैतवादी ही है । अन्य वादों मे भी यद्यपि वे प्रभावित हैं, पर इस्लाम का प्रभाव उन पर कही भी परिलक्षित नहीं होता । अन्य साधना-क्षेत्रों एवं तत्वों के समान यहां भी उन्हे पूर्णतः समन्वयवादी कहना ही हमें अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—कबीर के जगत्-उत्पत्ति-सम्बन्धी विचार लिखिए और बताइये कि वे कहां हिन्दुओं से और कहां मुसलमानों के सिद्धान्तों से प्रभावित है ।

प्रश्न २—जगत् की उत्पत्ति एवं लय सम्बन्धी कबीर के मत को स्पष्ट करते हुए, उस पर पड़े प्रभावों का भी उल्लेख कीजिए ।

प्रश्न ३—कबीर का जगत्-दर्शन स्पष्ट कीजिए ।

———

यह 'मोर-तोर की जेवरी' ही वस्तुतः माया है, जिसने सारे संसार को भ्रमित कर रखा है। शंकराचार्य के अनुसार अविद्या या अज्ञान, भ्रम या अध्यास ही माया है। इसी कारण व्यक्ति शरीर एवं इन्द्रियों को ही आत्मा मान लेता है—अर्थात् हर वस्तु पर अविद्यावश मिथ्यारोप कर 'मैं और मेरा' के 'अहम्भाव' का शिकार हो जाया करता है। अद्वैतवादी या वेदान्ती दार्शनिकों के अनुसार माया के दो रूप होते हैं—एक विशुद्ध सत्व प्रधान जिसे 'विद्या माया' भी कहा जाता है, दूसरा अविशुद्ध सत्व प्रधान जिसे 'अविद्या माया' कहकर अभिहित किया गया है। इनमें से विशुद्ध सत्व प्रधान या विद्या-माया को ब्रह्म की उपाधि कहा गया है, जबकि दूसरी को जीव की। पर जहां तक कबीर की वाणी मे आए माया-दर्शन का प्रश्न है, उनकी चर्चा का विषय मुख्यतः 'अविद्या-माया' ही रहा है। उन्होंने माया का वर्णन कनक-कामिनी के उपमानो या प्रतीको के माध्यम से ही अधिक किया है—

**"मीठी मीठी माया तजी नहिं जाई।**
**अग्यानी पुरुष को भोलि भोलि खाई॥**
**निर्गुण-सगुण नाहीं ससार पियारी।**
**लखमणि त्यागी गोरख निवारी॥"**

स्पष्टतः नारी-रूप मे भी कबीर माया को निर्गुण-सगुण यानी व्यक्त-अव्यक्त दोनों रूपों में स्वीकारते है। कनक-कामिनी के रूप में माया का चित्रण करते हुए कबीर कहते हैं

**"माया की झलि जग-जला, कनक-कामिनी लागि।"**

उतना ही नही, कबीर माया को 'डायन' की उपाधि भी देते है कि जो नारी-रूपा ही है और अलक्षित रूप से व्यक्ति को भीतर ही भीतर खोखला करके रख देती है—

**"एक डायन मेरे मन में बसे, नित उठ मेरे मन को डसे।"**

उसके पंचेन्द्रियों के रूप मे पांच लडके है। उन्ही के माध्यम से वह उसकी है। कबीर माया को 'सर्पिणी' कहकर भी तिरस्कृत करते हैं। काम, क्रोध, मोह, मद, मान, लोभ आदि को माया के शस्त्र या सहायक मानते—कहते है। इस प्रकार नाना रूप एवं उपाधियो वाली माया जती-जोगी, सती, पीर-पैगम्बर किसी को भी नही छोड़ती। ब्रह्मा की ब्रह्माणी, विष्णु की लक्ष्मी, इन्द्र की इन्द्राणी, योगी की योगिन, शिव के घर भवानी आदि कबीर के मत मे सभी

माया के ही स्वरूप-विस्तार हैं। यही माया मुस्लिमों-तुरकों के घरों में तुर्किन बनकर डेरा डाले हुए है। मतलब यह कि कबीर ने नारी रूप में ही माया का विवेचन-विश्लेपण किया और उसी के आवेश मे स्वय माता, पत्नी, पुत्री वाले होते हुए भी यहां तक कह गए हैं कि—

"नारी की झांई परत अन्धा होत भुजंग।
कबीर तिन की क्या गति, जो नित नारी के संग॥"

यहां 'नारी' वस्तुतः 'माया' के लिए प्रयुक्त हुआ है, यह मान लेने पर ही व्यवहार क्षेत्र मे और कबीर के वैयक्तिक जीवन में भी नारी-सम्मान की रक्षा सम्भव हो सकती है। नही तो स्थान-स्थान पर कबीर द्वारा की गई माया की निन्दा को नारी की निन्दा मान लेना पड़ेगा।

कबीर ने अनेकशः जो वाह्याचारों के खण्डन की प्रवृत्ति अपनी वाणी में अपनाई है, वह भी मायाजन्य भ्रमों का विरोध करने के लिए ही अपनाई गई है। मूर्ति-पूजा का विरोध करते हुए तभी तो वे स्पष्टतः घोषित करते हुए कहते हैं—

"पाहन केरा पतला करि पूजे संसार।
इही भरोसे जो रहे, बूड़ें काली धार॥"

स्पष्टतः कबीर का मायावाद वैदान्तिक भाव-रूप भ्रान्ति का ही प्रतिपादक है। वह सभी दृश्य जगत् को उसी प्रकार भ्रम मानता है जैसे सीप में रजत और रज्जू में सांप का आरोपित भ्रम। कहीं-कही माया-वर्णनों में कबीर का झुकाव शून्यवादियों की ओर दिखाई देने लगता है। कभी-कभी माया के प्रति अनिर्वचनीयता का भाव भी उनकी वाणी में स्पष्टतः प्रतिगुंजित होने लगता है। ऐसे क्षण मे उनकी वर्णन-प्रक्रिया विरोधात्मक गुणों से सम्पन्न हो जाती है। जैसे—

"जो काटों तो डहड़ही, सींचों तो कुम्हलाय।
इस गुणवन्ती बेल का कुछ गुण कहा न जाय॥"

इस प्रकार माया की अनिर्वचनीयता को ध्वनित करने वाले अन्य कई उदाहरण भी कबीर की वाणी में से खोजे जा सकते हैं। वे माया के समस्त रूपों को नट की कलाओं के समान मिथ्या एवम् नयन-विभ्रम मात्र स्वीकारते हैं—

"नट बहुरूप खेले सब जाने, कला करे गुन ठाकुर माने।
औ खेले सबही घट माही, दूसर के लेखे कछु नाहीं॥"

जैसा कि हम पहले भी कह आए हैं, कबीर का

कहीं-कहीं कबीर ने माया-जाल के रूप में 'निरंजन' शब्द का प्रयोग भी किया है, ऐसी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यता है। पर कबीर-वाणी में 'निरंजन' शब्द का माया जाल के अर्थ में प्रयोग स्यात् कहीं भी उपलब्ध नहीं है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने बल देकर यह बात कही है। जिस बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित कबीर-वाणी में ऐसा प्रयोग मिलता है, डॉ० त्रिगुणायत उसे कतई प्रामाणिक स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार कबीर के माया-दर्शन को हम डॉ० त्रिगुणायत के शब्दों में निम्न प्रकार का मान सकते हैं—

"कबीर का मायावाद सम्भवतः भागवत पुराण और शंकराचार्य के माया-वर्णनों से प्रभावित है। उस पर उपनिषदों का उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना इन दोनों का। शंकर की माया के समान कबीर की माया भी अनिर्वचनीय तत्व है। वह सांख्य की प्रकृति के समान प्रसवधर्मिणी और त्रिगुणात्मक भी है। सूफियों के शैतान के समान वह उनकी आध्यात्म साधना में बाधा-रूप भी है। कबीर की यह माया तत्व-भाव रूप होते हुए भी अध्यास मात्र है। वह सत्य तत्व से भिन्न है।"

जो हो, जैसा कि ऊपर सोदाहरण विश्लेषित किया गया है, कबीर की माया पर, तत्सम्बन्धी दार्शनिक चेतना पर जो और जितने भी प्रभाव परिलक्षित होते हैं वे सभी भारतीय ही अधिक हैं। डॉ० त्रिगुणायत ने कबीर के माया-तत्व को सूफियों के शैतान-तत्व के समान साधना-पथ में बाधक कहा है, पर यह भारतीय दर्शन और कबीर के लिए भी कोई नई बात नहीं। यहां भी माया को सर्वग्रासी और बाधक ही माना गया है। अतः इस स्तर पर भी कबीर को इस्लाम आदि किसी बाह्य मतवाद से प्रभावित रेखांकित नहीं किया जा सकता। भारतीय मतवादों को पचा-पका कर ही कबीर का निजत्व भरा माया-दर्शन रूपाकार ग्रहण कर सका है, यह परिपूर्ण सत्य एवं तथ्य है।

## प्रश्न के विविध रूप

**प्रश्न १—कबीर के माया-सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिए।**

**प्रश्न २—भारतीय तत्व-चिन्तन की परम्परा में माया का क्या स्वरूप एवं महत्व है, स्पष्ट करते हुए कबीर के माया-चिन्तन सम्बन्धी विचारों का सोदाहरण निरूपण कीजिए।**

**प्रश्न ३—'माया महाठगिनी हम जानी' कबीर की यह उक्ति उनके माया-सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को कहां तक प्रतिबिम्बित करती है, उनकी वाणी के आधार पर स्पष्ट कीजिए।**

———

# १०. कबीर : विभिन्न मतवादों के प्रभाव

कवीर का उदय जिस युग में हुआ, उस युग के भारत में छोटे-बड़े अनेक धार्मिक सम्प्रदाय यत्र-तत्र सक्रिय थे। इसके साथ-साथ भारतीय सभ्यता, संस्कृति और अध्यात्म-साधना की विभिन्न एवं विविध पद्धतियां न्यूनाधिक नवागत इस्लाम से भी प्रभावित होने लगी थीं। सातवी-आठवी शताब्दी से ही बौद्ध मत अनेक सम्प्रदायों, विभागो, उप-विभागों में विभाजित होकर सभी स्तरों पर संकुचित-संकीर्ण होने लगा था। दूसरी ओर पौराणिक धर्म भी भिन्न प्रकार के वर्गो-उपवर्गो में बंटकर अनेकविध वाह्याचारों, विडम्बनाओं में अनवरत उलझते जा रहे थे। अतः प्रायः विद्वान यह मानते है कि अध्यात्म-साधना की दृष्टि से सन्त मत का उदय बौद्ध मत के बाद नाथ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत आने वाले विविध मतों से ही प्रत्यक्षतः प्रभावित था। दूसरी ओर डॉ० रामकुमार वर्मा जैसे कुछ लोग यह मानते है कि उत्तर भारत में पड़ने वाले इसलाम के गहन प्रभाव से ही सन्त मत और उसके अन्तर्गत कबीर जैसे महान सन्त का उदय हुआ। पर यह मान्यता उस समय सार्थक प्रतीत नही होती, जिस समय हम विभिन्न सन्तों के साथ-साथ कबीर-साहित्य का भी सूक्ष्म अध्ययन करते हैं। वस्तुतः सन्त मत और कबीर की साधना मे विभिन्न मतवादों और सम्प्रदायों की मान्यताओं के सार-तत्व संचित है। 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' के लेखक डॉ० तिलक राज शर्मा के अनुसार "इनके स्वरों में भावना और प्रत्यक्ष जीवन की उपयोगिता के स्वर संचलित थे। उन्होंने वैष्णव मतों से भी प्रभाव ग्रहण किया। इन्होंने एक ओर जहां नाथसम्प्रदाय की अनुभूति तथा योग-साधना की परम्परा को अपनाया, वहां विट्ठल-सम्प्रदाय की प्रेम-भक्ति तथा रहस्यमता को भी अपनाया। स्वामी रामानन्द के प्रभावों से विकसित अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के प्रभाव को ग्रहण किया। प्रेम-योगियों के प्रेम-तत्व का भी प्रत्यक्ष प्रभाव इन पर पड़ा। अतः इसे 'सारग्राही-

सम्प्रदाय' ही कहा जा सकता है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कबीरजी पर पड़े, विभिन्न मतवादों के प्रभावों के सन्दर्भ में कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं—

"वैष्णवों से उन्होने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उन (कबीर) के तथा निर्गुणवाद वाले और दूसरे सन्तों के वचनों में कही भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कही योगियो के नाड़ी-चक्र की, कही सूफियों के प्रेम-तत्व की, कही पैगम्बरी कट्टर खुदावाद की और कही अहिंसावाद की। अतः तत्व की दृष्टि से न तो हम उन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी बानी मे मिलता है।"

इससे यह तथ्य तो एकदम उजागर हो जाता है कि मूलतः एवं मुख्यतः उत्तर भारत पर पड़ने वाले इस्लाम के प्रभाव की देन नही है। इसी प्रकार वह केवल नाथ-सम्प्रदाय के प्रभाव या सूफीवाद के प्रभाव की भी उपज नही है। वे तो क्रमागत या क्रमशः विकसित समन्वित भारतीय अध्यात्मिक प्रवृत्तियों एवं उनकी पद्धतियों की ही देन है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने भी अपनी 'कबीर की विचारधारा' नामक रचना में लगभग ऐसा ही मत व्यक्त करते हुए कहा है—"कबीर सारग्राही महात्मा थे। जहां कही भी उन्हें सत्य तत्व की उपलब्धि हुई, उसे उन्होंने सहर्ष ग्रहण किया। यही कारण है कि उनकी विचारधारा अनेक मतों, ग्रंथों, सन्तो और सम्प्रदायो से प्रभावित है।"

ऊपर यह कहा जा चुका है कि कबीर इस्लाम या एक मतवाद की देन न होकर क्रमागत या क्रमशः विकसित समन्वित भारतीय अध्यात्म-प्रवृत्तियो की ही देन है। सो क्रम की दृष्टि से उन पर सबसे पहला प्रभाव श्रुति-ग्रंथों का ही रेखांकित किया जाता एवं जा सकता है। यो लगता यही है कि कबीर की श्रुति-ग्रन्थ के प्रति आस्था नही थी, पर ऐसी बात नही। वस्तुतः वे अन्ध आस्था के विरोधी थे। तभी तो उन्होने कहा :

"वेद कतेब कहहु मत झूठा, झूठा जो न विचारे।"

अर्थात् विचारहीन व्यक्ति के लिए ही वेद-श्रुतियो का मत झूठा है, विचारवानों के लिए नही। भारत मे वैदिक साहित्य-धारा के अन्तर्गत उपनिषदों की संख्या कई सौ मानी गई है। उनमे विविध भारतीय मतो और विचारों का सारतत्व संकलित है। अतः यदि मध्यकालीन अध्यात्म-साधना के अगुआ कबीर उनसे कुछ प्रभाव ग्रहण करते है तो यह स्वाभाविक ही कहा

जाएगा। कबीर स्थान-स्थान पर जो वाह्याचारों से युक्त विडम्बनापूर्ण ब्राह्मण एवं मुल्लावावाद का विरोध करते दिखाई देते हैं—वहुदेवोपासना, व्रत-रोजा, मूर्ति-पूजा, नमाज, अजान आदि का विरोध करते है, वह सब वस्तुतः इसी प्रभाव का व्यंजक है। कबीर की ब्रह्म सम्बन्धी धारणाओं को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस्लामिक एकेश्वरवाद से प्रभावित और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने उनके एकेश्वरवाद को वैष्णवों से प्रभावित माना है, पर वस्तुतः वह वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद पर आधारित है, यह एक स्वतः सिद्ध वात है। वैष्णवों और इस्लाम के पैरूकारों ने ब्रह्म-सम्बन्धी साकार-सगुण भावना को ही प्रमुखता दी है, पर कबीर ने ऐसा नही किया। सगुण-साकार की भावना को कतई मान्यता न देते हुए स्पष्ट कहा है—

"ज्यों नैननि में पूतरी, त्यों खालिक घट मांहि।
मूरिख लोग न जानहीं, बाहरि ढूंढन जांहि॥"

इससे भी बढ़कर ब्रह्म के स्वरूप की संकलपना करते हुए उन्होंने कहा है—

"जाकै मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप वास तै पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥

फिर क्योंकि एकत्व की भावना वैदिक अद्वैतवाद की आधारभूमि स्वीकारी गई है, उसी प्रभाव से कबीर अपने ब्रह्म को 'एक' भी कहते है न कि इस्लामी एकेश्वरवाद के प्रभाव से। अतः यही कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि कबीर की ब्रह्म-सन्बन्धी धारणाएं इस्लाम, वैष्णवों या कही अन्य से अधिगृहीत की हुई नही वल्कि वैदिक या श्रुति-पंथ की परम्परा के अन्तर्गत पूर्ण भारतीय ही हैं।

आचार्य शुक्ल का कथन है कि कबीर ने 'वैष्णवों से अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए।' इन मान्यता को अनेकशः तथ्यपूर्ण इसलिए भी कहा जा सकता है कि कवीर-वाणी में अनेकशः वैष्णवों के प्रति प्रशंसापूर्ण उक्तियाँ उपलब्ध होती है। उनकी उक्तियां वैष्णवों की कई महत्वपूर्ण वातों एवं मान्यताओं से भी प्रभावित देखी-पढ़ी जा सकती हैं। पर यह तथ्य विशेष ध्यातव्य है कि ब्रह्म का चिन्तन करते समय विष्णु अवतार से सम्बन्धित अनेक नामों का अधिग्रहण कर के भी कबीर अवतारवाद पर विश्वास नही करते। वैष्णवी सगुण-साकारवाद की भावना पर भी उनकी आस्था नही है। वैष्णव 'अगुणहि-सगुणहि नहि कछु भेदा' कहकर यद्यपि निर्गुण-सगुण दोनों मान्यताओं को स्वीकारते हैं, पर कबीर ने इसमें से निर्गुण-निराकार का अधिग्रहण कर

अधिकतर उसका स्मरण 'दाशरथि राम' के रूप में नही, बल्कि घट-घटवासी, सभी में रमण करने वाले सूक्ष्म-तत्व-राम-रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने गीता और ऋग्वेद की धारणाओं के अनुरूप ही ब्रह्म का अंकन एक व्यापक-विराट पुरुष के रूप में किया है। इस अर्थ मे ही उन्हें हम वैष्णवा-मतों या सम्प्रदायों से प्रभावित कह सकते है—

"मेरी जिभ्या बिस्नु नैन नाराइन हिरदै बसहि गोबिन्दा।
जम दुवार जब लेखा मांगे तब का कहेसि मुकन्दा॥"

कबीर की ब्रह्म-सम्बन्धी उपासना की धारणा तो वैष्णव-मत से प्रभावित है ही, भक्ति भावना और भक्ति के उपादानों सम्बन्धी धारणाओं पर भी इस सब का पर्याप्त प्रभाव देखा-पढ़ा जा सकता है। वैष्णवों ने प्रेमपूर्ण भक्तिवाद की जो मान्यताएं व्यंजित की है, कबीर उनके साथ पूर्णतया सहमत प्रतीत होते है। उन्हें नारदी-भक्ति का अनुयायी कहा जा सकता है। उन्होंने एक स्थल पर कहा भी है—

"भगति नारदी मगन कबीरा।"

अन्यत्र भी कबीर कहते हैं—

"भगति नारदी हृदय न आई,
काछि कूछ तन दीना।"

वैष्णवों द्वारा सम्पादित भक्ति-योग में जिन यम-नियमो, सत्य, अहिंसा, असंचय, अस्तेय आदि पर बल दिया गया है, कबीर लोक-परलोक दोनों प्रकार की साधनाओं के लिए उन सबको परमावश्यक स्वीकार करते है। कबीर ने सदाचार, उदारता, धीरज, सन्तोष, शील, क्षमा, दया आदि पर जो विशेष बल दिया है, वह भी वस्तुतः भागवत् या वैष्णव मत के अनुरूप ही है। वैष्णवी प्रवृत्यात्मकता को स्वीकार करते हुए कबीर लोकसंग्रह के भाव को ब्रह्म-प्रेरित कर्त्तव्य कर्म मानते हुए कहते है—

"मोहि आग्या दई दयाल,
दया कर काहू को समझाय।"

वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-पांति का भक्ति के क्षेत्र मे खुला विरोध भी कबीर पर वैष्णव-प्रभाव की देन कहा जाता है। तभी तो उन्होने कहा—

"जाति-पांति पूछै नहि कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥"

इन सभी तथ्यों, प्रभावों के आलोक में डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर को एक प्रकार का पूर्ण वैष्णव स्वीकारा है। डॉ० त्रिगुणायत यह भी कहते हैं कि कबीर को स्वामी रामानन्द से राम-नाम प्राप्त हुआ था। विशिष्टाद्वैत के साथ-साथ अद्वैतवाद और प्रेम-योग का सम्मिश्रण भी कबीर पर रामानन्द के प्रभाव का ही परिणाम है। वे मानते हैं कि "मेरा अनुमान है कि रामानन्द ने साधारण जनता को भक्ति के लिए सगुण राम का उपदेश दिया था और साधनों में यौगिक निर्गुण राम को आराध्य ठहराया था।—कबीर ने इस बात मे रामानन्द का पूरा अनुसरण किया था। उन्होंने भक्ति के लिए 'पुरुषावतारदि' का आश्रय लिया है। योग क्षेत्र में वे शून्यवासी निगुर्ण राम के साधक थे ही, किन्तु ज्ञान-क्षेत्र में उनका ब्रह्म उपनिषदों और योगियों के ब्रह्म के समान द्वैताद्वैत विलक्षण और परात्पर हो गया है।"

बौद्ध धर्म और उसकी शाखा-प्रशाखाओं ने अपने युग और बाद में भी भारतीय अध्यात्म-साधना को अनेकशः प्रभावित किया है। जहाँ तक कबीर का प्रश्न है, उन्हें बौद्ध धर्म की महायान-शाखा से ही पर्याप्त प्रभावित स्वीकारा जाता है। इसी से प्रभावित होकर कबीर ने लोक और वेद के अन्धानुकरण का खुला विरोध करते हुए कहा है—

"पाछै लागा जाइ था लोक-वेद के साथ।
आगे ते सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथ॥"

या फिर अन्धानुयायियों को भेड़ों के झुण्ड के समान विनाश-मार्ग पर अग्रसर बताते हुए वे कहते हैं—

"ऐसी गति संसार की ज्यों गाडर को ठाट।
एक गिरा जेहि खाड़ में, सबै जाहिं तेहि बाट॥"

इस प्रकार की उद्‌भावनाएं करते हुए निश्चय ही उनका व्यक्तित्व एक क्रान्ति-द्रष्टा युग पुरुष के रूप में उभरने लगता है। वे परम्परागत अन्धानुयायी पण्डितवाद और मुल्लावाद दोनों का डटकर विरोध कर नया मार्ग प्रशस्त करते हुए दीख पड़ते है। उनका दृढ़ आत्मविश्वास आध्यात्मिकता एवं बौद्धिकता दोनों की समन्वित देन है। कबीर ने बौद्धों के समान ही संसार के आवागमन को सभी प्रकार के दुःखों का मूल कारण मान इनसे छूटकारे की प्रेरणा दी है—

"धावत जोनि जनमि भ्रमि थाक्यो,
अब दुःख करि हम हार्यो रे ।"

कर्मवाद का महत्व भी उन्होंने स्वीकारा है—

"कर्म फांस जग जाल पसारा,
ज्यों धीवर गहि मछली मारा ।"

बौद्ध मत की अन्य प्रमुख धारणाओं के स्वरूप भी कबीर की उक्तियों में सहज ही खोजे जा सकते हैं। पर अपनी भक्ति की अटल धारणा ही उनका वह सम्बल है जो इन सभी से छुटकारा दिलाने वाला है—

"हरि हृदय एक ग्यान उपाया,
तातें छूटि गई सब माया ।"

सांसारिक दुःखो से छूटकारे के लिए बौद्धो के समान ही कबीर ने तत्व-चिन्तन, भक्ति एवं यौगिक-साधना के अनेक समन्वित उपाय चितेरे हैं। सन्यास एवं ज्ञान का महत्व भी उन्होंने प्रतिपादित किया है। पर सभी जगह उनका चिन्तन प्रायः महायानियों के समान ही लोक-सग्रहात्मक रहा है। तभी तो एक स्थान पर उन्होंने कहा है—

"जब लगि भाव भगति नहि करिहों,
भवसागर क्यों तरिहौं ।"

कबीर बौद्धों के क्षणिकवाद और शून्यवाद से भी प्रभावित थे। पर इस प्रभाव को उन्होंने अपनी मान्यताओं के रग में रंगकर ही दर्शाया है। वे बौद्ध एवं उपनिषद्-मत का समन्वय करते हुए परम तत्व को अचिन्तनीय एवं अनिर्वचनीय या अवर्णनीय स्वीकारते है—

"भारी कहौं तो बहु डरौं, हलका कहौं तो झूठ ।
मैं क्या जाणू राम कूं, नैना कबहुँ न दीठ ॥"

कबीर का मध्यमार्ग, वैराग्य भाव, साम्य या समतावाद, वर्णाश्रम धर्म के प्रति उपेक्षा-भाव आदि बहुत-कुछ बौद्ध मत से प्रभावित है, यह तथ्य उनकी अनेकविध काव्योक्तियों से स्पष्ट उजागर हो जाता है।

उपरोक्त विविध प्रभावों के साथ-साथ कबीर की वाणी वज्रयानी और सहजयानी सिद्धों के कई सिद्धान्तो से भी प्रभावित कही जा सकती है। सहजयानी सिद्ध सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव ब्राह्मणो और बौद्धो दोनो के विधि-विधानों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ स्वीकारा जाता है। बाद में जब

यह सम्प्रदाय तंत्र-मंत्रवादी बन गया तो इसी का स्वरूप विकृत होकर ब्रजयान के रूप में सामने आया। सहजयानी सिद्धों ने अपनी साधना मे चित्त-शुद्धि एवं मनोनिरोध को विशेष महत्व दिया है। साधना में आत्मनिग्रह का आवश्यक महत्व भी इन्होंने प्रतिपादित किया। हठयोग में इन्होंने नाड़ी-चक्र-साधना पर अधिक बल दिया। ब्रह्म की सत्ता को ये लोग अन्तस्थ या हृदयस्थ स्वीकारते थे। अतः अभिव्यंजनामूलक रहस्यवादी चेतनाएं भी इनमे सुलभ है। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति इनकी मुख्य प्रवृत्ति कही गई है। वर्ण-व्यवस्था, नदी-स्नान तीर्थादि की यात्रा आदि को इन्होंने बेकार बताया था। तात्पर्य यह है कि धर्म-साधना को सहजरूप देने का प्रयत्न करने के कारण ही इन सिद्धों की शाखा-सहजयान कहलाई। इसी का प्रभाव हमे कबीर पर स्पष्ट दिखाई देता है। ऊपर इनके जिन सिद्धान्तों का प्रमुखतः उल्लेख किया गया है, कबीर-वाणी में उन्हें सहज ही खोजा जा सकता है। हाँ, वज्रयानी सिद्धों ने साधना मे जो वाम मार्ग अपना लिया था, मांस-मदिरा और भोग की प्रवृत्तियों को, तंत्र-मंत्रादि की साधनाओं को बल दिया था, कबीर मे उस सब का समावेश नहीं बल्कि खुला विरोध ही दिखाई देता है। कबीर की खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति तो प्रसिद्ध है ही। एक उदाहरण देखें—

"पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार।
तातै यह चाकी भली पीसि खाय संसार॥"

यहां लोक-संग्रह की स्पष्ट भावना भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार वे मुल्लावाद के बाह्याचारों का खण्डन करते हुए कहते है :

"कांकर-पाथर जोरि कै मस्जिद लई चिनाय।
ता चढ़ मुल्ला बांग दै, बहरा हुआ खुदाय॥"

इसके विपरीत कबीर ने सहजयानियों के समान ही सहज भक्ति एवं साम्यता को प्रश्रय दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रदत्त कबीर सहज-साम्य-साधना का उदाहरण प्रस्तुत है—

"जिहि वन सिह न संचरै,-पांखि उड़े नहिं जाय।
रैन-दिवसा का गम नहीं, तह कबीर रहा लौ लाय॥"

भारत मे कबीर के पूर्ववर्ती एवं समकाल में एक निरंजन पंथ भी विद्यमान था। इस पंथ और कबीर की बहुत-सी मान्यताएं मिलती-जुलती है। संभावना यद्यपि यह भी हो सकती है कि नाथ-पंथ की परवर्ती शाखा होकर यह मत

 635-85

कबीर से प्रभावित रहा हो, पर डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत एवं कुछ अन्य विद्वानों ने भी कबीर को इस सम्प्रदाय की कई मान्यताओं से प्रभावित स्वीकारा है। डॉ० बड़थ्वाल की मान्यता है कि निरंजनियों का 'साधना मे उल्टा मार्ग' कबीर के प्रेम-भक्ति-मार्ग से प्रेरित योग मार्ग का ही रूप है। निरंजनी सुषुम्ना नामक नाड़ी को जगा अनहद नाद-श्रवण मे ही निरंजन ब्रह्म की अनुभूति पाते है। नाम-स्मरण को आत्मा-परमात्मा को जोडने वाली डोरी मानते है। निश्चय ही कबीर ने भी इन बातो को प्रायः स्वीकारा है। इनके समान कबीर ने त्रिकुटी-साधना एवं अजपा-जाप को भी महत्व दिया है। कबीर का प्रेम-विरह का भाव भी बहुत-कुछ इनसे प्रभावित कहा जाता है। इसी प्रकार कबीर की परोक्षानुभूतिया भी निरंजनियों के समरूप ही है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"गगन गरजि मघ जोइये तहां दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरसिहैं, तहं भीजत है सब सन्त रे॥

शाक्त मतानुयायी तान्त्रिकों-मान्त्रिकों से कबीर का सहजात विरोध था। पर वे सार-सत्य के ग्राही भी थे। अतः इनकी दो-एक अच्छी बातों को भी कबीर ने अपनी साधना-पद्धति में अपना लिया है।

### नाथ-सम्प्रदाय और कबीर—

कबीर की साधना-पद्धति को नाथ सम्प्रदाय से सर्वाधिक प्रभावित एवं उसके परवर्ती काल मे विकसित स्वीकार किया जाता है। यों मध्यकाल के प्रायः अन्य सभी सम्प्रदाय भी नाथमत से काफी कुछ प्रभावित हुए, पर कबीर का मार्ग उन सब में से नाथ-मत के सर्वाधिक निकट स्वीकार किया गया है। नाथ-पंथ में योगी के स्वरूप का विशेष महत्व है। उसके विशेष प्रकार के चिह्न एवं लक्षण विचारे गए है। कबीर भी उन्ही मान्यताओं के अनुरूप योगी के स्वरूप का वर्णन करते हुए अपनी वाणी मे कहते है—

"बाबा जोगी एक अकेला, जाके तीरथ व्रत न मेला।
झोली पत्र विभूति न बटुआ, अनहद बैन बजावै॥
मांगि न खाइ न भूखा सोवै, घर-अंगना फिर आवै।
पांच जना की जमात चलावै, तासु गुरू मैं चेला।"

योगी द्वारा इन चिह्नों को मानसिक स्तर पर धारण करने की बात भी कही गई है। तभी तो कबीर कहते है—

"सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
रांति-दिवस न करहिं निद्रा॥
मन में आसण मन में रहना, मन का जप तप मनसू कहना।
मन में खपरा मन में सींगी, अनहद नाद बजावै रंगी॥
पंच पर जारि भसम करि भूका, कह कबीर सो लहसै लूका॥"

इस प्रकार की मानसिक साधना के लिए जिन सात्विक तत्वों की जरूरत होती है, कबीर ने अपनी वाणी में उन सबका भी यथोचित संकेत किया हैं। नाथपंथी वैदान्तियों, सांख्य शारीफयों, बौद्धों, जैनों और मीमांसकों आदि से अपने को अलग मान वेद-शास्त्रों पर भी विश्वास नही रखते। यज्ञ-याग पर नही, मात्र 'ओंकार' को ही महत्व देते हैं। पुस्तकीय ज्ञान इनकी दृष्टि में महत्वहीन है। ब्रह्म के प्रति ये लोग द्वैताद्वैत विलक्षण भाव रखते है। शब्द को महत्व न दे ये लोग 'शब्द-नाद' को महत्व देते हैं, क्योंकि वही ब्रह्म का अंश है। इनके मतानुसार नाद और बिन्दु के संयोग से ही सृष्टि का सृजन हुआ करता है। इनकी दृष्टि मे नाद-स्वरूप मे लयलीनता ही मुक्ति है और वह अद्वैत के आनन्द से भी परे की एक सदानन्द की अवस्था का नाम है। अतः वह बाह्याचारों के निर्वाह से कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। माया की चर्चा ये लोग विद्या और अविद्या माया दो रूपों मे करते है। कबीर की वाणी मे इन सभी प्रकार की मान्यताओं का प्रभाव प्रायः देखा जा सकता है। कबीर का परम तत्व बहुत कुछ नाथपथियों जैसा ही है—

"सरीर सरोवर भीतर आछे कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुषोत्तमो जाके रेख न रूप॥"

× × ×

"ज्योति स्वरूप तत अनूप, अमलन मल, न छांह न धूप।"

कबीर ने 'नाम-बिन्दु' या 'नाद-ब्रह्म' की चर्चा तो की ही है, माया का उल्लेख भी अनेकशः नारी-रूप या 'महाठगिनी' के रूप में किया है। कबीर राम-कृपा, गुरु से प्राप्त ज्ञान और साधना से माया-बन्धकों से छुटकारा पाने की बात भी लगभग नाथपथी-सिद्धान्तों के अनुरूप ही कहते है। इस तरह कबीर की दार्शनिक चेतना में कई प्रकार के नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का काव्यात्मक उल्लेख मिल जाता है।

जहाँ तक नाथ-सम्प्रदाय की साधना-पद्धति के कबीर पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रश्न है, प्रायः सभी विद्वानों ने उसे भी कई रूपो मे स्वीकारा है। इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना, मान-साधना आदि का कबीर की वाणी एवं साधना-पद्धति में भी विशेष प्रभाव एवं उल्लेख मिलता है। पर वह सब कबीर के निजत्व से पूर्णतया परिवेष्टित है। इस कारण कबीर को नाथपंथियों या अन्य किसी का भी पिच्छलग्गू कतई स्वीकार नही किया जा सकता। कबीर द्वारा मनो-साधना की बात की महत्ता उन्ही की कर्मठ वाणी के उदाहरण के रूप में देखें —

"मैंमन्ता मन मारि रे नन्हा करि-करि पीस।
तब सुख पावै सुन्द री ब्रह्म झलकै सीस।"

प्राण-मन-साधना को महत्व देते हुए कबीर 'अंजन माहि निरंजन' रहने की बात भी कहते हैं, ताकि 'बहुरी न भव जल आय।' अर्थात् आवागमन के बन्धन से छुटकारा या मुक्ति मिल जाए।

दर्शन-भाव-साधना आदि के साथ-साथ कबीर की साधना एवं वाणी अभिव्यंजना-पद्धति (भाषा-शैली) की दृष्टि से भी नाथ-सम्प्रदाय के योगियों से पर्याप्त प्रभावित स्वीकार की जाती है। यह प्रभाव कही-कही तो इतना गहरा गया है कि भाषा-भाव-छन्द तक एकमेक होकर रह गए है। गोरख और कबीर दोनों की वाणी मे साम्यता दर्शाने के लिए उदाहरणस्वरूप (दोनों की वाणी में पाया जाने वाला) प्रायः निम्नलिखित छंद प्रस्तुत किया जाता है—

"यह मन सकती यह मन सीव।
यह मन पांच तत्वों का जीव ॥
यह मन जै उनमन रहै।
तो तीन लोक की बात कहै ॥"

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार—"वाक्यों और वाक्यांशों की तो कोई बात ही नही है। कबीर ने गोरख के न मालूम कितने वाक्य और वाक्यांश ज्यों के त्यों अपना लिए हैं। गोरख का 'उलटि पवन पट चक्र वेधिया' वाक्य कबीर की वानियों मे अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।" इसी प्रकार कबीर द्वारा प्रयुक्त शब्द, उनसे वाक्यों की योजना आदि भी गोरख या नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित है। नाथ-सम्प्रदाय या गोरख की रहस्यमयता भी कबीर में ज्यो की त्यों देखी जा सकती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, विचार, भाषा

और अभिव्यंजक-पद्धति आदि प्रायः सभी स्तरों पर कबीरवाद नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित है।

## सूफीवाद और इस्लाम का प्रभाव—

जैसा कि हम आरम्भ में भी कह आये है, डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति कुछ विद्वान संत मत एवं कबीर की चेतना को उत्तर भारत पर पड़ने वाले इस्लाम के प्रभाव की देन मानते है। इस मान्यता के आलोक मे स्वीकारणीय तथ्य केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अन्य अनेक प्रभावों के समान कबीर एवं उनके संत-सम्प्रदाय पर इस्लाम तथा सूफीवाद का भी कुछ बातों में सामान्य प्रभाव अवश्य पड़ा। पर सम्पूर्णतः एवं समग्रतः सन्त मत को उसी की उपज या देन तो नही ही कहा जा सकता। कबीर की रचनाओं में सूफियों के नियतिवाद, साम्य या समतावाद, पैगम्बरवाद एवं नूरवाद के यत्र-तत्र विखरे कुछ उदाहरण ही उपलब्ध होते है। अन्य दीन और इस्लाम जैसे तत्वों या अंगों का विशेष वर्णन निश्चय ही कही उपलब्ध नही होता। वस्तुतः सारग्राही कबीर की आस्था जिस किसी भी सम्प्रदाय में कुछ सत्य तत्व दिखाई देते हैं, उन्हें स्वतः ही ग्रहण कर लेती है। पर दीन-इस्लाम के प्रति कबीरजी की कुल वाणी में कही भी आस्था के दर्शन नही होते। इस्लाम को आस्था एवं आचरण-प्रधान धर्म माना गया है, जबकि सूफीवाद की उससे अलग हटकर कुछ आध्यात्मवादी दार्शनिक मान्यताएँ भी है। उनमें से पहली मान्यता है—'हक'।

सूफी सन्त 'हल्लाज' के अनुसार 'एक ही सत्ता का सार-तत्व प्रेम-भाव है। एक से अनेक होने की इच्छा से ही प्रेम रूप परम तत्व शून्य से अपना प्रतिरूप-आदम को प्रकट करता और उसके माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है। यह मत भारतीय विशिष्टाद्वैतवाद से काफी कुछ मिलता-जुलता है। इस प्रकार के प्रेम तत्व का कुछ आभास हम कबीर की वाणी में यत्र-तत्र अवश्य पाते है। तभी तो अपने आपको प्रेम की वर्षा में भीगा और परिणामस्वरूप हरा-भरा पाते हैं—

> "कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरसा आई।
> अंतरि भीगी आतमा, हरी भई बनराई॥"

इसी प्रकार सूफियों की जो 'इन्सान' सम्बन्धी धारणाएँ हैं, वे भी कबीर में कही नही मिलती। हाँ, सूफियों के सृष्टि-सम्बन्धी विचारों की कुछ झलक

कबीर की वाणी में अवश्य दिखाई दे जाती है। मोक्ष-सम्बन्धी कबीर के विचार भी इस्लाम या सूफियों से विशेष प्रभावित दिखाई नही देते। हाँ, जहाँ तक नैतिकता का सम्बन्ध है, केवल सूफियों ने ही नही, कबीर एवं समस्त भारतीय तत्व-साधकों ने भी उसे अत्यन्त उच्च महत्व प्रदान किया है। वैष्णव भी नैतिकता के मूल्यों की रक्षा आवश्यक मानते हैं। व्यवहार क्षेत्र मे भी इसका महत्व है। अतः कबीर इस दृष्टि से किसी विशेष मतवाद से प्रभावित हुए हों, बात जंचती नही। इसी प्रकार सूफियों ने शरीयत, हकीकत और मारिफत जैसी रहस्य-साधना की जो चार प्रमुख अवस्थाएं स्वीकारी हैं, कबीर की वाणी मे उनका क्रम-निर्वाह भी कहीं उपलब्ध नहीं होता। हाँ, कबीर का प्रेम-तत्व एक सीमा तक सूफीमत से प्रभावित अवश्य कहा जा सकता है—वह भी सैद्धान्तिक उतना नही जितना कि व्यावहारिक। सूफी प्रेम-साधना मे 'शर्बो-शुक्र' को महत्व देते हैं, जबकि कबीर उसके स्थान पर 'राम-रसायन' की चर्चा करते हुए कहते हैं—

"राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुर्लभ है मांगे सीस कलाल॥"

वह इसलिए कि—

"प्रेम न वाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट विकाय।
राजा परजा जेहि रुचे सीस देई लेह जाय॥"

सूफियों के समान प्रेम-तत्व की साधना के लिए कबीर हार्दिक सात्विकता पर विशेष बल देते हैं। प्रेम के अभाव मे जीवन को शववत् और जगत् को 'मसानवत्' कहते है। हां, कुछ प्रकारान्तर से की गई दाम्पत्य-प्रेम-अभिव्यंजना कबीर की वाणी मे पूर्णतया एवं समग्रतः पाई जाती है। कबीर ने इस सन्दर्भ में कहीं-कही तो सूफियों के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग भी एक-दम उन्ही के अनुसार किया है। रहस्य-साधना में कबीर ने सूफियों के 'प्रिय-प्रिया-भाव' या 'दाम्पत्य भाव' को पूर्णतया आत्मसात कर लिया न केवल प्रतीत होता है, बल्कि सम्पूर्ण अनुभूति दे जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि इस्लाम के प्रभाव से तो कबीर प्रायः बचे रहे हैं। पर उसके एक अंग सूफीवाद से कही-कही, विशेषकर उसकी प्रेम-साधना-पद्धति या रहस्य-साधना-पद्धति से अवश्य प्रभावित हुए हैं।

इस प्रकार ऊपरिलिखित विवेचन-विश्लेषण के निष्कर्षस्वरूप कहा जा

सकता है कि (१) कबीर पर नाथपंथियों का तो काफी प्रभाव है, पर सूफी-सम्प्रदाय का प्रभाव सीमित मात्रा में ही रेखांकित किया जा सकता है। (२) कबीर इस्लाम की संक्रान्ति की उपज कतई नही है। वे पूर्णतया क्रमागत भारतीय अध्यात्म-साधना-पद्धतियों की ही उपज है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का निर्माण एवं विकास सारग्राहिणी प्रवृत्ति के कारण अधिकांशतः एवं मुख्यतः भारतीय मत-वादों के प्रभाव से ही सम्भव हो सका, यद्यपि उन पर सामान्य कोटि के विदेशी प्रभाव भी खोजे-कहे जा सकते थे। भारतीय या विदेशी जो कुछ भी कबीर में है, वह सम्पूर्णतः एव समग्रतः उनके निजत्व एवं आत्मानुभूतियों-आस्थाओं के स्वाभाविक ढांचे मे ढलकर, पक और निखर कर ही हमारे समाने आया है।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—कबीर पर नाथपंथियों तथा सूफी सम्प्रदाय का प्रभाव दिखाइये।

प्रश्न २—"कबीर किसी क्रमागत भारतीय प्रवृत्ति की उपलब्धि हैं अथवा इस्लाम की संक्रांति की उपज"—अपना पक्ष तर्क और प्रमाणपूर्वक प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न ३—कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर पड़े विभिन्न मतवादों के प्रभाव का स्पष्ट, सोदाहरण विवेचन कीजिए।

---

# ११. कबीर : साधना अथवा योग-साधना

मध्यकालीन अध्यात्म-साधकों मे कबीर का स्थान एवं महत्व सर्वाधिक प्रमुख स्वीकार किया जाता है। वे निर्गुण-निराकार ब्रह्म के उपासक एवं साधक थे। उन्हें वेदान्त के अद्वैत एवं निर्गुण-निर्विकल्प स्वरूप मान्य एवं प्रिय थे। ब्रह्म के समान आत्मवाद पर भी उन्होंने वेदान्त के अद्वैतवाद के ढंग पर ही विचार किया है। उनकी दृष्टि में आत्मा या जीव स्वयं प्रकाशित ज्ञान-स्वरूप है। आत्मा का विद्या स्थल यह जगत् कबीर की दृष्टि में 'छाया-सा' 'माया-सा' अतएव स्वप्नवत् एवं मिथ्या-विभ्रम है। ब्रह्म ही इसका कारण है। इस कार्य-कारण सम्बन्धी उनकी धारणा भी विशुद्ध शांकर-अद्वैतवादी है। फिर भी कहा जा सकता है कि कबीर ने ब्रह्म आदि के चिन्तन के क्रम मे कुछ अन्यान्य भारतीय मतों का प्रभाव भी ग्रहण किया। ज्ञान-मार्गी होते हुए भी कबीर ने भक्ति और उसके फल मुक्ति को अद्वैतवादियो के ढंग पर ही मान्यता प्रदान की है। सबसे बड़ी एवं मुख्य बात तो यह हे कि मुख्यतः शांकर-अद्वैत एवं सामान्यतः अन्य विविध मतवादों के प्रभावों को पचा-पकाकर कबीर ने समग्रतः आत्मसात कर लिया। फिर उस सबको पूर्णतया निजत्व के साचे में ढालकर ही रूपाकार दिया या अभिव्यंजित किया। उनका वैशिष्ट्य इसी दृष्टि से रेखांकित किया जाना चाहिए।

अध्यात्म-साधना के क्रम में कबीर ने विविध प्रकार की योग-साधनाओ को अपनाया, उन्हे अध्यात्म-सापेक्ष मानकर मान, महत्व एवं अभिव्यंजना प्रदान की—ऐसा प्रायः सभी विद्वान आलोचक एवं कबीर के गम्भीर अध्येता मुक्त भाव से स्वीकार करते है। कबीर की वाणी मे यत्र-तत्र कई यौगिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं की स्पष्ट चर्चा भी मिलती है। यहां यह तथ्य स्पष्टतः उल्लेख्य है कि कबीर ने अपने को दार्शनिक-योगी आदि कुछ भी नही माना—कहा है। अध्यात्म-साधना के विकास मे इस प्रकार की बातें एक प्रकार की अनिवार्यता के रूप मे, उनकी वाणी मे स्वतः ही आ गई है। यह भी स्मरणीय तथ्य है कि कबीर मुख्यतः योग-साधना का महत्व मन एवं इन्द्रिय-निग्रह के लिए आवश्यक स्वीकारते हैं। वे मानते है कि अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में समस्त स्थूल सूक्ष्म

इन्द्रियो के स्वामी मन का नियमन आवश्यक है और यह योग-साधना या यौगिक क्रियाओं को अपनाने पर ही सम्भव हो सकता है। महर्षि पतंजलि ने भी योग का महत्व यही लक्ष्य सामने रखकर ही प्रतिपादित किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—"योगश्चित्त वृत्ति निरोध"—अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग एवं उसका परिभाषागत स्वरूप है। इसी कार्य अर्थात् मन या चित्त-वृत्तियों के निरोध या नियमन के लिए ही योग-सम्बन्धी शास्त्रों में विविध यौगिक क्रिया-प्रक्रियाओं का सविस्तार एवं विविधत् उल्लेख किया गया है। अपनी श्रुत-बहुज्ञता के कारण सत्य-ब्रह्म के साधक कबीर ने उनमें से जो कुछ उचित लगा, ग्रहण कर लिया।

भारत में योग की चर्चा और साधना की प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन स्वीकारी जाती है। श्रुति-ग्रंथों, उनके व्याख्याता उपनिषदों और अरण्यकों आदि के अतिरिक्त यहां सहज योग की क्रिया-प्रक्रिया समझाने के लिए भी प्रचुर साहित्य सिरजा गया। पातंजल-योग-सूत्र में योग का उपरोक्त प्रयोजन एवं परिभाषा बताने के बाद उसके आठ अंगों की भी 'अष्टांग-योग' के नाम से सुविस्तृत चर्चा की गई है। वे आठ अंग क्रमशः इस प्रकार अभिहित किए गए हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। आगे चलकर चित्त-नियमन के बाद ब्रह्म और जीव में तादात्म्य कराने वाली अध्यात्मवादी साधना को भी योग कहा जाने लगा। परिणामस्वरूप गीता में उन क्रियाओं की संख्या आठ से अठारह हो गई। अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में अष्टांग योग के आधार पर ही हठ योग, मंत्र योग, तप योग, राज योग आदि विविध रूपों का क्रमिक विकास हुआ। कबीर स्वभावतः मात्र कथनी पर विश्वास करने वाले साधक नहीं थे, बल्कि करनी के पक्षपाती थे। अर्थात् अनुभव के बाद उन्हें जहां सत्य दिखाई देता उसी को अपनाकर महत्व देते एवं प्रचारित-प्रसारित भी किया करते थे। अतः अपनी साधनात्मक क्रिया-प्रक्रियाओं में उन्होंने प्रचलित सभी योग-विधाओं का गम्भीर निरीक्षण एवं परीक्षण किया। उसके बाद ही वे स्वानुभूतिमूलक 'सहज योग' का प्रतिपादन कर पाने में समर्थ हुए जिसका पर्यवसान उनकी प्रपत्तिमूलक भक्ति-भावना या भक्ति-योग में स्वीकार किया जाता है। विद्वान योग-साधना के क्षेत्र में इस तथ्य को कबीर का चरम सिद्धान्त स्वीकारते हैं।

अपनी साधना विशेषतः योग-साधना के क्षेत्र में कबीर ने मन-निग्रह एवं

चित्त के नियमन पर सर्वाधिक एवं सर्व-प्रथम बल एवं महत्व दिया है। मन समस्त इन्द्रियों का स्वामी एवं कर्ता है। वह कर्ता-हर्ता और विभु भी है। कबीर मानते हैं कि यदि मन को नियंत्रित कर लिया जाए, तो फिर साधक के लिए कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता और वह स्वयं विधाता हो जाता है—

"जो मन राखै जतन करि, तो आपै करता सोई।"

मन साधने के लिए ही कबीर ने समस्त-योग-साधनाओं के सारभूत 'सहज समाधि' की परिकल्पना की और सामान्य जन का मार्ग या क्षेत्र प्रशस्त कर दिया। कबीर की धारणा के अनुसार सहज-समाधि की स्थिति को पाने के लिए 'मन का उलटना' आवश्यक है। मन की चंचलता का नियमन इस प्रकार करना चाहिए कि जैसे तकुए पर सूत लपेटा जाता है—

"मन के मतै न चालिए, छांड़ि जीव की बानी।
ताकू केरा तार ज्यों उलटि अपूठा आनी॥"

इस प्रक्रिया से ही द्रुतगामी, चंचल मन का नियमन होकर उसमें निर्मलता एवं स्थिरता आ सकती है। तब वह अध्यात्म-साधना के मार्ग में बाधक न रहकर सहायक बन जाया करता है। उलटा मन स्वयं सनातन हो, गोरख-गोविन्द का स्वरूप बन जाया करता है। समस्त व्याधियां, समाधियों एवं दुःख-कष्ट सुख-मूल बन जाया करते हैं। इसी सबकी ओर इंगित करते हुए साधक कबीर ने स्पष्ट कहा है कि—

"अब हम सकल कुसल करि माना। सांति भई जब गोविन्द जाना॥
तन में होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि॥
जमं ते उलटि भया है राम। दुख विनसे सुख किया विसराय॥
बैरी उलटि भए हैं मीता। साकत उलटि सजन भए चीता॥
अब मन उलटि सनातन हूवा। तब जाना जब जीवत मूवा॥
कहै कबीर सुख सहजि समावउं। आपि न डरौं न और डरावउं॥

मनः-साधना एवं इन्द्रिय-निग्रह के लिए कबीर ने सिद्धो-नाथों के हठ-योग को भी अपनाया। अपनी साधना में इसका भी सतत परीक्षण किया। इसकी समस्त क्रिया-प्रक्रियाओं का वर्णन-विवेचन करते हुए उन्होंने कुण्डलिनी-जागरण के लिए तत्सम्बन्धी अनेक नाड़ी-चक्रों-इंगला-पिंगला आदि का उल्लेख एवं साधना की है। दश द्वार, बावन कोठरी, चौदह चन्दा, चौंसठ दीया, बारह कोश, सात सुरति, सोलह शंख एवं बहत्तर नाडियों आदि की चर्चा भी कबीर

ने हठ-योग-साधना की प्रक्रिया के रूप में ही की है। इन प्रक्रियाओं की चर्चा और साधना अनेकशः साधक को रहस्यवादी भी बना देती है। कबीर की वाणी में इन सभी प्रकार की साधनाओं की यथेष्ठ चर्चा और प्रक्रिया प्रथमावस्था के रूप में प्राप्त होती है। पर अगले चरण में पहुंच कबीर की अस्पष्टता का परिहार होकर उसमे स्पष्टता आती जाती है। वे हठयोगियों, तांत्रिकों एवं नाथपंथियों से प्रभावित होकर ही अपनी क्रिया-प्रक्रिया एवं प्रतिक्रिया व्यंजित करते है। वे तब पट् चक्रभेदन, त्रिवेणी-स्नान और ब्रह्म-रन्ध्र से अमृत पान करने जैसी बातें कहने लगते हैं। उदाहरण दृष्टव्य है—

"कदली कुसुमदल भीतरा, तह छः अंगुल का बीच रे।
तहं दुआर दस खोजि ले, जनम होत नहीं नीच रे।
वंक नाल के अंकरे, पछिन दिशा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिए, तहां भंवर गुफा के घाट रे॥"

और इसी प्रकार योगाभ्यास की स्थितियों में होने वाली उपलब्धियों का उल्लेख वे अपनी वाणी मे यत्र-तत्र करते जाते हैं। पर उनकी यह दृढ़ धारणा है कि जब तक साधक मन का दृढ़, आसन का पक्का और नितान्त निर्मल चित्त वाला नही हो जाता, तब तक अपने चरम गन्तव्य पर कदापि नही पहुंच पाता। इसीलिए कबीर एक प्रकार से चेतावनी के स्वर में कहते है—

"आसन पवन किए दृढ़ रहु रे,
मन को मैल छांड़ि दे बौरे॥"

और हठ-साधना की अन्तिम अवस्था मे पहुंचते हुए कबीर की चेतना प्रेम-भाव से समन्वित होकर सहज-साधना या कबीर की सहज-समाधि की ओर अग्रसर परिलक्षित होने लगती है, उससे सहज भक्ति का भाव एवं तरल-सरल विश्वास भी समन्वित प्रतीत होने लगता है। शून्य तत्व 'सहज-सुनि' हो उठता है और कबीर का आत्माराम आनन्द का झूला झूलने लगता है—

"हिंडोलना तह झूलैं आतम राम।
प्रेम-भगति-हिंडोलना सब सन्तन को बिस्राम॥
चंद सूर दुई खंभवा बंक नालि की डोरि।
झूलैं पंच पियरियां तह झूले जीय मोर॥
द्वादस गम के अन्तरा तहं अम्रित को आस।
जिन यहु अम्रित चाखिया, सो ठाकुर हम दास॥

सहज सुनि को नेहरी गगन मंडल सिर मोर ।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलैं हिंडोल ॥"

सिद्ध सरह से इस सन्दर्भ में कबीर विशेष प्रभावित दिखाई देते हैं। उनकी मान्यता है कि—

"चंद सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ ।
सो आणुतर एत्थु पअट्ठइ ॥"

अर्थात् जब चन्द्र-सूर्य अथवा प्रज्ञा-उपाय दोनों को घिस-घोंटकर उनका अस्तित्व समाप्त कर दिया जाए, तब यह स्थिति आती है। प्रेम-योग से समन्वित इस रस का पान करके ही सच्चा योगी आनन्द की अनुभूति में सराबोर हो जाया करता है। निजी सुखों का त्याग और इस रस के पान करने से ही कुण्डलिनी का जागरण सम्भव हो पाता है कि जो साधक का गन्तव्य है—

"चन्द्र सूरे दोई भाठी कीन्हीं सुख मनि चिगवा लागी रे ।
अमृत को पी सांचा पुरया मेरी तृष्णा भागी रे ।
यह रास पीवे गूंगा महिला ताकि कोई न बूझै सार रे ।
कहै कबीर तहा रस मंहगा को जीयेगा जीवनहार रे ॥"

मन की साधना की चरमावस्था यही है कि जो योग-साधना को अजर-अमर कर दिया करती है। यहां यह तथ्य विशेष ध्यातव्य है कि हठयोग की साधना को नाथपंथी गोरखनाथ ने शैव-मत के प्रभाव से एक नया स्वरूप प्रदान किया था। इनके शब्दों मे 'हठ' के 'ह' का अर्थ 'चन्द्र' और 'ठ' का अर्थ 'सूर्य' स्वीकार किया गया है। इस प्रकार चन्द्र-सूर्य का योग ही हठयोग है और कबीर की एतत्सम्बन्धी वाणी में आए चन्द्र-सूर्य जैसे शब्द भी इसी तथ्य के प्रतीक-परिचायक है। कबीर ने अपनी वाणी मे यत्र-तत्र इन शब्दों का प्रयोग तो किया ही है, कुण्डलिनी-योग-सम्बन्धी विशेष शब्दावली का भी उन्होंने काफी प्रयोग किया है। षड्चक्र-भेदन जैसी हठयोग की कुछ प्रक्रियाओं को भी महत्व दिया है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि योग-साधना के क्षेत्र में वे नाथपंथियों के समान सम्पूर्णतः समर्पित ही थे, नही, ऐसी कोई बात नही। सारग्राही एवं बहुश्रुत होने के कारण यहां भी उन्होंने उतना ही ग्रहण किया, जितना अपनी अध्यात्म-साधना के लिए परम आवश्यक स्वीकार किया। हठ-योग कबीर के लिए मनः-साधना का एक साधन मात्र है, चरम साध्य नहीं।

इस पंथ के अवधूतों की भाषा में ही अनेकशः कबीर इस पद्धति की त्रुटियों एवं अपूर्णताओं को लक्षित करते-कराते हुए भी देखे जा सकते हैं। सहज साधना को महत्व देते हुए कबीर नाथ-पंथी जोगियों के बाह्योपकरणों का खुला मजाक भी उड़ाते है और फिर सहज-योग के मार्ग का पथ-प्रदर्शन भी करते हैं। बाह्य उपकरणों एवं वेश का महत्व अस्वीकारते हुए कबीर कहते हैं—

"सो जोगी जाके मन में मुद्रा,
रैनि-दिवस न करई निद्रा।
मन का आसन मन में रहना,
मन का जप-तप मन सूं कहना।
मन में खपरा मन में सींगी।"
......................इत्यादि।

हठयोगियों के बाह्याचारों और वेश को आडम्बर मानकर ही कबीर इस ओर से मुख मोड, धीरे-धीरे लय योग की ओर झुकते गए। कबीर-पंथी इस 'लय-योग' को 'सुरति-शब्द-योग' या फिर 'शब्द-सुरति-योग' भी कहकर अभिहित करते है। अपनी सहज-समाधि वाली अवधारणा को व्यापक बनाने एवं मूर्त करने के लिए ही कबीर ने लय-योग या सुरति-शब्द-योग को अधिक महत्व दिया। 'सुरति' से तात्पर्य है चित्तवृत्ति, 'शब्द' का अर्थ है शरीर के भीतर हमेशा होते रहने वाला अनाहत ता अनहद नाद। इस प्रकार उस अनाहत या अनहद नाद में चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण लय ही 'सुरति योग' है। 'शब्द-ब्रह्म' के प्रति अपनी आस्था के कारण ही कबीर ने अपने राम को 'शब्द-ब्रह्म' भी और ही कहकर चितारा एवं पुकारा है। सुरति-योग की साधना कर साधक अपना मन केन्द्रित कर शब्दमय ब्रह्म (अनहद नाद) में ही लय या लीन हो जाया करता है—मुख्यतः एवं मूलतः 'सुरति-शब्द-योग' और कबीर की इस प्रकार की साधना का भी यही अर्थ एवं प्रयोजन है। तभी तो कबीर ने कहा भी है—

"अनहद शब्द उठै झनकार,
तह प्रभु बैठे समरथ सार।"

'ओंकार' को शब्द-ब्रह्म का प्रतीक मानकर ही कबीर ने विशेष महत्व दिया है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत की मान्यता है कि कबीर ने 'प्राप्ता-आत्मा' को सुरति नाम से और 'प्राप्तव्य आतमा' को निरति नाम से अभिहित किया

है। इन अर्थों के सन्दर्भ में ही कबीर साधना का शब्द-सुरति-योग एक प्रकार का अध्यात्मयोग कहा जा सकता है। इसी सन्दर्भ में कबीर कहते हैं—

**"सुरति समानी निरति में, निरति भई निरधार।**
**सुरति-निरति परचा भया, तब खूले स्वयंभ दुवार॥"**

और इसी अर्थ एवं सन्दर्भ में कबीर 'साहब सुरति स्वरूप' भी कहते है—ऐसी डॉ० त्रिगुणायत की स्पष्ट मान्यता है, जो अन्य अनेक विद्वानों की मान्यताओं का विश्लेषण करने के बाद उचित प्रतीत होती है। कबीर की शब्द-सुरति-योग-साधना मे जो विभिन्न अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं, उनकी गति-दिशा भी जटिलता से सरलता या सहजता की—अर्थात् सहज योग की ओर ही अधिक है। कबीर ने चक्र-भेदन, धोती-नेति और वस्ती आदि सुरति-योग से सम्बन्धित हठमार्गियों की क्रियाओं को कोई महत्व नही दिया, उनकी नितान्त उपेक्षा ही कर दी है। सुरति को मनो-साधना के बल पर त्रिकुटी तथा ब्रह्म-रन्ध्र मे केन्द्रित करने की प्रेरणा देते हुए कबीर कहते है—

**"द्वादश दल अभि अंतरि स्यन्त**
**तहां प्रभु पाइसि करिलै च्यन्त।"**

योग-साधना का क्रम क्रमशः सरल से सरलतर होता जाता है और वे इंगिला-पिंगला आदि के साथ मनो-साधना की बात की कहने लगते है—

**"मन मंजन करि दसवें द्वारि,**
**गंगा-यमुना सिन्ध विचारि।"**

इस प्रकार क्रमशः चलते हुए अन्ततोगत्वा वे पूर्णतया सहज-साधना या सहज-योग की स्थिति पर पहुंच इडा-पिंगला-रूपी गंगा-यमुना के मध्य स्थित प्रज्ञावस्था रूपी सहज शून्य घाट पर अपना ऐसा मठ स्थापित कर लेते है कि जो ऋषि-मुनियों के लिए भी काम्य विषय है—

**"गंग-जमुन के अन्तरै, सहज सुन्नि लौं घाट।**
**तहां कबीरा मठ रचा मुनि जन जोवें बाट॥"**

ऐसा मठ कोई कबीर जैसा योग-साधक एवं मस्त-मौला नव्यता एवं भव्यता का चिन्तक ही रच सकता था। कबीर की इंगला-पिंगला (सूर्य-चन्द्र) के योग के द्वारा एक सुषम्ना-नामक घर में स्थापित कर देने की बात भी दावे के साथ कह सकता था—

"सूर समाना चांद में, दुहूं किया घर एक।
मन का चेता तब भया, कछु पूरबला लेख ।।"

द्वैत समाप्त हो अद्वैत या पूर्ण तादात्म्य की स्थिति आ जाती है। उन्नयित मन-मस्तिष्क के लिए सभी कुछ एकमेक हो सहज-सरल हो जाता है। बाह्य वक्रताएं नही रह पाती और कबीर गाने लगते हैं—

"अमिलन मिलन घांम नहिं छाहां।
दिवस न राति कछू है ताहां।।
टार्‌यौ टरै न आवै जाइ।
सहज सुन्नि मैं रह्यौ समाइ।।"

वह सहज, जो पंचेन्द्रियजन्य सुख-दुःखात्मक स्थितियों से कही परे है, जहाँ सभी विषय-वासनाएं मिट जाती है, जहां गुण रूप एक ब्रह्म भाव ही हृदय में रह जाते है—वही सहज सुख प्राप्त हो जाता है। पर कबीर का यह सहज योग और सहजयोगी का स्वरूप अन्य योगों एवं योगियों से सर्वथा भिन्न है। उसी भिन्नता को दर्शाते हुए कबीर कहते हैं—

"अवधू जोगी जग से न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सिंगी, नाद न षंडै धारा।।
बसै गगन में दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि आकास आसन नहि छाड़ं, पीवै महारस मीठा।।
परगट कंथा मांहें जोगी, दिल में दरपन जोवै।
सहज इकीस छः सै धागा निश्चल नीकै पोवै।।
ब्रह्म अगिनि में काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेश्वर, सहज सुन्नि ल्यौ लागै।।"

कबीर मानते है कि इस सहज योग की उपलब्धि के लिए किसी विशेष आडम्बर-उपचार की आवश्यकता नही। बस, यह तो एक प्रकार की सहज दिनचर्या ही है। विषय-वासनाओं का परित्याग कर कोई भी यह सहज स्थिति पा सकता है—

"सहज-सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हैं कोय।
जिहिं सहजैं बिखिया तजै, सहज कहावै सोय।।"

स्पष्ट है कि मन की बहिर्मुख वृत्तियां उलटकर अन्तर या आत्ममुखी हो जाना की सहज होना है। अतः मनः साधना को ही कबीर सच्चा योग

कहते हैं। वे जो अन्यान्य उपाय अपनाने, हठयोग साधने आदि की बातें भी कभी-कभार करते हुए दिखाई देते है, सभी का उद्देश्य एवं गन्तव्य मन को साधकर सहज होना ही है। सहज मन ही भक्तियोग प्राप्त कर मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। हृदय को सहज किए बिना कबीर के लिए शेष सभी साधनाएं व्यर्थ हैं—

"हिरदै कपट हरि सूं नहिं सांच्यौ,
कहा भया जो अनहद नाच्यौ।"

निष्कपट हृदय से हरि-साधना करके अविगत की गति तक पहुंच पाना ही कबीर की योग-साधना का सार तत्व है। इसके लिए निश्चय ही उन्होंने विविध भारतीय मतों से सार-तत्व ग्रहण कर अपने 'सहजयोग' की खिचड़ी तैयार की है, वस्तुतः वह सहज ग्राह्य, पूर्ण स्वास्थ्यप्रदायिनी, स्वादिष्ट एवं सर्वतोभावने हितकारी है। उसका आस्वादन कर कोई भी परमार्थ साधक कबीर के शब्दों मे निर्भय कह सकता है—

"बहुरि हम काहे कौं आवहिंगे।
बिछुरै पंच तत्त की रचना, तब हम रामहिं पावहिंगे।"

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—कबीर-वाणी में योग-साधना के जो विविध रूप उपलब्ध होते हैं, उनका सोदाहरण विवेचन कीजिए।

प्रश्न २—कबीर की साधना-पद्धति में योग-मार्ग का क्या और कितना स्थान एवं महत्व है, स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न ३—भारतीय योग-साधना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए, कबीर द्वारा अपनाए गए योग-मार्ग पर युक्तियुक्त विचार कीजिए।

प्रश्न ४—'कबीर की योग-साधना' विषय पर एक निबन्ध लिखिए।

———

# १२. कबीर : निर्गुणवाद या सन्त-मत के आलोक में

मध्यकाल के भारत में (सम्वत् १३७५ से १७०० तक) भक्ति की जो व्यापक लहर चली, उसकी मुख्य दो धाराएं मानी गई हैं—एक सगुण भक्ति-धारा और दूसरी निर्गुण भक्तिधारा। सगुण भक्तिधारा के साधकों और कवियों ने सोपाधिक या सगुण-साकार मानकर ब्रह्म की उपासना या भक्ति करने की प्रेरणा दी जबकि निर्गुणवादियों ने ब्रह्म को निरोपाधिक या निर्गुण-निराकार मानकर ज्ञान एवं प्रेम के मार्ग पर चलते हुए उसकी उपासना-भक्ति की प्रेरणा प्रदान की। भक्ति-काल की इस निर्गुण भक्ति-धारा के साधक एवं कवि को एक शब्द में 'सन्त' एवं उनके द्वारा विरचित काव्य 'सन्त-काव्य' नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति इतिहासकारों की मान्यता है कि निर्गुण भक्तिधारा की ज्ञानमार्गी शाखा कवियों का समग्र दृष्टिकोण 'सन्त' शब्द से व्यंजित हो जाता है, अतः उन्हें और उनके साहित्य के लिए उपर्युक्त संज्ञाओं का प्रयोग पूर्णतया समीचीन ही कहा जाएगा।

कबीर से पहले इस प्रकार के साधक एवं कवि के रूप में एकमात्र सन्त नामदेव का ही नाम मिलता है। वे मूलतः महाराष्ट्रवासी और मराठी के ही भक्त कवि थे। हाँ, स्वल्प मात्रा में उन्होंने हिन्दी मे भी कविताएं रची थी। स्यात् उन्ही से प्रेरणा प्राप्त करके कबीर जैसे अद्भुत व्यक्तित्व ने उत्तर-पूर्वी भारत मे सन्तमत एवं ज्ञानमार्गी-निर्गुण भक्तिधारा का प्रवर्तन किया। यदि कबीर को निर्गुण मत का प्रवर्त्तक कहा जाता है, तो निश्चय ही इसमें चकित-विरचित होने की कोई बात नही। वस्तुतः कबीर ही वे व्यक्ति है जिन्होंने सन्तमत या निर्गुण मत का इतना व्यापक-विस्तृत प्रचार-प्रसार किया। उनसे पहले इतने व्यापक स्तर पर इस मत का प्रचार करने वाले अन्य किसी भी साधक या कवि का नाम भारतीय इतिहास मे नही मिलता। दूसरे सन्त मत या निर्गुण मत की जो मान्यताएं, मूल अवधारणाएं स्वीकारी गई हैं, उनकी

समग्र-सम्पूर्ण चरितार्थता के दर्शन भी हमें मात्र कबीर की वाणी में ही होते है। उन्होने परम्परागत अवधारणाओं को तो आकार-विस्तार दिया ही, अनेक मौलिक उद्भावनाएं कर के भी नव्य एवं भव्य क्षितिजों का उद्घाटन किया, उन्हें नया आयाम एवं विस्तार दिया। ये बातें तथा सन्तमत-सम्बन्धी आगे किया जाने वाला विवेचन-विश्लेषण निश्चय ही उन्हे प्रवर्त्तक के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

'सन्त' शब्द की मूल अवधारणा व्याख्या मांगती है। इसे एक प्रकार का पारिभाषिक शब्द ही स्वीकारा गया है। इसकी व्युत्पत्ति विद्वानों ने अलग और अपने-अपने ढंग से की है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालन 'शान्त' ने शब्द से सन्त की व्युत्पत्ति मान इसका अर्थ निवृत्ति मार्गी या वैरागी माना है। इस प्रकार 'सन्त मत' का अर्थ 'निवृत्ति मार्ग' ठहरता है। यह निवृत्ति उतनी कायिक नही जितनी कि आत्मिक एवं अध्यात्मिक स्वीकारी गई है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'सत् रूपी परम तत्व के ज्ञाता और तद्रूप होने वाले व्यक्ति को सन्त कहा जाता है। आचार्य विनयमोहन आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोक-मंगल की कामना करने वाले व्यक्ति को 'सन्त' कहकर अभिहित करते है। इन सभी मतों का सार-तत्व ग्रहण करते हुए अपने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' में डॉ० तिलकराज शर्मा ने लिखा है कि 'सत्य का उपासक और अपने साथ-साथ लोक-हित का साधक व्यक्ति ही सन्त होता है।' हमारे विचार में इस सम्बन्ध में और कुछ भी कहने की आवश्यकता शेष नहीं रह जानी चाहिए।

सन्तमत या निर्गुणवाद को हम युगीन परिस्थितियों की एक परम आवश्यकता एवं मांग कह सकते हैं। मध्यकाल में धर्म, समाज, राजनीति, घर-परिवार आदि के विविध क्षेत्रों में मूल्यों का जो संकट आ बना था; अनेक प्रकार के वैषम्य, आडम्बर एवं अनाचार पनपने-पलने और पुष्पित होने लगे थे, उन्हीं सबकी सबल-सम्पृक्त प्रतिक्रिया के रूप में सन्तमत का उदय हुआ—इस तथ्य में तनिक भी सन्देह नहीं। परम्परागत भारतीय धार्मिक धारणाओं से सर्वथा असम्पृक्त न होते हुए भी इस मत के रूपाकार की सर्जना आवश्यकतानुसार नव्य एवं प्रभावी परिवेश में हुई। ऐसी मान्यता है कि सातवी-आठवीं शताब्दी से ही बौद्ध मत अनेक सम्प्रदायों, भागों-विभागों में विभाजित होकर संकीर्ण-संकुचित होने लगा था। पौराणिक धर्म भी अनेकविध कुटेवों एवं वर्गों

का शिकार होकर मात्र विडम्बनाओं एवं बाह्यांचारों तक ही सीमित होकर रह गया था। धार्मिक परिप्रेक्ष्यों में प्रायः विद्वान सन्त मत को बौद्ध मत, उसके पश्चात् पनपने वाले नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आने वाले मतों आदि से प्रभावित स्वीकार करते हैं।

यह एक तथ्य है कि कबीर से पूर्ववर्ती एवं आस-पास का युग अनेकविध धार्मिक रूढियों, वैषम्यों की दल-दल में फंस निरन्तर पतनोन्मुख हो रहा था। वैयक्तिक साधना पर बल देने वाले अनेक तथाकथित धार्मिक सम्प्रदाय अस्तित्व मे आने लगे थे। वे लोग जनभाषाओं में अपनी कई तरह की रहस्यमयी एवं चमत्कारिक उक्तियों का प्रचार-प्रसार कर जन-मानस को भ्रमित कर रहे थे। अनेकविध प्रचलित वाममार्ग सुरा-सुन्दरी, वलि, मांस-भक्षण आदि को अध्यात्म-साधना का आवश्यक अंग प्रचारित कर जनसाधारण को पथभ्रष्ट कर रहे थे। उधर आक्रमणकारी इस्लाम मत का प्रभाव भी यहाँ की मानसिकता को अनेक स्तरों पर प्रभावित कर रहा था। इसी द्वन्द्व एवं संघर्षग्रस्त, ऊहापोह से भरे आध्यात्मिक एवं सामाजिक वातावरण से समन्वयवादी चेतना को लेकर, सामयिक आवश्यकता एवं मांग के अनुरूप जिस नव्य आध्यात्मिक मत या मार्ग का उदय हुआ, उसका नाम है—सन्तमत और उसके अगुआ का नाम है—सन्त कबीर।

इनकी अध्यात्म-साधना में भावना, दार्शनिकता के साथ-साथ वास्तव में जीवन की उपयोगिता के सुदृढ़ स्वर भी संवलित थे। इन्होंने अपनी आधार-भूमि व्यापक बनाई। वैष्णव मान्यताओं के प्रभावों को भी व्यापक स्तर पर आत्मसात् किया। 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' के रचयिता डॉ० तिलकराज शर्मा के अनुसार—"इन्होंने एक ओर जहाँ नाथ सम्प्रदाय की अनुभूति तथा योग-साधना की परम्परा को अपनाया, वहाँ विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेम-भक्ति तथा रहस्यमयता को भी अपनाया। स्वामी रामानन्द के प्रभावों से विकसित अद्वैतवाद और विशिष्ट द्वैतवाद के प्रभाव को ग्रहण किया। प्रेम-मार्गियों के प्रेम तत्व का प्रत्यक्ष प्रभाव भी इन पर पड़ा। अतः इसे 'सारग्राही' सम्प्रदाय भी कहा जा सकता है।" सन्त-मतावलम्बियों की इस सार-ग्राहिणी-प्रवृत्ति का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निम्नलिखित शब्दों मे किया है। यह तथ्य यहाँ विशेष उल्लेख्य है कि आचार्य शुक्ल ने ये बातें वस्तुतः सन्त कबीर की साधना के सन्दर्भ में ही कही हैं। वे कहते हैं—

"वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसीसे उन (कबीर) के तथा निर्गुणवाद वाले और दूसरे सन्तों के वचनों मे कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कही योगियों के नाड़ी-चक्र की। कही सूफियों के प्रेम-तत्व की, कही पैगम्बरी कट्टर खुदावाद की और कही अहिंसावाद की। अतः तत्व की दृष्टि से न तो हम उन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी वानी में मिलता है।" लगभग इसी प्रकार की वात डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने भी 'कवीर की विचारधारा' नामक अपनी रचना में कही हैं—"कबीर सारग्राही महात्मा थे। जहाँ कही भी उन्हें सत्य तत्व की उपलब्धि हुई, उसे उन्होंने सहर्ष ग्रहण किया। यही कारण है कि उनकी विचारधारा अनेक मतों, ग्रंथों, सन्तों और सम्प्रदायों से प्रभावित है।" इस प्रकार कबीर और उनके निर्गुणवाद या सन्तमत को हम युग की आवश्यकता एवं मांग के अनुरूप विविध मतों का सत्यसार कह सकते है।

डॉ० रामकुमार वर्मा प्रभृति कुछ इतिहासकार जो यह मानते हैं कि उत्तर भारत पर पड़े इस्लाम के प्रभाव का परिणाम ही सन्त-मत या निर्गुणवादी अवधारणा है, उचित एवं युक्तिसंगत नही कहा जा सकता। वह उपरोक्त धारणाओं के अनुसार विविध भारतीय मत-मतान्तरों का सार ही है। डॉ० तिलकराज शर्मा की ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार—"प्राचीन परम्परा भी इसके साथ है और तत्कालीन राजनीतिक आदि परिस्थितियाँ भी सन्तमत के उदय में विद्यमान हैं। सन्तों ने प्रत्यक्षतः न तो राजनीति में हस्तक्षेप ही किया और न उसके प्रभाव को ही ग्रहण किया, फिर भी अप्रत्यक्षतः राजनीति के कारण जो धर्म एवं समाज पर आघात हुए थे, उन्होंने इनके अन्तर्मन को एक विभेद और वर्गरहित समाज की संरचना की प्रेरणा अवश्य प्रदान की थी। इसीलिए उन्होने हिन्दू-मुसलमानों में एकता का प्रयत्न किया।" समाज और धर्म के समस्त कुटेवों-प्रदूषणों के विरुद्ध अपना सवल मत ध्वनित किया। धार्मिक-सामाजिक शैथिल्य, जाति-पांति और छुआ-छूत की कट्टरता आदि ने निर्गुणवादी सन्तों को सजग कर दिया था। क्योंकि वे स्वयं उन सामाजिक पर्यावरणों मे आए थे कि जो अनेकविध वैषम्यों का शिकार थे, अतः उन सबका विरोध करते समय कवीर आदि सभी सन्तों को अनेकविध अवरोधों से दो-चार होना पड़ा। उन्होंने कवीर के शब्दों मे ही इस सबके विरुद्ध तुमुल उद्घोष किए—

"सन्तन जाति न पूछो निरगुनिया।"

× × ×

"जाति-पांति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।"

वस्तुतः युगीन विषम परिस्थितियों ने ही सन्तमत के उदय के लिए एक पुष्ट आधारभूमि प्रस्तुत कर दी थी। समस्त वैष्णवों का डटकर सामना करते हुए लौकिक-पारलौकिक मुक्ति पाना ही सन्तमत या निर्गुणवाद का सार तत्व है। उसमें सहज मानवीयता एवं सामाजिकता का सर्वत्र ध्यान रखा गया है। इन तथ्यों के आलोक मे ही सन्तमत और उसके सन्दर्भ में कबीर-मत का तात्विक विवेचन कर, उन्हें निर्गुणवाद का प्रवर्त्तक, आदर्श मानव से अभिमत सन्त शब्द का महत्व, कबीर की महामानवता आदि का महत्वांकन एवं मूल्यांकन कर विशेषताओं को रेखांकित किया जा सकता है।

**सन्त दर्शन**—निर्गुणवादी सन्त-दर्शन के अन्तर्गत मुख्यतः सन्त-साधकों ने निम्नलिखित चार बातों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं—

१. ब्रह्म, २. जीव या आत्मा, ३. माया, ४. जगत्। इन चार तत्वों के प्रति कबीर आदि सन्तों ने जो मान्यताएं अभिव्यंजित की है, क्रम से उनका ब्यौरा-विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

कबीर आदि सन्तों का ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प एवं अनादि सत्य है। वही आदि, मध्य, अन्त सभी कुछ है—

"आदि मध्य औ अन्त लों आविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस कर्ता का सेवक तजै न संग॥"

वह ब्रह्म 'अलख निरंजन लखै न कोई, निरमय निराकार है सोई।" और 'नहिं सो दूर नहिं सो नियरा' है। अतः उसे ज्ञान-साधना और निर्गुण भक्ति के बल पर अपने भीतर मात्र अनुभूत किया जा सकता है, चर्म-चक्षुओं से उसके दर्शन सम्भव नही। उस एकमात्र सर्वव्यापक तत्व को किसी रूप मे बांधा नहीं जा सकता—

"वेद विर्वाजित भेद विर्वाजित, विर्वाजित पाप रु पुण्य।
ज्ञान विर्वाजित ध्यान विर्वाजित, विर्वाजित अस्थूल सून्य॥
भेष विर्वाजित भीख विर्वाजित, विर्वाजित ड्यमंक रूप।
कहै कबीर तिहु लोक विर्वाजित, विर्वाजित ऐसा तत्व अनूप॥"

वह अनूप तत्व एक है और सारे मत-पंथ उसी की ओर ही जाने वाले है।

उस परम तत्व के सत्य स्वरूप को समझकर, उसकी आन्तरिक अनुभूति पाने के लिए गुरु-कृपा से प्राप्त ज्ञान-तत्व की साधना परम आवश्यक है। कबीरजी कहते हैं—

"अविगति की गात का कहूं जस का गांव न नांव।
गुरु विहूं न का पेखिये काल घोरए नांव॥"

ब्रह्म के बाद संत दर्शन का दूसरा तत्व जीव या आतम-चिन्तन से सम्बन्ध रखता है। जीव या आत्मा को कबीर समेत सभी सन्तों ने ब्रह्म का अंश अतएव अविनाशी स्वीकार किया है। वह ब्रह्म के समान ही परम सत्य एवं नित्य तत्व है। यों देखने-सुनने में भिन्न प्रतीत होता है, पर वस्तुतः भिन्न नहीं। विभिन्नता और विभेद वस्तुतः मायाजन्य है। जब यह माया का आवरण समाप्त हो जाता है, तब सारे विभेद एवं विभिन्नताएं भी स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। इस समाप्ति के लिए जीव या आत्मा में ब्रह्म के प्रति शाश्वत प्रेम-भक्ति-भाव अनिवार्य है। कबीर आदि सन्तों ने प्रेम की पूर्णता के दर्शन केवल दाम्पत्य-भाव में ही किये हैं। इसी कारण कबीर आदि सन्तों की साधना-पद्धति में दाम्पत्य भाव की प्रमुखता एवं प्रधानता है। कबीर ने अपनी वाणी में आत्मा या जीव-तत्व पर बड़े ही विस्तार से प्रकाश डाला है। कुछ पंक्तियां देखें—

"ना इहु मानुष ना इहु देवा न इहु जती करावै सेवा।
ना इहु जोगी ना इहु अवधूता, न माह न काहू पूता॥
यह मन्दिर यह कौन बसाइ, ता का अन्त कोइ न पाई।
ना इहु गिरहीं ना ओदासी, ना इहु राजा न भीख मंगासी॥"

और इसी प्रकार आगे भी वे आत्मा के अनश्वर, सदृश्य एवं अस्पृश्य स्वरूप का अनवरत वर्णन करते जाते हैं। उनका तात्पर्य आत्मा की ब्रह्म के साथ एकरूपता का दिग्दर्शन कराना ही है।

ब्रह्म और जीव (आत्मा) के बाद सन्त दर्शन का तीसरा अंग या तत्व माया माना गया है। कबीर समेत सभी निर्गुणवादी सन्तों ने माया का अस्तित्व स्वीकार कर विविध प्रकार से उसका वर्णन तो किया ही है, उससे दूर रहने, ज्ञान-भक्ति द्वारा उस पर विजय पाने की प्रेरणा भी दी है। स्थान-स्थान पर कबीर माया की अनेक प्रकार से निन्दा करते हुए देखे जा सकते हैं। कबीर आदि सन्तों का मत है कि माया आत्मा को भ्रम-भाव में भटकाने वाला तत्व

है। इस अनेकरूपा माया के ही समस्त सांसारिक लुभावने स्वरूप है। यों यह मधुर प्रतीत होती है, पर इसका अन्तिम या चरम प्रभाव विषवत् विनाशक ही है। कबीर कहते है—

"मीठी मीठी माया तजी नहीं जाई।
अग्यानी पुरुष को भोलि-भोलि खाई॥
निर्गुण-सगुण नारी संसार पियारी।
लखमणि-त्यागी गोरख निवारी॥"

कबीर आदि सन्त मानते है कि इसके प्रभाव से छुटकारा पाने के लिए गुरु-प्रदत्त ज्ञान, भक्ति, प्रेम, सत्संग आदि परमावश्यक हैं। माया को महा-ठगिनी बताकर कबीर ने बार-बार इससे दूर रहने की चेतावनी दी है। यह भी माना है कि लोक-व्यवहारों के स्तर पर माया से मुक्ति पाकर ही पारलौकिक मुक्ति सम्भव हो सकती है। कबीर कहते है—

"कबीर माया पापड़ी हरि सूं करे हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की कहन न देई राम॥"

अतः इसके मर्म को समझ उपरोक्त साधनों से इसके प्रभावों से मुक्त होना ही कबीर एवं सभी सन्तों का चरम उद्देश्य है।

ब्रह्म, जीव और माया के बाद दार्शनिक धरातल पर कबीर आदि निर्गुण-वादी सन्त 'जगत्' को भी एक तत्व मानकर उस पर अपने विचार व्यंजित करते है। कबीर एवं अन्य सन्तों के मतानुसार अपने अस्तित्व एवं आकार-प्रकार के आस-पास स्थूल रूप में हमें जो कुछ भी दिखाई देता है, वही जगत् है। किन्तु यह समस्त दृश्य स्थूल पसारा मिथ्या एवं नश्वर है। एक प्रकार का मायाजन्य विभ्रम है। इस प्रसार के समस्त आकर्षक गुण-स्वरूप भी मात्र भ्रम छाया और माया है। इसे ब्रह्म का मायाजन्य पसारा भी कहा जा सकता है। कबीर कहते है—

"जो तुम देखो सो यह नाहीं, यह पद अगम अगोचर माहीं।"

कबीर ने संसार के समस्त रंगों को झूठा, नश्वर एवं क्षणिक बताते हुए, इसमें मन न रमाने की चेतावनी भी दी है—

"ऐसा यह संसार है, जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार को झूठे रंगिन भूल॥"

कबीर आदि सन्त स्वीकारते है कि आतमा यात्रा के समान ही आकर कुछ

दिन के लिए यहां अपना पड़ाव डालता है। कई बार माया के प्रभाव से भटक कर जीव इसी को सत्य भी मान लेता है, पर वस्तुतः यह 'जगत्' 'छाया-सा-माया-सा' विभ्रम से अधिक कुछ भी नही है। जगत् की वस्तु-स्थिति की कबीर के शब्दों में इस प्रकार भी रेखांकित किया जा सकता है—

"पाणी ही ते हिम भया हिम है गया विलाय।
जो कुछ था सोई भया अब कुछ कह्या न जाय॥"

इस प्रकार कबीर और उनके सन्तमत की दार्शनिक चेतना जीवन के अनुभूत सत्यों पर आधारित कही जा सकती है। उनकी दार्शनिक चेदना का मूल आधार अद्वैत-दर्शन ही प्रतीत होता है।

**निर्गुणवाद : धार्मिक पक्ष**—निर्गुणवाद या सन्तमत की दार्शनिक चेतना के सन्दर्भों में विचार करने के बाद अब उनके धार्मिक पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। एक वाक्य मे यदि हम कहना चाहे तो सन्तमत को हम सर्व-धर्म-समन्वय का सार-रूप कह सकते हैं। फिर भी इनके 'निजत्व' से इन्कार नहीं किया जा सकता। सब प्रकार के धार्मिक भेद-भावों और बन्धनों से ऊपर उठकर विशुद्ध मानवत्व, भ्रातृभाव एवं विश्व-बन्धुत्व को प्रश्रय देना ही वस्तुतः कबीर या अन्त सन्तों के धार्मिक पक्ष का आधारभूत तत्व कहा जा सकता है। एक शब्द मे इसको हम 'विश्वमानव-धर्म' भी कह सकते हैं। सभी प्रकार के आचार-व्यवहारों की पवित्रता, सदाचरण, विषय-वासनाओं से छुटकारा, लौकिक एवं पारलौकिक या आवागमन के चक्कर से मुक्ति पाना कबीर की धर्म सम्बन्धी चेतना का गन्तव्य कहा जा सकता है। अन्य निर्गुणवादी सन्तों ने भी धर्म के तत्व एवं लक्षण इसी प्रकार प्रतिपादित किए हैं। इन सभी ने अपने धर्मो में वैयक्तिक साधना के साथ-साथ लोक-साधना को भी समान महत्व दिया है। कबीर की धर्मानुभूति को भी उनकी साधना के समान विद्वानों ने धर्म की सहज अनुभूति ही कहा है। यह अनुभति चरित्र की शुद्धता, हृदय की निष्कपटता और मन की निर्मलता पर आधारित है। इसी कारण बाह्याचारों, कर्मकाण्डों आदि का निषेध करते हुए वे कहते हैं—

"सांई सेंती सांचे चलि, औरां सौं सुध भाई।
भावै लम्बे कोइ करि, भाव धुरणि मुड़ाई॥"

तीर्थ यात्रा, हज, व्रतोपवास, रोजा-नमाज आदि भी उनकी दृष्टि में सत्य

धर्म के अंग न होकर दिखावा मात्र ही है—

**"तीरथ व्रत सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छांप।**
**कबीर मूल निकन्दिया, कौन हलाहल खाय॥"**

उनका विश्वास है कि 'हरि न मिलै बिन हिरदै सूध' अर्थात् सीधे सरल हृदय से ही हरि-दर्शन सम्भव हुआ करते है। इसी कारण सन्तों और स्वयं कबीरजी ने साधना-भक्ति के क्षेत्र में ज्ञान का महत्व, ग्रास का महत्व, विधि-निषेध और नाम-स्मरण आदि को विशेष महत्व दिया है।

उनका कथन है कि तत्व-साधना में ज्ञान एक अनिवार्य धर्म है। वह इस-लिए कि ज्ञान के अभाव मे सत्य से साक्षात्कार नही हो पाता और सत्य की जानकारी के अभाव में मानव-धर्म का पालन सम्भव नहीं हुआ करता। यह तथ्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है कि—

**"काम क्रोध तृष्णा तजै तहि मिले भगवान।"**

इसीलिए उन्होंने ज्ञान को योग-साधना एवं सत्य-धर्म की जानकारी दोनों का प्रतीक-परिचायक स्वीकार किया है। ज्ञान क्योंकि सद्गुरु से ही प्राप्त हो सकता है, अतः सन्तमत एवं धर्म से गुरु का महत्व ईश्वर से भी बढ़कर माना गया है—

**"चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि।**
**तिहिं घर किसको चांदनी, जिहि घर सतगुरु नाहि॥"**

गुरु ही वह चांदनी (प्रकाश) प्रदान करता है, कि जीवन मे क्या उचित एवं क्या अनुचित है, क्या धर्म और क्या अधर्म है। जो धर्म है वही ग्राह्य या 'विधि' है, जो अधर्म है वह अग्राह्य या 'निषेध' है। अतः कबीर आदि सभी सन्तों ने 'विधि-निपेध' को भी मानव धर्म के लिए आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। कबीर काव्य की समस्त खण्डन-मण्डनात्मक प्रवृत्तियाँ, उपदेश एवं सुधारात्मक चेतनाएं आदि तात्विक दृष्टि से धर्म-साधना का ही अंगभूत है। उनके धर्म का तात्पर्य वैराग्य या गृह-संसार का त्याग अथवा पूजा-पाठ आदि ही नहीं, वल्कि मानवता का उत्कर्ष है। इसीलिए उन्होंने ज्ञान के साथ कर्मयोग का भी समन्वय करते हुए कहा—'जहां ज्ञान तहां धर्म है।' इस धर्म के पालन के लिए सभी सन्तों एवं कबीर ने नाम-स्मरण का असन्दिग्ध महात्म्य भी प्रतिपादित किया है। नाम-स्मरण का सम्बन्ध नवधा-भक्ति के

अन्य अंगों के समान वाह्य साधना से न होकर मूलतः अन्तः साधना से है, इसी कारण इसको महत्व देते हुए कबीर कहते हैं—

"कबीर सुमिरन सार है और सकल जंजाल।"

वैयक्तिक स्तर की साधना भी क्योंकि नाम-स्मरण से ही अनवरत बनी रह सकती है, इसलिए भी सन्त इसको महत्व देते है। इस प्रकार की धर्म-साधना के लिए वाह्याचारों की कतई आवश्यकता नहीं हुआ करती। नाम का स्मरण करते हुए निर्मल होकर मन स्वतः ही प्रभु-भक्ति में विलीन हो अन्तः-बाह्य सभी प्रकार के धर्मों का उचित निर्वाह कर पाने के योग्य भी हो जाया करता है। इसी कारण तो कबीरजी कहते हैं—

"कहत कबीर सुनहु हे प्रानी, छाड़हूं मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी, पाहु एक ही सरना॥"

इस प्रकार निर्गुणवादी सन्तमत के अनुसार कबीर की धर्म-साधना को हम मुख्यतः मानसिक ही कह सकते है। उसका किसी भी प्रकार से सहज, सरल, सात्विक और बुद्धिवेष्ठित भावात्मक ही मुख्यतः रेखाकित किया जा सकता है। उसे भी हम उनकी साधना के अन्य अंगों-तत्वों के समान अद्वैतवाद पर आधारित कह सकते हैं।

**निर्गुणवादी साधना-पक्ष**—निर्गुणवादी सन्त-मत का साधना-पक्ष मूलतः भक्ति एवं योग तत्वों पर आधारित है। इन्होंने वैष्णव मतों में जिस भक्ति-भाव का अधिग्रहण किया उनका चरम विकास इनकी रहस्य-साधना एवं तत्सम्बन्धी उक्तियों मे मिलता है। इसके विपरीत इनकी योग-साधना बहुत कुछ नाथों, हठमार्गियों की नाड़ी-चक्र साधना पर तो आधारित है ही, सहज समाधियों की पृष्ठ-भूमि भी वहां देखी जा सकती है। इनकी मान्यता है कि भक्ति पूर्णतया निश्छल-निष्काम होनी चाहिए। इसके लिए मन की निर्मलता, आचरण की शुद्धता, नाम-स्मरण-कीर्तन, अनवरत प्रेम एवं दाम्पत्य-समर्पण आदि बातें परम आवश्यक हैं। इसमें वैष्णवों की प्रेमा-भक्ति का रूप तो दीखता ही है, सूफियों की इश्क-मजाजी के दर्शन भी यत्र-तत्र हो जाया करते हैं। कबीरजी की मान्यता स्पष्ट है कि—

"भाव भगति विसवास बिन कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भक्ति बिनु मुक्ति नहीं रे मूल॥"

इसी प्रकार प्रेमा-भक्ति और सूफियों की भावना का उदाहरण भी देखे—

"विरह भुवंगम तन बसै मंत्र न लागै कोय।
राम वियोगी न जियै, जियै तौ बैरा होय॥"

भक्ति के साथ सन्तमत का साधना-पक्ष योग की विविध क्रियाओं से भी प्रभावित है, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। विशेषता यह है कि कबीर आदि निर्गुण सन्तों ने योग की कठिन क्रियाओं को उतना महत्व न दे, तन-मन की शुद्धि के लिए अधिकाशतः सहज क्रियाओं को ही अधिक या विशेष महत्व दिया है। सहज समाधि, अजपा जाप आदि इसी प्रकार की सरलतम यौगिक क्रियाएं है। कबीर की वाणी में निश्चय ही इनके अतिरिक्त कुछ कठिन कही जाने वाली योग-क्रियाओं का भी यथेष्ठ आधार मिलता है। यहां उनकी भक्ति-योग-समन्विति को दर्शाने वाला एक उदाहरण देख लेना पर्याप्त एवं यथेष्ठ रहेगा—

"हिंडोलना तह झूलै आतप राम।
प्रेम भगति हिंडोला सब संतन को विश्राम॥
चंद सूर दुई खंभवा बंक नालि की डोरि।
झूले पंच पियरियां वह झूलै जीय मोर॥
द्वादस गम कै अंतरा तहं अम्रित को आस।
जिन यहु अम्रित चाखिया सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुनि को नेहरी गगन मंडल सिर मोर।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलै हिंडोल॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर का साधना पक्ष भक्ति प्रेम और योग के सहज तत्वों से ही अधिक समन्वित है। यों कबीर ने कुण्डलिनी-साधना, इंगला-पिंगला, सुरतियोग आदि का भी वर्णन किया है। पर उसे हम उनकी वैयक्तिक साधना का उपकरण ही मुख्य रूप से कह सकते हैं।

**सामाजिक पक्ष**—निर्गुणवादी सन्तों ने अपनी मान्यताओं या साधक तत्वों में ऊपरिवर्णित बातों या तत्वों के साथ-साथ व्यावहारिक स्तर पर सामाजिक साधना को भी बहुत अधिक महत्व दिया है। प्रमुखतः वैयक्तिक साधना पर बल देते हुए भी कबीर तथा अन्य सन्त साधक अपने आप को सामाजिक पक्षों से असम्पृक्त नही रख सके। ये लोग जब संसृति के प्रत्येक घट, प्रत्येक अणु में परब्रह्म की सत्ता या आभास या उसके दर्शन करने या अनुभूति-आभास पाने का साधनात्मक-भावनात्मक दोनों प्रकार का ही प्रयास करते है, तब जीवन-

समाज से अपने-आपको विलग रख भी कैसे सकते थे। कहा जा सकता है कि सन्तों ने व्यष्टि मे समष्टि एवं समष्टि में व्यष्टि तत्वों को खोजने का अत्यन्त सार्थक एवं सफल प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न स्वतः ही उनकी सामाजिकता को उभार कर उजागर करता चलता है। सामाजिक-व्यावहारिक पक्षों को महत्व देने के लिए ही सन्तों ने विधि-निषेधों का विधान कर आचरण-व्यवहार की शुद्धता, वाह्याचारों की व्यर्थता आदि पर बल दिया। सभी प्रकार के आडम्बरों, छुआ-छूत, जातिवाद और अन्यान्य भेद-भावों का खुला एवं डटकर विरोध किया। हमारी मान्यता के अनुसार सामाजिकता के इसी व्यक्त सोपान के कारण ही समूचे भक्ति-साहित्य मे सन्त-साहित्य का महत्व अधिक एवं प्रभाव व्यापक है।

समूचे सन्त साहित्य में कबीर का सामाजिक साधना का पक्ष निश्चय ही सर्वाधिक प्रबल एवं उजागर है। उन्होंने जो कुछ भी कहा पूर्ण आत्मविश्वास, आत्मानुभव और निडरता के साथ कहा। पण्डित-काजी किसी को भी नही बख्शा। पण्डितों, जोगियो, संन्यासियों की अहमन्यता का विरोध करते हुए उन्होने स्पष्ट कहा—

"पण्डित जन माते पढ़ि पुरान, जोगी माते जोग ध्यान।
संन्यासी माते अहमेव, तापसी माते तप के भेव॥"

इसी प्रकार काजी-मुल्ला की ढोल की पोल खोलने से भी कबीर वाज नही आए। उनके भेद की बात बताते हुए कबीर कहते हैं—

"कबीर काजी स्वादि बसी, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूं सांचा होइ॥"

इसलिए, पण्डित-मुल्ला दोनों को पाखण्डी एवं वाह्याचारों मे लिप्त हो सामाजिकता का भ्रष्ट होते निहार, दोनों का परित्याग करते हुए कबीर ने कहा—

"पण्डित मुल्ला जो लिख दीया,
छांड़ि चले हम कछु न लीया।"

उन्होने सामाजिक विभेद मिटाने के लिए ही कहा कि "एक ज्योति से सब उत्पना, कौन बाम्हन कौन सूदा।" और लोगों को जातिवाद के भ्रम-भाव से ऊपर उठने की प्रेरणा दी—

"भूला भरमा परे जिनि कोई,
हिन्दू तुरक झूठ कुल दोई।"

कबीर ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

"ऊंच-नीच समसारिया, ताथै जन कबीर निस्तारिया।"

× × ×

"लोहा कंचन समझारि जानहिं, ते मूरत भगवाना।"

कबीरजी के युग मे जीवन और समाज की भटकाव की दिशा में कहां तक स्थिति पहुंच चुकी थी, इसका वर्णन उन्होंने अपने छोटे-बड़े अनेक पदों, साखियों आदि में किया है। यहां इस प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत कर देना उचित रहेगा। देखें—

"इक पढ़हि पाठ इक भ्रमहि उदास,
इक नगन निरन्तर रहैं निवास।
इक जाग जुगति तन होहि खीन,
ऐसे राम नाम संगि रहै न लीन।
इक होई दीन, इक देहि दान,
इक करै कलापी सुरापान।
इक तंत-मंत औषध बान,
इक सकल सिद्ध राखै अपान।
इक धोम धारि तन होहिं स्याम,
यूं मुकति नहीं बिन राम-राम।"

इस प्रकार निर्गुणवादी सन्तों की मान्यताओं एवं साधना के मूल मान्य तत्वों के अनुरूप ही अत्यन्त व्यापक स्वर पर कबीरजी ने अपनी समाज-साधना की है। उसकी दुर्बलताओं का दिग्दर्शन करा उचित दिशा मे उसका पथ-निर्देशन भी किया है। कबीर सभी प्रकार के मिथ्या आचार-विचारों, भावों, क्रिया-कलापों आदि का परित्याग कर सामाजिकों को मुख्य रूप से एक ही बात बार-बार कहते या सुझाते है—

"जब लगि मनहि विकारा, तब लगि नहिं छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निरमल मांहि समाना॥"

सामाजिक जनों की सभी प्रकार की उपाधियों, आधि-व्याधियों से छुटकारे का उससे सरल स्यात् अन्य कोई भी मार्ग सम्भव नही हो सकता।

कबीर की साधना की आधारशिला समन्वय-साधना है। दूसरे शब्दों में अनेकत्व मे एकत्व की प्रतिष्ठा करने वाला शंकराचार्य का अद्वैत-दर्शन है जो यत्किंचित् मात्रा में सूफियों की प्रेम-साधना से भी प्रभावित है। कबीर का उद्भव जिस युग, समाज और वातावरण में हुआ था वह आकण्ठ अनेकत्व और भेद-भावों वाले व्यवहार-दर्शन में निमग्न था। चारों ओर अनेक प्रकार के आडम्बरों एवं पाखण्डों का राज था। धार्मिक रूढ़ियों एवं विविध अन्ध-विश्वासों का शिकार होकर वह युग सर्वथा पतनोन्मुख हो रहा था। अनेक प्रकार से वैयक्तिक साधना पर बल देने वाले सम्प्रदाय अपने चमत्कारों से जीवन और समाज को पथभ्रष्ट कर रहे थे। सारा समाज दूषित हो रहा था। पारस्परिक घृणा, वैर-विरोध, राग-द्वेष जीवन-समाज को जर्जरित कर रहे थे। अंतः बाह्य विभाजनों में, मैं और मेरा की सीमा-रेखाओं में विभाजित अपनी राह में आप ही कांटे वो रहा था। एक ओर एकत्व का नारा लगा कर भी हिन्दू-समाज वर्ण-व्यवस्था के दुश्चक्र में बुरी तरह पिस रहा था। उस पर सातवीं शताब्दी से आगत इस्लाम शक्ति-मद में चूर यहाँ की सभ्यता-संस्कृति को नितान्त कुण्ठित करके रख देना चाहता था। कर्म से नीचतम होने पर भी ब्राह्मण और मुल्लावर्ग समाज मे सम्मान पाता था, जबकि उच्चतम कर्म करके भी शूद्र या निम्न वर्ग का व्यक्ति शूद्र एवं निम्न ही बना रहना अपनी नियति मानता था। ऐसी स्थिति में भारतीय जीवन-समाज में कबीर का अवतरण निश्चय ही एक मसीहा के समान हुआ। इन्होंने जातिवाद, ऊंच-नीच की घोरता, बाह्याचारों की घोर विषमता, विभिन्न प्रकार के जंजालों से जीवन-समाज को निकालने का सफल प्रयत्न कर वस्तुतः एक युग-प्रवर्त्तक की दृढ़ता और सार्थकता का परिचय दिया। हिन्दू-मुसलमान दोनों के बाह्याचारों को व्यर्थ बता, अपने ललकार भरे स्वर में उन्होने कहा—

"सन्तो दोऊ राह हम दीठा।
हिन्दू तुरक हटा नहीं मानै, सवाद सबन कौ मीठा।"

उन्होने स्पष्ट कहा कि जो अनेक प्रकार के बाह्याचार जीवन और समाज पर आरोपित किए गए है, वे सभी मात्र जिह्वा-स्वाद की पूर्ति के लिए ही हैं। गतानुगति या अन्धानुकरण वाला हुआ मानव-समाज दुःख-कष्ट सहकर, कदम-कदम पर मरकर, अत्यधिक पीड़ित होकर भी तो इस राह को बदलना नहीं चाह रहा। संसार की गति मिथ्या बाह्याचारों के कारण एक-पर-एक अन्धे कुंएं

में गिर-मरने वाले भेड़ों के झुण्ड के समान हो रही है, जो नहीं जानता कि मेरा गन्तव्य क्या है ? वे कहते हैं—

"ऐसी गति संसार की ज्यों गाडा का ठाट।
एक गिरा जेहि खाड में, सबै जाहि होहि बाट ॥"

कबीर के सामाजिक पक्ष की वास्तविक सार्थकता इस कुराह या विनाश पथ का जन-जीवन को अहसास करा देने में ही है। इसीके लिए उन्होंने-विधि-निषेध एवं खण्डन-मण्डन का रास्ता अपनाया। अनुभूतिप्रवण होने के कारण ही कबीर ने कर्मकाण्ड एवं बाह्याचारों के नाम पर परिव्याप्त शास्त्रीय आतंक का छीछालेदर किया। पण्डितों द्वारा प्रतिपादित बाह्याचारों में फंसे हिन्दू-समाज को मुक्त करने के लिए उन्होंने पण्डितों के विरुद्ध खरी-खरी बातें कही—

"पंडित भूले पढ़ि गुनि वेदा। आपु अपनपो जांन न भेदा ॥
अति गुन गरब करै अधिकाई। अधिकै गरब न होई भलाई ॥"

उनकी मान्यता थी कि जिस प्रभु का नाम ही गर्वापहारी है, वह भला मिथ्या बाह्याचारों का गर्व कैसे सहन कर सकता है ? वे कहते हैं—

"जासु नाम है गरब-प्रहारी,
सो कस गरबहि सकै सहारी ?"

अतः वे उच्च- कुल का अभिमान त्यागकर, समता के धरातल पर स्थिर हो बाह्याचारों के द्वारा नहीं बल्कि सहज भक्ति एवं पवित्र आचार-व्यवहारों द्वारा निर्वाण पद पाने की बात का प्रतिपादन करते हैं—

"कुल अभिमान विचार तजि, खोजो पद निरवान।
अंकुर बीज नसाइगा, तब मिलै विदेही थांन ॥"

इसी अनुभूतिप्रवणता में ही उन्होंने मूर्ति-पूजा, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा और नदियों में स्नान आदि को व्यर्थ बताया। कहा—

"पाथर पूजै हरि मिलै, तौं मैं पूजूं पहार।
तातै यह चक्की भली पीसि खाए संसार ॥"

बाह्याचारों को त्याग कर सामाजिक समता एवं विकास के लिए उन्होंने व्यावहारिकता पर बल दिया। उनकी दृष्टि में बाह्याचार एवं तथाकथित कर्मकाण्ड सार-तत्व को विलुप्त या ओझल कर देते हैं। राम-नाम ही समस्त

तत्वों का पूर्ण सार है। उससे विमुख समस्त कर्म बन्धन का कारण बनते हैं। तभी तो ब्राह्मणों एवं कर्मकाण्डियों को वे चुनौती देते हुए कहते हैं—

"तू बाम्हन मैं कासी का जोलहा चीन्हि न मोर ग्यांनां
तै सब मागे भूपति राजा मोरे रांम निधांना॥
यौ बूड़त कछु उपाइ करीजै ज्यों तिरि लंघै तीरा॥
रामं नांम जपि सेरा बांधौ कहै उपदेस कबीरा॥"

धार्मिक पोथियों और उनमें लिखी बातों पर भी कबीर का विश्वास नही है। उन्हें वे पथभ्रष्ट करने वाली ही मानते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र ही नही, सहज व्यावहारिक क्षेत्रों में भी वे सच्चे प्रेम एवं भाईचारे को ही उद्धारक स्वीकार करते है। तभी तो वे स्पष्ट कहते हैं—

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाइ आखर प्रेम के, पढ़ै सो पण्डित होय॥"

उनका विश्वास है कि बाह्याचार व्यक्ति को परावलम्बी एवं परोपजीवी बना देते है। ऐसे बन जाने वाले व्यक्ति का उद्धार कभी भी सम्भव नही हुआ करता। धर्म का क्षेत्र हो, या फिर सामाजिक व्यवहारो का, स्वावलम्बी व्यक्ति ही सब तरह से सफल हो सकता है। इसीलिए वे कहते है—

"करू बहियां बल आपणी, छांड पराइ आस।
जाकै आंगन है नदी, सौ कत मरत पियास॥"

कबीर ने सामाजिक व्यवहारों की दृष्टि से ही सब प्रकार की हिंसा का विरोध किया है। बलि हो या अन्य कुछ, हिंसा को सबसे बुरा एवं घोर कर्म माना है। इस दृष्टि से हिन्दू-मुसलमान दोनों को फटकारते हुए कबीर कहते है—

"वे हलाल, वे झटका मारें आग दुन्हा घर लागी।"

बाह्याचारों एवं कर्मकाण्ड के नाम पर अनेक प्रकार के अनाचारों मे फसे हुए हिन्दुओं के समान कबीर ने मुसलमानों को भी नही बख्शा है। चौड़े चौराहे पर खडे होकर उनके ऐसे कार्यों की निन्दा भी की है। रोजा-नमाज, हज, आदि सभी कुछ को व्यर्थ एव मात्र आडम्बर बताया है। वजू और सुन्नत आदि के विरोध मे भी करारी उक्तिया कही है। मुसलमानो द्वारा की जाने वाली हिसा और अत्याचारो का विरोध करते हुए वे कहते है कि इस पर भी

मिस्कीन अर्थात् अपने-आप को निरीह कहना-कहलवाना भला कहां की इन्सानियत है—

"खून कहैं सिसकीन कहावें गुनही रहै छिपाए।"

इतना ही नही, रोजा-नमाज के साथ जुड़ी जीव हिंसा (वलि या कुर्बानी) को उन्होने घोर दोजख (नरक) की आग में जलने वाला माना है—

"मुस्लिम बिसिमल बांग उचारै रोजा-नमाज गुजारैं।
तिनको भिस्त कहां से होई सांझै मुर्गी मारें॥"

इन वाह्याचारों को मिथ्या एवं व्यर्थ बताते हुए वे हिन्दू और मुसलमानों दोनों को सलाह देते है कि—

"दिल महिं खोजि दिलै दिलि खोजहु।
इहंई रहीमा रामा॥"

कबीर किसी भी प्रकार के छुआ-छूत या वर्ग-भेद पर भी विश्वास नही करते थे। जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। वे केवल सच्चरित्रता, वैचारिक पवित्रता एवं दृढ़ता के साथ-साथ हरि-भक्ति पर ही विश्वास करते थे। उनकी आस्था थी—

"जाति-पांति पूछै नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।"

अपनी इसी आस्था का उन्होंने आजीवन डटकर प्रचार किया। मानवतावादी दृष्टि से विशुद्ध मानवीय तत्वो को उजागर किया और मानवता का ही सन्देश दिया। उनका समूचा व्यवहार, कथन एवं प्रचार आद्यन्त विशुद्ध व्यावहारिक तत्व-ज्ञान पर आधारित है। ऐसा तत्व ज्ञान कि जो अपनी सहजता के कारण जीवन-समाज का सहज उद्धारक हो सकता है। वे कहते हैं—

"कौन मरै कौन जनमें आई।
सरग नरक कौनें गति पाई॥
पंच तत्त अविगत तै उत्पनां एकं किया निवासा।
बिछरें तत्त फिर सहिज समांनां रेख रही नहिं आसा॥
आदै गगनां अंतै गगना मद्धै गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लागै झूठी संक उपाई॥"

इस प्रकार कर्मवाद, नियतिवाद आदि उन सभी वादों-मतों का कबीर ने खुलकर खण्डन किया है कि जो प्राणी को सहज सामाजिकता के भाव से भ्रष्ट कर सकते है। यह सारी बातें प्रमाणित कर देती है कि वस्तुतः कबीर स्वयं में

तो एक पूर्ण मानव थे ही, वे पूर्णतया मानवतावादी भी थे। इसी कारण उन्होंने परम्परागत एवं समसामयिक सभी प्रकार की सामाजिक रूढ़ियों अन्ध-धारणाओं एवं अन्धविश्वासों, मिथ्याचारों, सामाजिक विडम्बनाओं एवं पाखण्डों को जड़-मूल से उच्छिन्न करने के पथ में अपना प्रबल स्वर मुखरित किया था। इस प्रकार की समस्त अवांछित बातों और स्थितियों की जड़ पर तीखा प्रहार किया था ताकि जीवन और समाज मे वह भावनात्मक एकता की स्थापना हो सके, जिसकी आवश्यकता आज भी बड़ी शिद्दत के साथ अनुभव की जा रही है। इस प्रकार की उदात्त मानवीय चेतनाओं के कारण कबीर का महत्व समसामयिक सन्दर्भों में भी उजागर होकर बहुत बढ जाता है। डॉ० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने कबीर-वाणी के सामाजिक सन्दर्भों को उजागर करते हुए उचित ही लिखा है कि—

"सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में आज भी कबीर का काव्य एक तीखा अस्त्र है। कबीर से हम रूढ़िगत सामन्ती दुराचार और अन्यायी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध डटकर लड़ना सीखते है और यह भी सीखते हैं कि विद्रोही कवि किस प्रकार अन्त तक शोषण के गढ़ के सामने अपना मस्तक ऊंचा रखता है।"

वस्तुतः कबीर सच्चे अर्थों मे जनवादी कलाकार थे। समसामयिक परिवेश में उन्होंने जो कुछ भी कहा वह सब जन-जीवन के कटु अनुभवों के आधार पर सामाजिक प्राणी जन या मनुष्य की मुक्ति के लिए कहा और किया—मुक्ति, वह भी केवल पारलौकिक नही बल्कि इहलौकिक भी। जीवन के किसी भी क्षेत्र को उन्होंने अछूता नही छोड़ा। मानव या मानव-समाज के कल्याण के लिए ही उन्होंने स्वयं निर्गुण-निराकारवादी होते हुए भी यहां तक मानना स्वीकार कर लिया कि—

"भाव भाव में सिद्धि है, भाव भाव में भेव।
जो मानो तो देव है, नहिं तो भीत का लेव॥"

अर्थात् निर्गुण-सगुण का समन्वय कर दिया। या फिर इस बात को सामाजिक प्राणी की वैयक्तिक चेतनागत मान्यता की वस्तु स्वीकार कर लिया ताकि भूला-भटका प्राणी कही तो आधार पाकर ठहर सके। अपनी आस्थागत भावनाओं के समाहार एवं परिहार मे समर्थ हो सके।

कबीर का युग आज के समय जैसा ही आर्थिक वैषम्यों से भी पीड़ित था। आम आदमी की स्थिति तो और भी अधिक दयनीय थी। आज के समान ही उसके श्रम का समूचा फल सामन्त-सम्भ्रान्त वर्ग गटक रहा था। तब एक जन-अर्थ-शास्त्री का दायित्व निवाहने हुए कबीर ने आर्थिक स्थिति के बारे में कितनी मार्मिक एवं सारगर्भित उक्ति कही—

**"सांई इतना दीजिए जा में कुटुम समाय।**
**मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥"**

इस प्रकार अध्यात्म-क्षेत्र के समतावाद के समान सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में कबीर ने समरसता या सामाजिकता को ही प्रश्रय एवं महत्व दिया। संचय को जीवन और समाज के लिए घातक बताया। हमारे विचार में, आज के युग में गांधीजी ने जिस 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं महत्वांकन किया है, उसकी प्रेरणा का मूल उत्स कबीर की आर्थिक चेतनाएं एवं मान्यताएं ही हैं। उनके आर्थिक दृष्टिकोण को हम आध्यात्मिक एवं सामाजवादी चेतना का समन्वित स्वरूप कह सकते है। तभी तो एक ओर तो वे यह कहते हुए दिखाई देते हैं कि—

**"सन्त न बांधे गाठरी, पेट समाता लेइ।"**

और दूसरे ही स्वर में वे कहते सुने जा सकते हैं—

**"चिन्ता छांड़ि अचिन्त रहु, सांई है समरत्थ।**
**पसु पखेरु जीव जन्तु, तिनकी गांठी किसा गरत्थ॥"**

ऐसा मानते हुए भी उन्होंने कर्म और परिश्रम का खण्डन नहीं किया। स्वयं साधु-सन्त होते हुए भी मिथ्यावृत्ति का कभी समर्थन नहीं किया बल्कि उसका खुले बन्दों विरोध ही करते रहे केवल शाब्दिक या वाणीगत विरोध ही नहीं, बल्कि कर्म-व्यवहार के स्तर पर, स्वयं आजीवन सूत कात और करघा चलाकर स्वावलम्बन एवं श्रम का महत्व उन्होंने प्रतिपादित एवं उजागर किया। पेट भरने के लिए दूसरों का हक मारना या हिंसा करना, उन्हें कतई नहीं सुहाता था। इसी कारण ही तो 'खिचड़ी' खाने के प्रतीक के माध्यम से सादे, श्रमार्जित पवित्र खाने का समर्थन और हराम के या भ्रष्ट तरीके अपनाकर मांसाहार या गरिष्ठाहार का पूर्णतया खुलकर विरोध किया है। वे कहते है—

"खूब खांन है खीचरी, जे टुक वाहै लौंन।
हेरा रोटी कारनें, गला कटावै कौन॥"

कबीरजी की मान्यता है कि इस प्रकार सादगी, पवित्रता और कर्म को अपनाकर कोई व्यक्ति गृहस्थ में वैराग्य और वैराग्य मे गृहस्थ का-सा सहज आनन्द प्राप्त कर सकता है। तभी तो उन्होंने कहा है—

"गावन में ही रोग है, रोवन में ही राग।
इक वैरागी ग्रिह करै, इक ग्रिही वैराग॥"

वे स्वयं गृही होकर भी वैराग्य करते या विरागी का जीवन जीते थे, जिसे उन्होंने समाज के व्यावहारिक जीवन का आदर्श कहा है। सहज समाधि या अजपा-जाप की तरह इस मान्यता को हम सामाजिक परिप्रेक्ष्यों मे कबीर के सहज मानव-धर्म की संज्ञा दे सकते हैं। इस सहज सामाजिक धर्म के चलते कबीर की दृष्टि मे मानव-मानव मे कोई भी विभाजक रेखा शेष नहीं रह जाती। व्यक्ति देशकाल की सभी प्रकार की सीमाओं से ऊपर उठकर सार्वजनीन एवं सार्वभौमिक व्यष्टि एवं समष्टि-सत्य का स्वरूप हो जाया करता है। अपने में सब और सबमें अपना स्वरूप आभासित होने लगता है। इसी तत्व एवं तथ्य की ओर इंगित करते हुए वे एक स्थान पर कहते हैं—

आपा पर सम चीन्हिए तब दीसै सरब समांन।
इहि पद नरहरि भेटिए तू छांड़ि कपट-अभिमान॥"

कबीर की दृष्टि मे यही वह सीमा है जहां पहुंच मानव-समाज और उसका समग्र जीवन सभी प्रकार के वैषम्यों से ऊपर उठ मुक्त हो जाता है—सांसारिकता एवं मृत्यु दोनों पर विजय पाकर पूर्ण मुक्त हो जाता है। तब न तो कपड़े रंगाने की आवश्यकता रह जाती है, न जटाजूट बढ़ाने या सिर घुटवाने और न अन्य किसी भी प्रकार का वेश सजाने की ही आवश्यकता पड़ती है। यह मध्यम मार्ग ही कबीर का सहज सामाजिक या उदात्त मानवीय धर्म है। इस सहज मार्ग या मध्यम मार्ग अथवा सहज धर्म को पाने के लिए अपनी उक्तियों में यत्र-तत्र और अनेकशः कबीरजी समदर्शिता, नैतिकता, आत्म-संयम, परोपकार, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, सत्संग और सेवा भाव पर उसी प्रकार बल देते है, जिस प्रकार ईसा, गांधी या अन्य नये-पुराने अन्य सन्तों-महापुरुषों ने अपने-अपने युगों में दिया। इस सबको हम ऊपरी तौर पर व्यष्टि-साधना कह सकते हैं, पर इसी में समष्टि-साधना का सार-तत्व भी अन्तर्हित है। वह इस

प्रकार कि यदि समाज-जीवन के सभी प्राणी इस मार्ग पर चलने लगें, तो स्वतः ही व्यष्टि-साधना का महत्व समष्टि-साधना के सत्य के रूप मे चारों ओर उजागर होकर संसार को सही अर्थों में रहने के योग्य वना देगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कबीर का व्यक्ति-साधना का मार्ग भी वस्तुतः समाज-साधना का ही मार्ग है। उनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति का निष्कर्ष या सार-तत्व भी इसी ओर इंगित करने वाला है। अतः जो लोग कबीर को व्यष्टिवादी मानते हैं, उन्हें अपनी धारणा या मान्यता पर पुनर्विचार करना चाहिए।

वस्तुतः, जैसा कि हम आरम्भ में भी कह आए है, कवीर एक विशिष्ट युग की विशिष्ट परिस्थितिजन्य मानसिकता की देन है। यों समाज-साधना प्रत्यक्षतः उनका गन्तव्य नहीं भी हो सकता, पर व्यक्ति-साधना के पथ का पथिक होते हुए भी उन जैसा जागरुक व्यक्तित्व अपने युग-समाज से कटकर नही रह सकता था। अपने आस-पास उन्होंने जीवन और समाज के लिए जो कुछ भी अवांछित, अयाचित एवं संघातक देखा, उसके विरुद्ध अपना प्रवल स्वर मुखरित किया। ऐसा कबीर जैसा कोई व्यक्ति साधना-पथ का पथिक एव पूर्ण निर्लिप्त व्यक्ति ही कर सकता था—आकण्ठ स्वार्थो की दलदल में निमग्न कोई राजनेता या आज का तथाकथित सन्त-महात्मा या ईश्वर का अवतार नही। सहज भक्ति और उसके कारण जीवन का सहज मध्यम मार्ग उनके पास ऐसा सम्वल एवं वल था कि जिसके वूते पर वे पूर्ण आत्मविश्वास के साथ धार्मिक सामाजिक सभी प्रकार के कुटेवो के विरुद्ध अपना प्रवल स्वर मुखरित कर सके। समाज-सुधार या सामाजिक चेतना उनका काम्य गन्तव्य यद्यपि नही कहा जा सकता, पर जिस सहज धर्म और सहज मुक्ति भाव के वे पोषक थे, उसका रास्ता इसी पथ से होकर जाता था, इस वात से इन्कार नही किया जा सकता।

इस सारे विवेचन-विश्लेपण का सार तत्व कवीर को केवल समाज-सुधारक प्रमाणित करना नही है, वल्कि यह दिखाना है कि इस ओर भी उनका ध्यान पूर्ण वेग से गया था। वे जिस निर्गुण-निराकार, सर्वव्यापक, घट-घटवासी, सवमे रमण करने वाले राम-रहीम के उपासक थे, उसके वन्दों की जब दुर्दशा हो रही थी, तो अपनी अन्तः-वाह्य जागरूकता में वे इस ओर से उदासीन कैसे रह सकते थे? वस्तुतः उनकी साधना इस मान्यता एवं उक्ति को चरितार्थ

करने वाली है कि प्रत्यक्ष संसार मे जो कुछ भी है, वह मानव के लिए है। साधना चाहे पारलौकिक की हो या साहित्य की, अन्य कलाओं या ज्ञान-विज्ञान की, सभी का लक्ष्य मानव-जीवन के वैषम्यों को मिटाना है। कबीर की समाज या अन्य साधना भी इसी प्रकार की थी—बस !

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—"कबीर सच्चे अर्थों में मानवीय एकता के समर्थक कवि है।" इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

प्रश्न २—"कबीर ने अपने समय में प्रचलित धार्मिक पाखण्ड एव सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का सफल प्रयास किया।" कबीर की साखियों के आधार पर इस कथन की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न ३—कबीर को मूलतः समाज सुधारक मानते हैं या कुछ और ? अपने मन्तव्य की उपपत्ति सहित उपस्थापना कीजिए।

प्रश्न ४—कबीर के सामाजिक विचारों पर एक निबन्ध लिखिए।



# १४. कबीर : लोक-मंगल के साधक और महत्व

सन्त कवीर मूलतः मानवतावादी साधक और कवि थे। उनकी प्रसिद्धि का मूल एवं मुख्य कारण भी उनकी यही मानवतावादी दृष्टि एवं लोक-मंगल विधान की सहज-स्वाभाविक प्रक्रिया ही है। इस दृष्टि से निश्चय ही उनके समकक्ष अद्यतन कोई भी कवि नहीं ठहरता। जहां तक लोक-मंगल की साधना और विधान का प्रश्न है, कवीर ने अपना सारा जीवन इसी पुण्य कार्य के लिए समर्पित कर दिया था। उन्होने सभी स्तरो पर लोक-मंगल के लिए सहज मार्ग का अन्वेषण एवं प्रविधान किया। परम्परागत वैदिक एवं ब्राह्मणवादी विचार-धाराओ ने जिस प्रकार और जिस बुरी तरह अपने शिकंजो मे भारतीय जीवन एवं समाज को कस रखा था, उस सबका आतंक जिस चरमोत्कर्ष पर पहुच चुका था, उसकी प्रतिक्रिया व्रात्यों-बौद्धों की विचारधारा एव जीवन-प्रक्रिया में हो सकी। जैन धर्म या मत को भी उसी सबकी प्रतिक्रिया का परिणाम कहा जा सकता है। ये सभी मूलतः निरीश्वरवादी कहे जाते थे। बौद्धमत की भी आगे चलकर जो अनेक शाखा-प्रशाखाएं बन गई थी, उनमें एक शाखा सहज मार्गी सिद्धो की भी रूपाकार मे आई थी। इस मार्ग के सिद्धों ने वेद-विहित ब्राह्मण-वाद की खिल्ली उडाते हुए उसके कर्मकाण्ड को मात्र वाह्याडम्बर कहकर घोषित किया था। ईश्वर के अस्तित्व के प्रति भी अपनी अनास्था व्यक्त की थी। परन्तु यह अनास्था वस्तुत. परम तत्व के प्रति न होकर उस सबके प्रति थी जिसने वाह्याचारों, आडम्बरो एवं कर्मकाण्डी विधाओं के नाम पर परमेश्वर या परम तत्व को भी एक खिलवाड़ या मजाक बनाकर रख दिया था। इनके अनीश्वरवाद का वास्तविक रहस्य यही था, तथाकथित नास्तिकता या नकार की घोरता नही थी। तभी तो आगे चलकर गोरखनाथ जैसे सन्त शैव तंत्र के कुछ सहज ग्राह्य तत्वों को अपनाकर इस विचारधारा में सदाचार एवं आस्तिकता का बीजारोपण कर पाने मे समर्थ एवं सफल हो सके। फिर भी वे

चारों ओर 'तू' (परब्रह्म) के दर्शन और उसमें विलीनता ही सभी प्रकार के जंजालों, जन्म-मरण के बन्धनों से छुटकारा दिलाने वाला है। इसी को कबीर 'मुक्ति' कहकर अभिहित करते है। जैसे नमक पानी में मिलकर उसी का रूप 'पानी मैं का लौंन' हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा भी उस सर्व-व्यापक का स्वरूप हो जाया करती है। जन-हितों में इस औपनिषदिक तथ्य को कबीर ने कितने सरल ढंग से कह दिया है—

"मन लागा उन्मन्न सौं, उनमनि मनहिं विलंगि।
लौंन विलंगा पानियां, पांनीं लौंन विलगि॥"

लोक-मंगल-विधान एवं उदात्त मानवीय दृष्टि से कबीर का महत्व इस बात मे है कि उन्होंने अनेक प्रकार की गहन-गूढ़ धारणाओं मे वह सहज सरल ढंग से सभी के लिए सहज सुलभ कर दिया। निश्चय ही ऐसा अन्य कोई भी कवि कर पाने में सफल नही हो सका। योगियों के लय-योग और अद्वैतवादियो के अद्वैत दर्शन का अनूठा संगम अत्यन्त सहज-सरल रूप मे निम्नलिखित पंक्तियों में दर्शनीय है—

"बहुरि हम काहे कौं आवहिंगे।
बिछुरै पंच तत्त की रचना तब हम रांमहिं पावहिंगे॥
पिरथी का गुन पांनी सोषा पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे॥
जैसे जलहि तरंग तरंगिनीं ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामीं सुखसागर हंसहिं हंस मिलावहिंगे॥"

पर इस स्थिति तक पहुंचने के लिए ज्ञान-साधना द्वारा माया-मोह और भ्रम-भाव से छूटकारा अपरिहार्य है। अज्ञान का अन्धकार मिटने पर ही ज्ञान का सूर्योदय होकर उस परम तत्व एव जीवन की वास्तविकता का साक्षात्कार करा सकता है। अन्य पंथ, वेद, शास्त्र उपनिपद् आदि इस प्रकार की गहन बातों के प्रतिपादनार्थ जहाँ गहन उक्तियों, तर्क-वितर्कों का सहारा लेते हैं, वहाँ कबीर अपने आसपास के सहज प्रतीकों के माध्यम से ही आम जन तक को वह सब, या उस सबके साथ साक्षात्कार कराने मे सद्भुत क्षमता रखते है—

सन्तौं भाई आई ग्यांन की आन्धी रे।
भ्रम की टाटी समै उड़ानीं, माया रहै न बांधी रे।

दुचिते की दोई थूंनि गिरांनी मोंह बलैड़ा टूटा ।।
त्रिसना छांनि परी घर ऊपरि दुरमति भांड़ा फूटा।
आंधी पाछै जो जल बरसै तिहिं तेरा जन भीनां ।
कहै कबीर मनि भया प्रगासा उदे भानु चीन्हां ।।"

इस प्रकार सहज तत्व-ज्ञान और उसकी सहज सरल अभिव्यक्ति कबीर को स्वतः ही अन्य साधकों और कवियों से अलग-थलग कर देती है। सहज-सरल पथ ही मानव-मंगल का विधान कर सकता है, गूढ़ उक्तियां या कठोर साधनाएं नहीं—कबीर इस बात को भली प्रकार समझते थे। इसी कारण उन्होंने सहज भाव-रूप में सब कुछ कहा और उसी पर बल दिया। द्वैत-अद्वैत भावना को भी निम्नलिखित पंक्तियों में उन्होंने कितना सहज बनाकर रख दिया है—

"एक कहौं तो है नहीं, दोइ कहौ तौ गारि ।
हरि जैसा वैसा रहे, कहै कबीर विचारि ।।
भारी कहौं तौ बहु डरौं, हरुआ कहौं तौ झूठ ।
मैं क्या जानूं राम कौं, नैंनां कबहुत दीठ ।।"

और फिर जीवन-संसार और व्यक्ति की वास्तविकता का प्रतिपादन उन्होंने कितने सहज-सजीव रूप में कर दिया है—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति ।
देखत ही छिपि जाइंगे, ज्यों तारे परभाति ।।"

प्रभात के तारों के समान देखते ही देखते छिप जाने वाले नश्वर संसार में जब तक जीवन है, मुक्ति का उपाय कर लेने की बात भी उन्होंने कितने सरल ढंग से कह दी है—

"कालिह करै सो आज कर, आज करै सो अब ।
पल मैं परलय होइगी, बहुरि करेगा कब ?"

आज, बल्कि अभी न करने पर बार-बार आवागमन के चक्कर में पड़ यम-यातनाए झेलते रहना पड़ेगा, क्योंकि प्रलय का कोई भरोसा नही। कहावत भी तो है कि ग्राहक और मौत का कोई पता नही कि कब आ जाए। ज्ञान-गूढ़ बात कबीर ने जन-कल्याणार्थ किस सहज भाव से और परिचित जीवन्त प्रतीक-बिम्ब द्वारा कह दी है। निश्चय ही इस सहजता के दर्शन अन्यत्र कहीं भी कविता में सुलभ नहीं है।

जाति-पांति, छुआ-छूत, वर्णाश्रम आदि कबीर की दृष्टि में सभी व्यर्थ है। उनके निकट सार्थक है चरित्र एवं मन की निर्मलता, व्यवहार की शुद्धता एवं उदात्त मानवीय दृढ़ता। तभी तो वे कहते हैं—

"हिन्दू मूआ रांम कहि, मूसलमान खुदाई।
कहै कबीर सो जीवता, जो दुहूं के निकट न जाई॥"

यह विवेचन स्पष्ट कर देता है कि कबीर का महत्व उस दर्शन और जीवन-दर्शन के सार-संचयन में है कि जिससे वस्तुतः लोक-मंगल का विधान सम्भव हो सके—फिर चाहे वह दर्शन और जीवन दर्शन ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी, आत्मवादी हो या अनात्मवादी, उनकी दृष्टि में इस सबसे कोई अन्तर नही पड़ता। डॉ० पारसनाथ तिवारी के अनुसार—"···कबीर की महनीयता इतने तक ही सीमित नही कि उन्होंने ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी तत्व दर्शन के एक सर्वव्यापक तंतु को ग्रहण किया, किन्तु उनका श्रेय इस बात में है कि उन्होंने इस समन्वय को एक ऐसी रमणीय पृष्ठभूमि पर अवतरित किया जहाँ प्रेम और भक्ति का समुद्र उमड़ रहा है। उनकी रचनाओं में माधुर्य की वे समस्त भावनाएं बीज रूप मे वर्तमान हैं जिनका पल्लवन बंगाल के सहजिया वैष्णवों की अथवा वृन्दावन के रसेश्वर सम्प्रदाय की राधा-कृष्ण-उपासना मे हुआ। महान् वही है जो किसी सीमित चौखटे मे बंधा न रहे। कबीर ऐसे ही बेहद्दी मैदान में विचरण करने वाले थे।" तभी तो कबीर ने भी अपनी वाणी मे 'बेहद्दी' को साधु सन्त कहा—

"हद्द चलै सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद बेहद दोऊ तजै, ताकर मता अगाध॥"

और वस्तुतः कबीर का 'मता' इसी कारण 'अगाध' है कि उसने अपने आपको किसी भी संकुचित हद मे बंधने नही दिया। उनका ब्रह्म ही जब 'बेहद' यानि व्यापक है, तो फिर वे हदबंदियों के कायल हो भी कैसे सकते थे? कबीर का महत्व इस दृष्टि से भी है कि निर्गुणवादी होते हुए भी हिन्दी-क्षेत्रों मे सबसे पहले भक्ति का व्यापक प्रचार-प्रसार इन्होंने किया। तुलसीदास आदि सगुण भक्त तो उनसे काफी लगभग सौ वर्ष बाद हुए। उनसे पहले ही कबीर ने भक्ति भाव को सर्वसुलभ कर दिया था। यद्यपि निर्गुण-सम्प्रदाय, कबीर-सम्प्रदाय जैसे कई निर्गुण-भक्ति-सम्प्रदाय आज भी समस्त देश मे फैल रहे है,

पर स्वयं कबीर अपने जीवन-काल में सभी प्रकार की साम्प्रदायिकता से सर्वथा ऊपर रहे। सभी प्रकार के साम्प्रदायिक पचड़ों से ऊपर रहकर, आपा त्यागकर अपने तथा सबके उद्धार की बात कहते-करते रहे—

"आपा जानि उलिटिले आप। तो नहिं व्यापै तीन्यूं ताप॥
कहै कबीर सुख सहनि समखंड। आप न डरउ न और डरावंड॥"

उन्होंने योग की कुछ क्रिया-प्रक्रियाओं को भी भक्ति के साधन रूप में अपनाया। उसे साध्य नहीं बनने दिया। वे जानते थे कि आम जन योग की कठिन परीक्षाओं और क्रिया-प्रक्रियाओं मे से नही गुजर सकता। अतः उसका कल्याण या मंगल-विधान भी नही हो सकता। इसी कारण वे कुछ अत्यन्त आवश्यक यौगिक प्रक्रियाओं का स्पर्श करते हुए, उनके किनारों के पास से गुजरते हुए भक्ति के सहज पथ पर बढ़कर आमजन के लिए भी वह पथ सुगम एवं गम्य बना गये। उनका योग-साधन मात्र उस सीमा तक ही मूल्य एवं महत्व रखता है जिस सीमा तक वह मन एवं इन्द्रियों की चंचलता के शमन के लिए आवश्यक है। अतः सिद्धों का सहयोग ही उन्हें अधिक आकृष्ट कर सका, हठयोग उतना नहीं। मनः साधना उन्होने आवश्यक मानी। उसे भक्ति के लिए भी आवश्यक बताया। इसके लिए जतन या प्रयत्न को उन्होंने परमावश्यक बताया। क्योंकि—

"जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे।
टारे हरत नहीं निस बासुरि बिडरत नाहिं बिडारे।
अपनें अपनें रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे।
अति अभिमान बदत नहि काहू बहुत लोग पचिहारे॥"

पचकर हारने की इस लज्जा से बचने के लिए ही कबीर ने योग-साधना के नाम पर मुख्यतः मनोसाधना और इन्द्रिय-साधना को महत्व दिया है। इसके लिए आत्मवादी और अनात्मवादी दोनो से जो कुछ भी उचित या सार तत्व मिल सका, अपनाकर यहां भी अपनी समन्वयवादी चेतना का ही परिचय दिया है।

कबीर किसी भी प्रकार का आडम्बर, प्रतारण एवं वेषभूषा आदि को पसन्द नही करते थे। उनका विश्वास था कि आत्माराम मे रमण और मन की एकाग्रता ही सभी अध्यात्मवादी या धार्मिक तत्वो का सार है। इसी कारण वे धर्म के क्षेत्र में परिव्याप्त विडम्बनाओं का डटकर विरोध करते रहे। चाहे

वह हिन्दू धर्म के विविध अंग-उपांग रहे या इस्लाम के, जहां इन्हे तनिक भी खोट दिखाई दी, किसी को भी नही बख्शा। ऐसा करके उन्होंने धर्म एवं अध्यात्मवाद के खरे, निखरे हुए सत्स्वरूप को उजागर करने का ही यत्न किया। उनकी निम्न उक्ति को उनके धर्म का सार-तत्व कह सकते है—

"सौंई सेति सांच चलि, उभैरां सों सुध माइ।
भावें लाम्वे केस हरि, भावों घुरड़ि मुड़ाइ॥"

अगर इस प्रकार का सत्य और सीधापन नही है, मन में विकार समाए हुए है, तब मात्र वेश धारण कर लेने से सुख का सार उपलब्ध नही हो सकता। सुख का सार और उसके लिए जो कुछ भी आवश्यक है, उसके बारे में कबीरजी कहते है—

"सार सुख पाइडे रे।
रंग रवहु आतमांराम॥
बनहिं बानै का कीजिऐ जो मन नहिं तजै विकार।
घर-वन समसरि जिनि क अग ते विरला संसार॥
का जटा भसम लेपत किएं कहा गुफा में बास।
मन जीतै जग जीतिऐ जो विषया ते रहें उदास॥"

विषय-वासनाओं से उदास रहकर, अपने राम की दृढ भक्ति करके ही कबीर सभी अध्यात्मवादियों और धार्मिकों के बीच चुनौती भरे स्वरों मे इस प्रकार की घोषणा कर सके—

"हमं न मरिहै मरि है संसारा।
हमं कों मिला जिआवन हारा॥
साकत मरहि सन्त जन जीवहि भरि भरि रामं रासवन पीवहिं।
हरि मरहि तो हमहू मरि हैं। हरि न मरे हमं काहै कौं मरि है॥
कहै कबीर मन मनहिं मिलावा। अमर भया सुख सागर पावा॥"

उन्होंने किसी भी सम्प्रदाय मे बंधना धर्म नही माना। साम्प्रदायिकता का विरोध उन्होने चौड़े चौराहे पर खड़े होकर इस कारण किया कि वह भड़काने और आम जन को भटकाने वाला होता है, उसके मंगल-विधान का कर्त्ता नही। धर्म या अध्यात्मवाद के नाम पर साम्प्रदायिकता का तो कबीर ने घोर विरोध किया ही, अपने युग के सामाजिक वैषम्यो को पाटने की दिशा में भी डट कर प्रयास किया। वह प्रयास यथार्थ पर आधारित होते हुए भी अत्यन्त

काव्यमय है। इसी कारण कवीर समाज-सुधारक होकर भी अपने काव्यत्व की रक्षा कर सके। दूसरे शब्दो में साहित्यकार का दायित्व निर्वाह करते हुए साहित्य को समाज का उज्ज्वल तिकौना दर्पण वना सके, जिसमे वर्तमान में रहते हुए भी सामाजिक अतीत के अपने चित्र को निहार भविष्य की राह प्रशस्त करने की दिशा मे अग्रसर हो सके। कवीर की समस्त साधनात्मक एवं काव्यात्मक क्रिया-प्रक्रिया वर्तमान के खेतों में बीज वपन करने वाली थी कि भविष्य मे उनमें से समता-समरसता की फसल काट काटकर मानव-जीवन सुख-शान्ति, लौकिक एवं पारलौकिकि मुक्ति की सांस ले सके। मानव-मंगल का विधान कर पाने में समर्थ उन जैसे विचार सन्त काव्य तो क्या स्यात् अन्य किसी भाव-विचारधारा के काव्य में भी उपलब्ध नही होते। सभी प्रकार के धार्मिक-सामाजिक आडम्बरो को व्यर्थ वता के केवल हरि-नाम-रसायन-पान की ही प्रेरणा देते हैं कि जो सभी प्रकार के जागतिक एवं पारलौकिक रोगों का एक मात्र निदान है—

'सवै रसाइन में किया, हरि-रस-सम नहिं कोइ।
रंचक घट में संचरै, तो सव तन कंचन होइ॥"

कविता का प्रयोजन, भावों-विचारों को मात्र उत्तेजित करना ही नहीं हुआ करता वल्कि उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्ष जीवन का सम्वल प्रदान करना भी हुआ करता है। फिर कविता मात्र वही नही हुआ करती जो छन्द शास्त्र या तत्सम्वन्धी अन्यान्य शास्त्रों के तट-वन्धों में वन्ध कर ही प्रवाहित होने वाली हो। कविता तो विमल हृदय का उच्छ्वास, भाव, वोहित मन की उच्छलन एव सुख-दुःख का निश्वास हुआ करती है। ये सभी प्रकार के उच्छ्वास-निश्वास उसे व्यवहार-जगत से ही प्राप्त हुआ करते है। कवि-साधक उन्हें अपनी अन्तश्चेतनाओं मे पचा-पकाकर उसके सार-तत्व को जिस किसी भी रूप में व्यंजित, चाक्षुप या श्रव्य रूप से प्रवाहित कर देता है, सर्व-सुलभ वना देता है, वही सच्ची कविता हुआ करती है। लोक-मंगल का विधान ही कविता का चरम लक्ष्य या प्रयोजन स्वीकारा जाता है। इस दृष्टि से कवीर का महत्व यह भी है कि वे सच्चे अर्थों में कवि भी थे। वह भी सामान्य-विशेप सभी की भावनाओं को उद्वेलित करने में समर्थ कवि, उन्हें कल्याण या मंगल-मार्ग पर अग्रसर कर पाने, अंतश्चेतनाओं तक को आलोड़ित करके रख देने मे

समर्थ, सर्व-सुलभ कवि। तभी तो आज भी कोई सामान्य-विशेष, शिक्षित-अशिक्षित सूर-तुलसी आदि से परिचित हो न हो, पर उदाहरणस्वरूप कबीर की कोई उक्ति झट से उगल देता है। वह सब शास्त्रीय धरातल पर चाहे कितना भी अटपटा लगने वाला क्यों न हो, पर प्रभाव की दृष्टि से अचूक है, रामबाण है। उनकी कविता को हम किसी पर्वतीय पठार से सहसा फूटकर सारे शुष्क-नीरस वातावरण को अचानक सरस बना देने वाले वन्य निर्झर कह सकते है। पर ऐसा वन्य पुष्प जो प्राकृतिक नियम से स्वतः खिलकर पथिकों के पगों को कपनी सुगन्धी के सूक्ष्म-अदृश्य तन्तुओं से स्वतः ही बांध लिया करता है। काव्य-शास्त्र के कटघरे में कबीर की कविता को बन्द करना वस्तुतः स्वयं कविता और कबीर के साथ अन्याय करना है। उसे तो हम लोक-मंगल का विधान करने वाले किसी लोक-गायक का साधना-साधित, परम पूत स्वर-सन्धान ही कह सकते है। तभी तो वह सीधा हृदय से निकल कर सीधा हृदय पर ही प्रभाव या वार डालता है और आज भी डाल रहा है। हां, उनकी कुछ उलटवासियों जैसी उक्तियों में योग-साधनागत पचड़ा अवश्य है, जो आम जन तो क्या, बड़े-बड़ों के छक्के छुड़ा देने वाला है, बाकी सभी में सहज काव्यत्व के सभी हार्दिक तत्व विद्यमान है और वे सभी जनमानस में उतरकर उसका मंगल-विधान करने वाले हैं। इस प्रकार का वैशिष्ठ्य भी कबीर की अपनी और नितान्त निजी विशेषता है।

कबीर का अभिव्यक्ति पक्ष और शिल्प भी अनगढ़ एवं अपना है। उसकी अनगढता खान से ताजा प्राप्त हीरे के समान है, जो अनगढ़ होते हुए भी सभी का ध्यान बरबस अपनी निर्मल चमक की ओर आकर्पित कर लेता है। उन्होने सहज सरल एवं सुलभ भाषा का प्रयोग किया है। प्रचलित एवं जनोपयोगी काव्य-रूपों को ही प्रश्रय दिया। कहा जा सकता है कि उन्होंने लोक-प्रचलित काव्य-रूपो को ही लोक-हितार्थ अपनाया। प्रतीक-बिम्ब सभी कुछ अपने आस-पास से चुने। भाषा-शैली-शिल्प का महत्व सहज अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेपण की दृष्टि से ही मुख्यतः रेखांकित किया जाता है। कबीर की अभिव्यक्ति मे इन बातों का कतई अभाव नहीं है, वे पूर्णतया जन-भावनाओं या लोक का मगल- विधान कर पाने में समर्थ भावनाओं का उसी की भाषा-भंगिमा में ज्ञापन करने वाले कवि है।

इस सारे विवेचन-विश्लेषण के निष्कर्षस्वरूप अन्त में हम कह सकते है कि कबीर वस्तुतः मानवतावादी विचारों, क्रिया-प्रक्रियाओं वाले व्यक्ति थे। मानवीय औदात्य को सफलता के साथ उजागर करने के कारण ही उनकी विशेप प्रसिद्धि आज तक सर्वत्र बनी हुई है। आचार्यों ने जिसे लोक-मंगल की साधना कहा है, कबीर की समूची साधना उसी का साकार रूप है।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १.—"मानदतावादी विचारों की दृष्टि से कबीर की तुलना में हिन्दी के इने-गिने कवि ही ठहरते हैं।" इस कथन की सार्थकता पर विचार कीजिए।

प्रश्न २—कबीर की प्रसिद्धि के मुख्य कारणों पर सम्यक् रूप से प्रकाश डालिए।

प्रश्न ३—"कबीर की वाणी में मानवता के लिए शाश्वत सन्देश निहित है।" इस कथन को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न ४—'कबीर-वाणी' में लोक-मंगल की साधना है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

---

# १५. कबीर : प्रतीक एवं बिम्बविधान

कबीर की गणना आध्यात्मिक कोटि के प्रमुख कवियों में की जाती है। यों कविता को सहज हृदय का सहज उच्छ्वास ही कहा जाता है। उसका सृजन विशेष प्रकार की मानसिकता एवं भावोद्वेग की स्थिति में हुआ करता है। उस स्थिति मे काव्य-सृजन के लिए स्यात् तनिक भी प्रयास नही करना पड़ता। आत्मतत्व की अनुभूतियों से सम्पृक्त काव्य को ही सच्चा काव्य इसी कारण स्वीकार किया जाता है। यहां यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि आत्मा की अनुभूति होने के कारण ही सत्काव्य के लिए विशेष प्रकार के काव्यशास्त्रीय विधानों एवं अलंकरणों की कोई विशेष आवश्यकता महसूस नही की जाती। फिर भी काव्य का विवेचन-विश्लेषण करते समय अकादमिक स्तर पर इस प्रकार के बाह्य या अभिव्यंजनापरक तत्वों का अध्ययन-उल्लेख किया ही जाता है। लौकिक या आम कवि जहा काव्य के इस प्रकार के उपकरणो के प्रति प्रायः सावधान रहा करता है, वहां अलौकिक या आध्यात्मिक कोटि का कवि इस ओर कतई सजग नही हुआ करता। वह तो बस सम्प्रेषण तक ही सजग-सचेष्ट रहा करता है। अर्थात् वह जिस तत्व-ज्ञान या भाव-बोध की चर्चा करता है, चाहता है कि वह उसके श्रोता एवं पाठक के हृदय में सहज ही उतर जाए। अपनी भावाभिव्यक्ति को सहज बोधगम्य बनाने के लिए ही कई बार वह स्वतः स्फूर्त ढंग से बाह्य उपकरणों-अलंकारों-प्रतीकों की योजना भी करता जाता है। ये सब क्योंकि स्वतः स्फूर्त हुआ करते हैं, अतः उनमें कृत्रिमता या प्रयत्न-साध्यता की बात कतई दिखाई नही देती। कबीर के काव्य में प्रतीक-योजना एवं बिम्बविधान के बारे में भी यही बात पूर्ण सत्य है। कबीर-काव्य के एक अत्यन्त प्रसिद्ध, प्रचलित एवं सरलतम उदाहरण के द्वारा हम यह बात आरम्भ मे ही स्पष्ट कर देना चाहते है। उदाहरण देखे—

"पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात॥"

यहां 'पानी केरा बुदबुदा' एक ओर जहां शरीर का प्रतीक है, वहां उसमें

कोमलता एवं पारदर्शीपन के साथ-साथ नश्वरता का भाव भी अन्तर्हित है। 'तारा परभात' जहां संसार की व्यापकता का प्रतीक है, वहां क्षणिक एवं नश्वर चमक-दमक एवं बाह्याकर्षणों का भी परिचायक है। इस प्रकार उस सुविस्तृत संसार के चमक-दमकपूर्ण पर्यावरण में मनुष्य की स्थिति एक बुलबुले से अधिक नहीं। आकर्षण बुलबुले मे भी है और तारों भरे प्रभात में भी, पर कितनी देर के लिए? कितने सहज-सरल ढंग से कबीर ने मनुष्य-शरीर और संसार—उसके साथ जुड़ी मायाजन्य चमक-दमक की वास्तविकता, क्षण-भंगुरता उजागर कर दी है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर जिस पर्यावरण में, जीवन-समाज और उसके वातावरण मे रहते थे, जिस समाज-परिवार से वे आए थे, उन्ही से प्रतीकादि की सामग्री लेकर उन्होंने व्यवहार एवं अध्यात्म जीवन के अत्यंत सजीव, पूर्ण यथार्थ बिम्बों की योजना अपने काव्य मे की है। उनके प्रतीक और विम्ब उनके व्यवहार-जगत् एवं अपने आस-पास से ही अधिगृहीत किए गए है, निम्नलिखित उद्धरणो से भी यह बात पूर्णतया उजागर हो जाती है। पहला उदाहरण देखे—

"गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट।
भीतर हाथ सहार दे, बाहर बाहे चोट॥"

इस पद्य में गुरु के लिए 'कुम्हार' का प्रतीकात्मक शब्द एवं अज्ञानी-अनगढ शिष्य के बनाए जा रहे 'कुम्भ' को गढ़ना, उसकी खोट-अर्थात् आढे ढेढेपन को निकाल उसकी अन्तश्चेतना को समता के धरातल पर लाना, 'भीतर' हाथ का सहारा देना और बाहर से चोट करना आदि सभी बातें अध्यात्म-साधना, योग-साधना की प्रतीक कही जाएंगी। पके घड़े का बिम्ब उभरकर साधना में तपे-खरे साधक के स्वरूप को साकार कर देता है। स्पष्ट है कि आम, व्यावहारिक जीवन से ही अधिग्रहीत प्रतीक एवं उसी का सम्पूर्ण बिम्ब है, जो उजागर होकर साधना की बारीकियां एवं परिणाम, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध एवं सहकारगत प्रयोजन को भी उजागर कर देता है। कबीर जुलाहे थे। आजीवन बुनने-कातने का धन्धा करते रहे। उन्होंने अपने इस धन्धे से सम्बन्धित कई अनन्य प्रतीकों की योजना भी अपने काव्य मे अत्यन्त सुघड़ ढग से की है। अत्यन्त प्रसिद्ध गेय उदाहरण है—

"झीनी झीनी बीनि चदरिया।"
..............................इत्यादि।

इस पद्य का प्रतीक शब्द कपड़ा बुनने-कातने की प्रतीकात्मक प्रक्रिया के माध्यम से शरीर की संरचना, संसार-रचना और योग क्रियाओं द्वारा अध्यात्मिक-साधना के अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप को उजागर करने वाला है। हमारे विचार में अध्यात्म-साधना-सम्बन्धी इतनी सुघड़, सटीक एवं सचित्र प्रतीक-योजना अन्यत्र कही भी सुलभ नही। इससे उभरने वाला समग्र बिम्ब, उसका स्वरूप और अनुभूतिगत आकार भी वस्तुतः अजोड़ है। वह अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाने में भी पूर्ण समर्थ है।

कवीर अध्यात्मवाद के साधक थे। उनकी साधना वैयक्तिक स्तर की होती हुई भी लोक-सग्रह की अदम्य भावना से संवलित थी। इसी कारण तो वे अपने साथ-साथ जगत्-जीवन को भी लिए चलते हैं। जगत्-जीवन की वास्त-विकताएं भी सुलभ प्रतीकों द्वारा उजागर करते जाते हैं। संसार की वास्त-विकता उन्होंने अनेक पद्यों मे उजागर की है। ऊपर उदाहरण प्रस्तुत किया भी जा चुका है। परन्तु एक अन्य सर्व-सुलभ उदाहरण भी देखे—

"ऐसा यह संसार है जैसा सैंमर फूल।
दिन दस के व्यौहार में झूठे रंग न भूल॥"

सैंमर का फूल ! देखने मे कोमल-कान्त और स्पर्श में भुरभुरा, सूंघने मे वास-विरहित और अपने भीतर अनेक प्रकार के कीटाणु छिपाए हुए, रंग भी कच्चा एव स्पर्श मात्र से झर जाने वाला। अव इस प्रतीक व्यंजना से विम्ब वनाइये। जीवन-संसार की अन्तः वाह्य व्यर्थता, क्षण-भंगुरता और व्यर्थ की चमक-दमक, अनेक विध बुराइयों का स्वरूप स्वतः ही साकार हो उठता है। उतनी सहज-स्वाभाविक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति एव विम्व-योजना हमारे विचार मे केवल कवीर साहिव के लिए ही सुलभ थी, अन्य किसी के लिए कतई नही। कवीर के युग मे अनेकविध यंत्र-तंत्र, इकतारा, सारंगी आदि वजा-कर संसार को अध्यात्म के नाम पर फरेव वांट भीख मांगने वाले योगी-संन्यासी घूमा करते थे। उन्ही से प्रतीक लेकर कवीर ने शरीर-जीवन की निस्सारता की कितनी सरल-सरस व्याख्या कर दी है। उसीको सव-कुछ न मान लेने की चेतावनी भी दे दी है—

'कवीर जन्त्र न वाजहिं, टूटि गए सव तार।
जंत्र बिचारा क्या करै, चले वजावन हार॥"

जब इस शरीर-यंत्र के अंग-प्रत्यंग आदि जर्जर होकर टूट गए और फिर बनावनहार 'जीव' भी छोड़कर चला गया, तब बेचारे इस निर्जीव 'तंत्र' (तन) की हस्ती ही क्या ? इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर काव्य का वर्ण्य-विषय यद्यपि घुमा-फिराकर अध्यात्म-साधना से ही सम्बन्धित है, पर वह लोक-साधना से निरपेक्ष कतई नहीं है। फिर उस साधना के लिए कबीर ने प्रतीक आदि जो उपकरण जुटाए हैं, वे तो पूर्णतया आस-पास के लोक-जीवन से ही जुटाए गए हैं। वस्तुतः कबीर निर्गुण-भक्ति के परम साधक सन्त हैं। उनकी विचार-पद्धति पूर्णतया अध्यात्मवाद पर आधारित है। भक्ति-सम्बन्धी अध्यात्म-विचारों को सहज-सीधी लोक-भाषा मे रूपायित कर पाना यदि असम्भव नहीं, तो पर्याप्त कठिन अवश्य हुआ करता है। फिर जब कोई भक्त-साधक अपने व्यष्टिगत विचारों को समष्टिगत बनाकर उन्हें आम जन तक सम्प्रेषित करना चाहता हो, तब और भी कठिन हो जाया करता है। उस कठिनाई से बचने के लिए ही भक्त-साधक लोक-प्रचलित एवं चिरपरिचित प्रतीक आदि का आश्रय लिया करता है। यह बात केवल कबीर आदि सन्तों की वाणी के सन्दर्भ में ही तथ्यपूर्ण नही, बल्कि एक चिरन्तन एव अनादि सत्य है। वैदिक-संहिताओं एवं उपनिषदों तक की अभिव्यक्तियों में प्रतीकादि का स्पष्ट विधान देखा जा सकता है।

प्रतीक वस्तुतः भावों-विचारो के मूर्तिकरण की एक प्रक्रिया का नाम है। सम्प्रेषण के लिए भी इस प्रक्रिया को अपनाया जाता है और अपने कथन का प्रभाव-प्रवर्द्धन के लिए भी इनका सहारा लिया जाता है। दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्राण्य आदि अनेक प्रकार के प्रतीक-रूप स्वीकारे गए हैं। अध्यात्म-साधना वाले कबीर आदि के काव्यों मे इस प्रकार के सभी प्रतीक तो पाए ही जाते हैं, इनके अतिरिक्त पारिभाषिक, साकेतिक, संख्यामूलक और रूपात्मक प्रतीकों का विधान भी मिलता है। जब कबीर प्रभु को 'पुहुप बास तैं पातरा' कहते हैं, तो निश्चय ही इस प्रकार के प्रतीक-विधान को 'घ्राण-प्रतीक' की संज्ञा दी जा सकती है। ऊपर हम जो 'पानी केरा बुदबुदा......' का उदाहरण दे आए हैं, उसकी प्रतीक योजना को रुपकात्मक प्रतीकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसी प्रकार 'कबीर जंत्र न बाजहि है......' पद की प्रतीक-योजना 'श्रव्य प्रतीक-विधान' के अन्तर्गत रखी जा सकती है। 'लाली मेरे लाल की......' जैसे पदों मे दृश्य प्रतीकों का स्वतः ही विधान हो जाता है। इस प्रकार कबीर

ने प्रायः सभी प्रकार की प्रतीक-पद्धतियों एवं योजनाओं को सशक्त, सरल एवं प्रभावी अभिव्यक्ति के लिए अपना उपकरण बनाया है। जब कबीर यह कहते है—

"पाका कलस कुम्हार का, बहुरि न चढ़सि चाक।"

तो निश्चय ही वहां कुम्हार का 'पाका कलस' परिपात्र साधक की मुक्तावस्था का प्रतीक-परिचायक बनकर हमारे सामने साधनाजन्य मुक्ति के बिम्ब को उजागर कर देता है।

कबीर की प्रतीक-योजना सूफीवाद से भी प्रभावित मानी जाती है, जबकि मूलतः वह औपनिषदिक ही अधिक है। सूफियों ने आत्मा-परमात्मा के प्रेम की अनन्यता उजागर करने के लिए 'इश्क मजाजी' से काम लेकर आत्मा की आशिक (प्रेमी) और परमात्मा की माशूक (प्रियतमा) के रूप में परिकल्पना की है। कहा जाता है कि कबीर की साधना-पद्धति का 'दाम्पत्य भाव' इसी सूफी-पद्धति की देन है। इस प्रकार कबीर जब अपने को 'मैं राम की बहुरिया' आदि कहकर अभिहित करते है, तो सूफी-प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है। पर जब वे 'हरिजननी मै बालक तोरा' जैसी बात कहते है, तो इसे औपनिषदिक प्रभाव ही कहना चाहिए। इसे हम वैष्णवी साधना से अधिगृहीत वात्सल्य-रसात्मक प्रतीक-विधान भी कह सकते हैं। दाम्पत्य भाव से अनुप्राणित होकर कबीर ने आत्मा-परमात्मा की रहस्य-साधना एवं विरह-मिलन का जो व्यापक चित्रण किया है उस सबका आधार 'पति'-'पत्नी'-सम्बन्धी प्रतीक योजना ही है। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"दुलहिन गावहु मगलाचार।
हम घरि आयो हो राजा राम भरतार॥
तन रति करि मैं मन रति कर हूं पंच तत्व बराती।
रामदेव मोहि व्याहन आए मै जोबन मतमाती॥
सरीर सरोवर वेदी करिहं ब्रह्म वेद उचार।
रामदेव संग भांवरि लेहहुं धनि-धनि भाग हमार॥
सुर तेतिस कोटिक आए मुनिया सहस अठासी।
कहै कबीर हम व्याही चले पुरुष एक अविनाशी॥"

प्रेम-भाव या दाम्पत्य भाव से सम्बन्धित प्रतीक-योजना की दृष्टि से उपरोक्त पंक्तियों को एक सर्वांगपूर्ण उदाहरण कहा जा सकता है। कवि ने

साधक आत्मा को वधू, परमात्मा को वर, शरीर को विवाह-वेदी, साक्षात् ब्रह्मा को पुरोहित, देवताओं-ऋषियों को बाराती आदि की रूपकात्मक प्रतीक-योजना द्वारा बड़े सजीव ढंग से उजागर किया है।

इसी प्रकार प्रेम-मिलन की अनुभूति को उजागर करने वाला एक प्रतीकात्मक उदाहरण भी देखें—

"धनि पिय एकै संग बसेरा,
सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धन्न सुहागिन जो पिव भावै,
कह कबीर फिर जनमि न आवै ॥"

इस प्रकार दाम्पत्य-भाव की प्रतीक-योजना के द्वारा ही मुक्ति पाने का सन्देश भी कबीर ने दिया है। 'प्रिय मिलन' के चरम क्षण को 'फिरि जनमि न आवै' कहकर अभिहित किया है। भक्ति-भावना के अनन्य रूपात्मक प्रतीकों का भी अनेकशः आश्रय लिया है, यह बात ऊपर भी कही जा चुकी है। इस प्रकार की प्रतीक-योजना का सम्पूर्ण उदाहरण देखें—

"हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न ओगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहे न तेते ॥
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुखी, दुखी महतारी ॥"

अपनी हीनता, निरीहता, समग्र समर्पण, विवशता और परम तत्व के प्रति पूर्ण आस्था भाव व्यंजित करने के लिए कबीर ने अनेकशः पशु-पक्षियों से सम्बन्धित प्रतीकों को भी आधार बनाया है। एक स्थल पर तो वे अपने-आपको 'राम का कुत्ता' तक कह देते है—

"कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांऊ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे, तित जाऊं ॥"

कुत्ता पूर्णतया स्वामिभक्त और मनुष्य से भी अधिक वावफा माना जाता है। स्यात् कबीर यहां परम परमात्मा के प्रति, अपने राम के प्रति इन्हीं भावनाओं को रूपाकार देना चाहते हैं। कुत्ते का प्रतीक वस्तुतः साधक की अनन्य विनय-भावना का परिचायक है।

कबीर अनन्य भक्त एवं रहस्य-साधक थे। उनकी भक्ति भावना और विशेषकर रहस्य-साधना अनेक सम्प्रदायों, विशेपकर नाथ-सम्प्रदाय से प्रायः

अधिक प्रभावित है। ऊपर विविध प्रतीक-रूपों का उल्लेख करते हुए हमने जो सांकेतिक प्रतीकों का उल्लेख किया है, कबीर की वाणी में वे वस्तुतः नाथ-सम्प्रदाय के प्रभाव से ही आ पाए हैं। ब्रह्म-रन्ध्र, 'गगन-मण्डल' सुषुम्ना, पिंगला साधना, वंक नाल आदि प्रतीकात्मक शब्द सांकेतिक ही अधिक हैं। कबीर ब्रह्म-रंध्र के अर्थ में गगन-मंडल प्रतीक का और 'बंक नाल' वा 'सुषुम्ना' नाड़ी के प्रतीक रूप में प्रयुक्त करते हैं। एक उदाहरण देखें—

"इंगला पिंगला भारी कीन्हीं ब्रह्म अगिनि परजारी।
ससि हर सूर द्वार दस मून्दे लागि जोग जुग तारी॥
पंच जने सो संग करि लीन्हें चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियाले पीवन लागे सोवत नागिनि जागी॥"

यहां 'पंच जने' पंचोड़िया और 'नागिनि' वस्तुतः सुषुम्ना के जागरण का ही प्रतीक है। इस प्रकार सांकेतिक प्रतीक-योजना के और कई उदाहरण भी कबीर-वाणी में से खोजे जा सकते हैं। ऊपर जिन पारिभाषिक कोटि के प्रतीकों का उल्लेख किया गया है, उनका सम्बन्ध योगियों के द्वारा प्रयोग किए जाने वाले अनेकविध विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों से ही है। कबीर ने अपनी वाणी में इस प्रकार के कई प्रतीकों का प्रयोग विशेषतर अपनी रहस्य-साधना के सन्दर्भों में किया है। इस प्रकार की पारिभाषिक प्रतीक-योजना के दो प्रचलित उदाहरण देखें—

"सुरति समानी निरति में, अजपा माहे जाप।
लेखा समाणा अलेख में, यों आपा माहें आप॥"

× × ×

"सूर समानां चांद मैं, दुहूं किया घर एक।
मन का चेता तब भया, कछु पूरबला लेख॥"

स्पष्टतः इन पदों में प्रयुक्त सुरति, निरति, अजपा, जाप, लेखा, अलेख; सूर-चांद आदि शब्द परिभाषा मांगते हैं और योगियों की भाषा में इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग विशेष प्रतीकार्थ रखता है।

ऊपर हम कबीर-वाणी में उपलब्ध होने वाले संख्यामूलक प्रतीकों का उल्लेख भी कर आए हैं। विद्वानों की मान्यता है कि इस प्रकार के प्रतीक भी कबीर ने नाथ-सम्प्रदाय के योगियों से ही अधिगृहीत किए हैं। दर्शन द्वारा, पांच पंच, चौसठ दीया आदि इसी प्रकार के संख्यावाचक प्रतीक हैं, जो नाथ-

पंथियों से ज्यों के त्यों अधिग्रहण कर कबीर ने अपनी वाणियों में भी सजा-संवार दिए है। जैसे—

"चाकी चलती देखिकै दिया कबीरा रोइ।
दोइ पाट भीतर आइकै सालिम गया न कोई ॥"

यहां 'दोइ पाट', जन्म-मरण या आवागमन को व्यजित करने वाले संख्या-वाचक प्रतीक है। निम्न उदाहरण भी दर्शनीय है—

"चौसठि दीया जोय कै चौदह चंदा मांहि।
तेहि घर किसका चानणों जेहि घर गोविन्द नांहि ॥"

रूपकात्मक प्रतीक-योजनाओं की तो कबीर की वाणी मे एक प्रकार से भरमार ही है। उदाहरण प्रस्तुत है—

"रहना नहीं देश विराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़ै घुलि जाना है ॥
यह संसार झाड़ और झांखड़ आग लगें वरि जाना है।
कहत कवीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ॥"

कवीर की प्रेम-रहस्य-साधना में भी रूपकात्मक प्रतीकों की योजना बड़ी ही सरल एवं भव्य वन पड़ी है। जैसे—

"नैननि की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों के चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय ॥

इसी प्रकार कवीर ने रूपक के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के माध्यम से भी वड़ी प्रभावी प्रतीक योजनाएं की है।

कवीर अपनी उलटवासियों के लिए भी प्रसिद्ध हैं। अनेकविध गहन-अध्यात्म-अभिव्यक्तियों के लिए प्रायः सभी निर्गुण-साधक भक्तो ने उनका सहारा यत्र-तत्र लिया है। कवीर भी इसका अपवाद नही। प्रतीकात्मकता का विधान करने वाली उलटवासी का एक उदाहरण देखें—

"कैसे नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष बिचक्खन नारी।
बैल वियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीयू सांझ ॥
मकड़ी घरि माषी छछिहाठी, मास पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सौवे सॉप पहरिया ॥
निसि उठ स्याल सिंह सू जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ॥

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कबीर ने प्रायः सभी प्रकार के प्रचलित प्रतीकों का प्रयोग अपनी आध्यात्मिक पर लोक-संग्रह की भावना से संवलित अभिव्यक्तियों को सशक्त एवं प्रभावी बनाकर सम्प्रेपित करने के लिए किया है। जैसा कि हम ऊपर भी कह आए हैं, उन्होंने प्रतीकों का चुनाव अपने व्यवहार-क्षेत्रों के आसपास से ही किया है। प्रतीकों की सम्यक-सुष्ठु योजना के कारण उनकी अभिव्यक्तियों मे कही-कही तो अद्भुत लाक्षणिकता का समावेश भी हो गया है। एक उदाहरण द्वारा यह बात एकदम स्पष्ट उजागर हो जाती है—

"कबिरा हरदी पीऊरी, चूना उज्जर भाय।
राम सनेही यों मिलै दूनों बरन गंवाय॥"

प्रतीक के स्तर पर यहां कवि ने एक ओर तो विज्ञान-सम्मत बात कही है कि चूने-हल्दी का संयोग दोनों का स्वरूप बदल देता है, जबकि लाक्षणिक स्तर पर प्रतीकार्थ बताया है कि साध्य-साधक भी साधना की चरम स्थिति में अपनापन खोकर एकमेक हो जाया करते है। स्पष्ट है कि कबीर की प्रतीक-योजना अपने आप में नव्य एवं भव्य बिम्बों को उभारने वाली है। वस्तुतः ये प्रतीक जीवन के अत्यन्त व्यापक क्षेत्र से लिए गए है। उस पर कबीर की आत्मानुभूतियों ने उन्हें और भी अधिक यथार्थ का गहरा रंग प्रदान कर दिया है, उनका महत्व बढ़ा दिया है। उससे अनुभूति-सत्य को रूपाकार दे पाने में निश्चय ही विशेप सहायता प्राप्त हुई है। अध्यात्मवाद के साथ मिले लोक-संग्रह के भाव ने कबीर की प्रतीक योजना से बिम्बित तथ्यों को नव्य एवं भव्य आयाम दिया है, इसमें तनिक भी सन्देह नही।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—कबीर की प्रतीक योजना और बिम्बविधान पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न २—"कबीर ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है वे अत्यन्त व्यापक क्षेत्र से चुने गये हैं। इससे उनकी गहरी जीवनानुभूति का परिचय मिलता है।" इस उक्ति के सन्दर्भ में कबीर के प्रतीक विधान की मीमांसा कीजिए।



# १६. कबीर : उलटबासियां-अभिव्यक्ति का एक प्रकार

अपनी आध्यात्मिकता की गूढ़ क्रिया-प्रक्रियाओं को रूपाकार देने के लिए उलटवासियों—अर्थात् उक्ति-विपर्यय या विशेष प्रकार की उक्तियों का प्रयोग अध्यात्म-साधक अत्यन्त प्राचीन काल से करते आ रहे हैं। जहाँ तक विशुद्ध काव्यत्व का प्रश्न है, स्यात् उलटवासियों मे उसके विशेष दर्शन नही होते। वहाँ निश्चय ही बौद्धिक व्यायाम अधिक हुआ करता है। जिस प्रकार आधुनिक और विशेपकर नई कविता के दौर में 'अकविता' एक प्रकार का अवूझ-सा बौद्धिक व्यायाम ही अधिक था, वही स्थिति उलटवासी की भी कही जाती है।

उलटवासी वस्तुतः है क्या ? एक विशेष प्रकार की गूढ़ कथन-भंगिमा ही तो है। विपर्यय भाव से या रूप मे अपनी वात को इस प्रकार से कहना कि सम्वद्ध व्यक्तियों के सिवाए अन्य किसी के पल्ले कुछ भी न पड़ सके, उलटवासी कही जा सकती है। आरम्भ में चाहे यह स्थिति न भी रही हो पर मध्यकालीन तंत्र-साधना के युग में तो वस्तुतः इसकी रूपात्मक या परिभाषात्मक स्थिति कुछ इसी प्रकार की हो गई थी। मध्यकालीन तांत्रिक अपनी तंत्र-साधना-सम्वन्धी बातें लोक-जीवन में प्रकट करना उचित नही मानते थे। अतः उन्होंने विपर्यय भाव से अपनी वात कहने की जो भंगिमा या कथन-शैली अपना ली, वही उलट-वासी है। ये तांत्रिक सम्प्रदाय वस्तुतः वाममार्गी थे। इनका प्रभाव भी पर्याप्त था, यद्यपि उन्हें अपने उद्भवकाल में ही कदम कदम पर विरोध का सामना करना पड़ रहा था। इसी कारण उन्होंने अपनी वात कहने की एक विपर्यय-प्रणाली अपना ली थी। इनकी मान्यता थी कि—

"प्रकाशात् सिद्धि-हानि, स्यात् वामाचार गतौ प्रियेः।
अतो वामपथे देवी गोपयति मातृ जारवत्॥"

अर्थात् प्रकाशन से सिद्धियों का प्रभाव जाता रहता है, अतः वाममार्गी साधना में गोपनीयता आवश्यक है। इस गोपनीयता के कारण ही कथ्य की यह

विपर्यय-भंगिमा या उलटवासी की प्रक्रिया ३पनाई गई है। अच्छा-बुरा जो भी रूप रहा हो, उलटवासियों का व्यवहार-क्षेत्र अध्यात्म-साधना का क्षेत्र की रहा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। यहाँ पर यह तथ्य भी विशेष ध्यातव्य है कि सिद्धों ने जिस प्रकार की उलटवासियों का प्रयोग किया, वह वस्तुतः भापा का एक अटपटा स्वरूप ही है। उसी कारण उनकी भापा को सध्या भापा भी कहा गया है। अतः अटपटी भापा में गोप्य एवं सर्वसामान्य के लिए अबूझ भावो को व्यंजित करना भी उलटवासी कहा जा सकता है। तात्रिक एवं सिद्ध अपने वामाचारों को गोपनीय रखने के लिए ही इस प्रकार की अटपटी भाषा में अटपटी या विपर्ययुक्त उक्तियाँ कहा करते थे। आगे चलकर नाथपथी उन्ही लवो-लहजे या तर्ज पर अध्यात्म-साधना से सम्वन्धित गूढ़ बाते भी कहने लगे। कबीर क्योंकि अपनी अध्यात्म-साधना के क्षेत्र मे नाथ-सम्प्रदाय से पर्याप्त प्रभावित थे, अतः उन्होंने भी अपनी वाणी में यत्र-तत्र इस विपर्यय-पद्धति को अपना लिया। लोग इस विपर्यय-पद्धति को समझ पाने में असमर्थ थे, अतः उन्होने इस प्रकार की अभिव्यक्तियों को 'उलटवासी' नाम दे दिया और यह नाम ही अध्यात्म-साधकों मे चल निकला।

कबीर ने उलटवासियो को 'उलटा वेद' कहकर भी अभिहित किया है। वेद मे वहुत कुछ सैद्धान्तिक अभिव्यक्तियाँ है। अतः मध्ययुगीन अध्यातमवादी क्षेत्रों में अप्रकाश्य अध्यात्म-सिद्धान्तों को 'उलटा वेद' या उलटवासी कहा जाने लगा। कबीर से पहले इस प्रकार की विपर्यय उक्तियां कहने की परम्परा निश्चय ही विद्यमान थी। कुछ लोगों का तो कथन है कि ऋग्वेद तक मे उलटवासियां या विपर्यस्त उक्तियां पाई जाती है। वेद-विहित अदिति-कथा का इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेख किया जाता है। आगे चलकर उपनिषदो में से भी विद्वानों ने उलटबासियों की परम्परा खोज निकाली है। तैतिरेय उपनिषद की एक उक्ति उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जाती है कि "पृथ्वी आकाश में और आकाश पृथ्वी मे प्रतिष्ठित है।" उपनिपदो के काल के वाद उलटवासियों का चलन हमें तांत्रिक-साहित्य की विविध उक्तियों में ही दिखाई देता है। अपने तंत्र-साधना के भेदो और वामाचारों को सुगुप्त या सम्बद्ध लोगों तक सीमित रखने के लिए वे लोग इस प्रकार की उक्तियों का प्रयोग करते रहे। उनके बाद वज्रयानी सिद्ध और फिर नाथ-सम्प्रदाय के साहित्य में भी इस प्रकार की

उक्तियो के प्रयोग मिलने लगते हैं। सिद्धों और नाथों से होती हुई यह परम्परा कबीर तक पहुंची। पर यह एक तथ्य है कि कबीर की प्रामाणिक बाणी में उलटवासियों की संख्या स्वल्प ही है। फिर अभिव्यक्ति के इस प्रकार के प्रति कबीर कोई विशेष आग्रही नही दीख पड़ते। पर प्रक्षेपों के कारण आज कई ऊट-पटांग उक्तियों को कबीर के नाम से प्रचारित-प्रसारित किया जाता है। जैसे—

**"बरसै कम्बल भीजै पानी।"**

या फिर 'नाव में नदिया डूबी जाए' आदि। इस प्रकार की और कई उक्तियां भी आज कबीर के नाम से सम्बद्ध होकर रह गई है।

जैसाकि हम ऊपर कह आए है, विपर्यय-पद्धति या उलटबासियो के मूल में आध्यात्मिक या अन्य वामाचारों से सम्बन्धित गोपनीयता की भावना तो है ही, जिज्ञासा जागृत करने की भावना भी निश्चय ही पाई जाती है। पहली भावना के समान इस दूसरी भावना को व्यर्थ या बुरा नही कहा जा सकता। उलटवासी में ऐसी घटनाओं या तथ्यों का छिपा कथन भी रहा करता है, जो व्यवहार जगत मे उस प्रकार से घटित न हुआ हो। परिणामतः इनका श्रवण कर आम जन स्पष्टतः जिज्ञासु हो उठा करते थे और सम्वद्ध लोग इसी जागृत जिज्ञासा को अपने मत-पन्थ के प्रचार के सन्दर्भ में सफलतापूर्वक भुना लिया करते थे। जहां तक कबीर की उलटवासियों का प्रश्न है, एक तो उन्हें हम निहित स्वार्थो से अनुप्राणित नही कह सकते, दूसरे उन्हे नितान्त शुष्क एवं नीरस कहकर काव्य-जगत से वहिष्कृत भी नही कर सकते। इनमें एक प्रकार की निश्चित प्रतीकात्मक योजनाए उपलब्ध होती है। मात्र चमत्कार उत्पन्न करना उनका प्रयोजन या गन्तव्य नही कहा जा सकता। कबीर ने सिद्धों और नाथों से इस परम्परा को अपनाया, यह असन्दिग्ध त-य है। इसकी पुष्टि तब और भी हो जाती है, जब हम सिद्धो की कई उलटवासियो को थोड़े परिवर्तन के साथ ज्यो-का-त्यो कबीर-वाणी मे भी पाते है। तुलनात्मक दृष्टि से तान्तिया नामक सिद्ध की यह उक्ति देखें—

**"बादल बिआएल गबिया बांझे, पिट्टा दहिए एलना सांभे।"**

इसी को कबीर ने यों कर दिया है—

**"बैल बियाय गाय भई बांझ, बछरा दूहे तीनों सांझ।"**

कुछ लोग कबीर की अधिकांश आध्यात्मिक उक्तियो को उलटबासी मानते है, जबकि कुछ अन्य उनकी वाणी मे उलटबासियों जैसी उक्तियो का प्रयोग

न्यूनतम स्वीकार करते हैं। दूसरा मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस मतावलम्बियों ने कबीर की प्रत्येक चामत्कारिक उक्ति को उलटवासी या विपर्ययपूर्ण उक्ति मान लिया है, जबकि चमत्कार काव्य का एक गुण तो अवश्य है, पर प्रत्येक चामत्कारिक उक्ति उलटवासी नहीं हुआ करती। कबीर की उलटवासियो मे कोई न कोई आध्यात्मिक चमत्कार पाया जाता है। उसमे अभिव्यंजना के कई रूप दिखाई देते है। विरोध की भावना तो रहती ही है, उसके साथ रूपकात्मक एव प्रतीक शैलियो का भी एक विलक्षण समन्वय दिखाई देता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की मान्यता है कि प्रत्येक उलटवासी मुख्यतः रूपकात्मक ही हुआ करती है। पर डॉ० त्रिगुणायत इस मान्यता का विरोध करते हुए लिखते है कि "हमारी समझ मे इस प्रकार का नियम निश्चित करना उचित नही है। बहुत सी ऐसी उलटवासियां होती है जो रूपकप्रधान न होकर विभावना, असंगति, विरोध, विशेषोक्ति और व्याघात आदि विरोधमूलक अलंकारो के सहारे व्यक्त हुई है। उनमे कही-कही पर रूपक की योजना बिल्कुल भी नही मिलती।" हमारे मत मे भी यह मान्यता उचित प्रतीत होती है। उलटवासियो मे रूपक की योजना रह सकती है, पर सर्वत्र नही। हां, विरोधमूलक विलक्षणता उलटवासी के लिए स्यात् आवश्यक गुण-धर्म है। इस मान्यता के अनुसार ही डॉ० त्रिगुणायत ने कबीर की उलटवासियों को उनकी प्रकृति के आधार पर निम्नलिखित भागों-उपभागो मे विभाजित किया है—

१. अलंकार-प्रधान उलटवासियां। २. अद्भुत-रस प्रधान उलटवासियां। ३. प्रतीक-प्रधान उलटवासियां।

इनका सोदाहरण ब्यौरा एव विवेचन भी उन्ही के अनुसार इस प्रकार से रेखांकित किया जा सकता है—

१. अलंकार-प्रधान उलटवासियाँ—उलटवासी का प्रयोग मूलतः लोगों को चमत्कृत करने की भावना से भी किया गया है, ये बात ऊपरी विवेचनों मे कही जा चुकी है। उसी प्रकार काव्य मे अलंकारो के प्रयोग का एक कारण उक्ति मे चमत्कार उत्पन्न करना भी माना जाता है। पर, जैसा कि ऊपर भी कहा गया है, उलटवासी मे प्रायः विरोधमूलकता रहती ही है। उस विरोधमूलकता के कारण ही इस प्रकार की विपर्यय-उक्ति मे चमत्कार भी उत्पन्न हो जाया करता है। इसीलिए अलंकार-प्रधान उलटवासियां मुख्यतः एवं

मूलतः विरोधमूलक अलंकारों पर ही अवलम्बित रहा करती हैं। इन विरोध-मूलक अलंकारों मे प्रमुख माने जाते है—विरोध, विरोधाभास, असम्भव, विभावना, असंगति, विशेपोक्ति, विपम विचित्र, अधिक, अन्योन्य एवं व्याघात अलंकार। अध्यवसायमूलक एवं विरोधमूलक अतिशयोक्ति अलंकार भी इसी के अन्तर्गत आता है। प्रायः कबीर की उलटवासियां इन्ही अलंकारों पर आश्रित एवं आधृत है। यथा कार्य-करण की भिन्नता वाले असंगति अलंकार का उदाहरण है—

"आगमि बेलि अकास फल अण व्यावण का दूध।"

तभी जगह कार्य-करण की विभिन्नता के कारण ही यहा चमत्कृत करने की क्षमता आ गई है। आध्यात्मिक संकेत भी प्रायः अबूझ है और श्रोता या पाठक के चमत्कृत होने, जिज्ञासा बनने का यह भी एक कारण स्पष्ट है। इसी प्रकार बिना हेतु कार्य सम्पादित कराने वाले अलंकार 'विभावना' से संयत उलटवासी का उदाहरण भी देखें—

"कमल जो फूले जलह बिन......"

कार्य-कमल का फूलना तो हो रहा है, पर कारण जल के अभाव में। अब इस उक्ति मे कौन-सा आध्यात्मिक संकेत है, यह स्पष्ट नही। हमारी स्वाभाविक जिज्ञासा इसकी व्याख्या मांगती है।

इसी प्रकार 'विपम' अलंकार से संयत उलटवासी का उदाहरण भी प्रस्तुत है। देखिए कितनी चमत्कृत कर देने वाली आध्यात्मिक चेतना से संयमित बात कही गई है—

"आकासे मुख औंधा कुआं पाताले पनिहार।"

सामान्य तो क्या विशेप व्यक्तियों के भी इस प्रकार की उक्तियो की व्याख्या करते समय छक्के छूट जाना स्वाभाविक है।

'अधिक' अलकार से अलकृत उलटवासी भी कितनी भव्य, प्रभावी एवं चमत्कृत कर देने वाली बन पड़ी है—

"जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैं गल मलि न्हाय।
देवल बूड़ा कलस सू, पंखि तिसाई जाय॥"

'विरोध' एवं 'विशेपोक्ति' अलंकारों का संकर रूप उलटवासी की निम्न-लिखित पंक्ति में द्रष्टव्य है—

"ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।"

अब करते रहिए माथापच्ची और ढूंढ़ते रहिए सिंह द्वारा गौएं चराने के चमत्कृत कर देने वाले इस कथन का आध्यात्मक गूढ़ार्थ। जो हो, इन उक्तियों को विपर्ययपूर्ण होते हुए भी एकदम शुष्क-नीरस या कल्पनाहीन नही कहा जा सकता। सिद्धों की सन्ध्या-भाषा की उलटी-सीधी वहक माना भी नही कहा जा सकता। रहस्यगूढ़ता के साथ चमत्कृत और प्रभावित करने की शक्ति भी इनमें विद्यमान है और सरसता भी।

**२. अद्‌भुत रस-प्रधान उलटबासियाँ**—कबीर की विपर्यय उक्तियों (उलटबासियों) में अनेकशः अद्‌भुत रस का आश्रय लेकर गूढ रहस्यात्मक बातें भी कही गई हैं। कवि ने अनेकशः घटना-व्यापार को सचित्र सजीवता प्रदान करने की चेष्टा की है। ऐसा करते समय आलंकारिक एवं प्रतीकात्मक प्रयोग तो महत्वहीन से होकर रह गए है और अद्‌भुत रस की सवल सृष्टि होने लगी है। परिणामतः पाठक या श्रोता का ध्यान गूढ़ार्थ की ओर न जाकर चकित होकर ही रह जाता है। उदाहरण प्रस्तुत है—

"ऐसा अद्‌भुत मेरे गुरि कथ्या में रहा भेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई बिरला पेखै॥
मूसा पैठा बाँबि मैं, लारे सापणि धाइ।
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचरजु भाई॥
चींटी परवत ऊषण्याँ ले रख्यौ चौड़े।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पाणी दौड़ै॥
सुरहीं चूंखे बछतलि, बच्छा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया, सारदलहि मारै॥
भील लुक्या वन बीझ मैं, ससा सर सारै।
कहै कबीर ताहि गुरु करौं, जो यह पदहि बिचारै॥"

पद पर विचार कर कबीर के गुरु बनने की चेष्टा व्यर्थ है। इसमें यद्यपि सुषुम्ना एवं अन्य नाडी-चक्र-साधना का उल्लेख किया गया है, पर सभी चकित-चमत्कृत कर देने वाले उलटे एवं अद्‌भुत ढंग से। इस प्रकार के अन्य कई उदाहरण भी कबीर-काव्य में खोजे जा सकते है।

**३. प्रतीक-प्रधान उलटबासियाँ**—अध्यात्म-साधना की गूढ़ रहस्यात्मक अभिव्यक्तियाँ करते समय अनेकशः कबीर ने प्रतीकों का सहारा भी लिया है। वस्तुतः जिसे उलटवासी या उक्ति-विपर्यय कहा जाता है, उसमें प्रतीकात्मकता

सदा-सर्वदा प्रमुख रहा करती है। पर कहीं-कहीं उनमें रूपकात्मकता भी उभर-कर सामने आ जाया करती है। यही देख डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर की इस प्रकार की उलटवासियों का अन्तः विभाजन दो रूपों मे कर दिया है—

(क) प्रतीक-प्रधान उलटवासी। (ख) रूपक-प्रधान उलटवासी।

क्रम से इन दोनों के उदाहरण द्रष्टव्य है। पहले प्रतीक-प्रधान का ही उदाहरण देखें—

"कैसे नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष विचदखन नारी।
बैल बियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीयू साँझ॥
मकड़ी घरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साँप पसरिया॥
नित उठ स्यालल सिंह सू जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै।"

है न सब कुछ एक अबूझ पहेली। अब दूसरे रूप रूपक-प्रधान उलटबासी का भी एक उदाहरण देखें—

"हरि के षारे बड़े पकाए, जिनि जारे तिनि खाए।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, ताथैं जनमि जनमि डहकाए॥
धौल मदलिया बैलह बाबी, कड़वा ताल बजावै।
पहिर चोलना गदहा नाचै, भैंसा निरति करावै॥
स्यंध बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आनन्द सुनावै॥
कहैं कबीर सुनहु रे सन्तुहु, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगले समंद अकासे धावा।"

इसी प्रकार की और कई रूपकात्मक या रूपकमूलक उलटवासियाँ भी कबीर की वाणी में उपलब्ध है।

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर ने अपने से पूर्ववर्ती साधकों के विभिन्न सम्प्रदायों से प्रेरणा लेकर विपर्यय-उक्ति या उलटबासी के महत्व को भली प्रकार समझा, उसे हृदयगंग करके स्वयं भी अपनी अध्यात्मक साधना में अभिव्यक्ति की इस विधा का सुखद प्रयोग किया। कबीर की उलटबासियों की प्रमुख विशेषता यह रेखांकित की जा सकती है कि इनमें तांत्रिकों-वज्रयानी सिद्धों की इस प्रकार की उक्तियों के समान अश्लीलता कही नही आने पाई। उन्होंने डोमनियों, रजकनियों आदि का विलास-वासना के संदर्भ में संध्या-भाषा का

उन्होने उसी प्रकार के अर्थात् अपने श्रोतावर्ग के अनुरूप भाषा का या भाषायी शब्दों का प्रयोग किया। यही कारण है कि एक ओर उनकी भाषा मे जहां पूर्वी हिन्दी का ठेठ ठाठ देखा जा सकता है, वहाँ पश्चिमी हिन्दी, अरबी-फारसी, उर्दू, अवधी ब्रज आदि विभिन्न भाषाओं का सम्पाट भी देखा जा सकता है। इन भाषाओं के साथ-साथ खड़ी बोली, पंजाबी, मारवाड़ी, भोजपुरी, बुन्देली आदि उपभाषाओ या बोलियो के यथेष्ठ शब्द भी उनके भाषायी-प्रयोगों मे स्पष्ट देखे जा सकते है। स्यात् यही सब देख-सुनकर ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में एवं अन्यत्र कबीर की भाषा का नामकरण 'सधुक्कडी' भाषा किया है, जो एक प्रकार से उचित ही प्रतीत होता है। पर इस मान्यता को शुक्लजी ने कबीर की साखियों तक ही सीमित रखा है। उनकी मान्यता है कि कबीर-विरचित रमैनियों मे पूर्वी भाषा एवं ब्रज-भाषा का ही प्रमुखतः सम्मिश्रण है।

यहाँ कबीर की भाषा से संबंध रखने वाले अन्य विद्वानो के मतों का संक्षेप में आकलन-अध्ययन कर लेना उचित रहेगा। डॉ० श्यामसुंदरदास नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' की भूमिका मे कबीर की भाषा के बारे मे कहते है कि उसका निर्णय कर पाना वास्तव मे 'टेढ़ी खीर' है। इन्होने कबीर की भाषा को आचार्य शुक्ल के समान सधुक्कड़ी तो नही, पर 'खिचड़ी' कहकर अभिहित कर दिया है। फिर वे कबीर की इस उक्ति के आधार पर कि 'मेरी बोली पूरबी' में 'पूरबी' का अर्थ बिहारी-मिश्रित अवधी भाषा स्वीकारते है। वे कबीर की बोली पर खड़ी, पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज आदि का प्रभाव भी निस्संकोच स्वीकार करते है। इसके विपरीत डॉ० बाबूराम सक्सेना कबीर को अवधी भाषा का प्रथम संत कवि स्वीकार करते हैं, जिसे स्यात् युक्तिसंगत नही कहा जा सकता। प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी की मान्यता है कि कबीर मूलतः भोजपुरी क्षेत्र के निवासी थे। पर तत्कालीन अन्य कवियो के समान उन्होने भी काव्य-भाषा के रूप में ब्रज एवं अवधी भाषाओं का ही अपनी कविता में प्रयोग किया। फिर भी जब वे अपनी भूमि की बोली भोजपुरी का प्रयोग किया करते थे, तो स्वभावतः उसमे ब्रज एवं अन्य पश्चिमी बोलियों के शब्दों, तत्वों का समावेश हो जाया करता था। अतः चटर्जी साहब यह निर्धारित करते है कि कबीरजी की भाषा भोजपुरी-मिश्रित ब्रज भाषा ही सामान्यतः कही जा सकती है।

हिन्दी भाषा के एक अन्य विद्वान डॉ० उदयनारायण तिवारी का मत है कि कबीरजी की काव्य-भाषा मूलतः भोजपुरी ही है, परन्तु जिस प्रकार समय पाकर बुद्ध की पालि भाषा में अनेक प्रकार के परिवर्तन आ गए थे, उसी प्रकार कबीर काव्य का व्यापक प्रचार-प्रसार होने पर उस पर भी विविध प्रकार के स्थानीय रंग-रूप चढ़ गए। यही कारण है कि उनकी भाषा मे विविध भाषाओं-बोलियो के शब्द मिलते एवं उनका प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। राजस्थान के कई विद्वानों के समान सूर्यकरण पारीख ने 'ढोला मारूरा दूहा' की भूमिका मे कबीर-भाषा के बारे में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है कि कबीर को उसी प्रकार से राजस्थानी भाषा का कवि कहा जा सकता है, जैसे 'ढोला मारू' काव्य के सर्जक को। पर हमारे विचार मे ऐसा मानना कतई युक्तिसंगत नही। कबीर की भाषा अनेकशः राजस्थानी-प्रभावित अवश्य प्रतीत होने लगती है, पर उनके काव्य में इस प्रकार का प्रभाव छोड़ने वाले स्थल बहुत कम हैं। कबीर के साहित्य पर विशेष कार्य करने वाले डॉ० रामकुमार वर्मा की मान्यता है कि कबीर की भाषा अपरिष्कृत है। वह पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी का सम्मिश्रण है। उनकी यह भी मान्यता है कि मूलतः कबीर की भाषा अपनी स्थानीय बोली भोजपुरी ही रही होगी। बाद में उनके भक्तों ने उस पर पश्चिमी रंग चढ़ा दिया होगा, जैसे कि बुद्ध की भाषा मे भी परवर्ती काल मे परिवर्तन आ गया। बिहार के डॉ० सुभद्र झा की मान्यता है कि कबीर का जन्म मिथिला मे हुआ था और वही उनका आरम्भिक जीवन भी व्यतीत हुआ था। उनकी रचनाएँ भी मूलतः मैथिली भाषा मे ही रची गई थी। पर यह मान्यता अन्य किसी विशिष्ट विद्वान का समर्थन नही जुटा सकी, अतः अमान्य ही ठहराई जाएगी। डॉ० गोविंद त्रिगुणायत ने डॉ० श्यामसुंदर दास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रंथावली' और डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा विरचित-संकलित 'संत कबीर' के आधार पर कबीर की भाषा संबंधी सामान्य प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. उसमें पंजाबीपन अधिक है।

२. उसमे भोजपुरी भाषा के संज्ञा और क्रिया रूप प्रचुरता से मिलते है।

३. उनकी भाषा में कही-कही खड़ी बोली के अच्छे उदाहरण मिलते है।

४. भाषा का रूप अधिकतर विषय एवं भाषा के अनुरूप है।

का प्रयोग ३३२ बार, परसर्गों का ६०२ बार, सर्वनामों का १४६ बार, क्रियाओं का प्रयोग ३३२ बार किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने यह मान्यता भी व्यक्त की है कि कबीर की वाणी में ऐसे अनेक शब्द भी उपलब्ध होते है, जिनकी मूल अवधारणा भोजपुरी ही थी, पर लिपिकारों ने उनका रूपान्तरण कर दिया।

कबीर की वाणी में यत्र-तत्र शुद्ध खड़ी बोली के रूप भी देखे जा सकते हैं। आचार्य शुक्ल खड़ी बोली के शब्द-रूपों के प्रयोग की परम्परा को सिद्धों की देन मानते है। उनका यह भी कहना है कि उपदेश देने के क्षणो मे कबीर आदि सभी सन्तों की भाषा प्रायः खड़ी बोली हो गई है। पियारा, अकेला, झूठा, भला, का, था, थे, भया, गा, गे, गो आदि रूप खड़ी बोली के ही है। डॉ० भगवतप्रसाद दुबे के अनुसार कबीर की वाणी मे खड़ी बोली की सज्ञाओं का प्रयोग २०२ बार, विशेषणों का २४ बार, परसर्गों का १००१ वार, सर्वनामों का ७४६ वार और क्रियाओं का ३६०७ वार हुआ है। कुल प्रयोग की दृष्टि से कबीर की वाणी मे व्रज भाषा के शब्दों की कुल सख्या (६८४७) के बाद खड़ी बोली का ही क्रम आता है। कुल योग बनता है—५८६३ शब्द। एक साखी भी उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है, जिसमें समग्रतः खड़ी बोली का ही प्रयोग सुष्ठु प्रकारेण सम्भव हो सका है—

**"भारी कहूं तो बहु डरू, हलका कहूं तो झूठ।**
**मैं क्या जानों राम को, नैनों कबहूं न दीठ॥"**

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत की यह मान्यता है और उचित भी प्रतीत होती है कि कबीर की काव्य-भाषा का रूप अधिकतर विषय, व्यक्ति और भाव के अनुकूल है। जब वे किसी मुसलमान को कोई बात समझाते थे या किसी इस्लामी बात को समझाना चाहते थे तो वह फारसी-मिश्रित उर्दू का प्रयोग करते थे। इस प्रकार हिन्दू धर्म की चर्चा करते समय तथा पण्डितो को समझाते समय शुद्ध हिन्दी का ही प्रयोग करते थे। देखिए मियां को समझाते समय कैसा उर्दू का प्रयोग किया है—

**"मीयाँ तुम्हसौं बोल्यां वाणी नहीं आवै।**
**हम मसकीन खुदाई बन्दे, तुम्हारा जस मनि भावै॥**

अल्लाह अवलि दीन का साहिव, जारे नहीं फरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहाँ थे आया॥"

इसी प्रकार हिन्दू महात्माओं और सन्तों का लक्षण वताते समय वह शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं—

"निरवैरी निहकामता, सांई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनिका अंग एह॥"

शुद्ध हिन्दी होते हुए भी भाषा की भंगिमा व्रज और अवधी से प्रभावित है, यह वात यहां स्पष्ट देखी जा सकती है। क्योंकि कवीर की भाषा मे वंगला, मैथिली, राजस्थानी आदि भाषाओं के प्रयोग भी मिल जाते हैं, अतः डॉ० त्रिगुणायत का यह कथन एक सीमा तक ठीक ही प्रतीत होता है कि कबीर की भाषा में यदि देखा जाए और खोज की जाए, तो भारत की प्रत्येक भाषा का कुछ न कुछ प्रभाव दिखाई देगा। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में मारवाड़ी, राजस्थानी, पंजावी, भोजपुरी आदि के वहुत से रूप मिलते है।' राजस्थानी का प्रभाव इस प्रकार की कई साखियों में देखा जा सकता है—

"आखड़ियां प्रेम कसाइयां, लोग जाने दुखड़ियां।
साईं अपने कारणै, रोई-रोई रातड़ियां॥"

इसी प्रकार राजस्थानी-प्रभावित 'जीभड़ियां' जैसे प्रयोग भी उनकी कविता में मिल जाते हैं—

"जीभड़ियाँ छाला परा, राम पुकारि पुकारि।"

राजस्थानी के मिश्रित-अमिश्रित शब्दों के प्रयोग की कुल सख्या कवीर की वाणी में ३००० के आस-पास या इससे कुछ अधिक वताई जाती है। जो हो, प्राय. विद्वानों का निष्कर्ष यह है कि कवीर की काव्य-भाषा का मूल या वास्तविक आधार, पारिभाषिक शब्दावली में रीढ़ की हड्डी तो खड़ी वोली ही है। भोजपुरी, अवधी व्रज, आदि नही। पंजावी तो एकदम नही। उसे पश्चिमी हिन्दी भी कहा जा सकता है। कवीर के जन्म-निवास-स्थान आदि के कारण उस पर पूर्वी हिन्दी का प्रभाव भी स्वाभाविक ही कहा जाएगा। उस पर व्रज एवं अवधी का प्रभाव भी असंदिग्ध है। व्रज-भाषा के मिश्रित शब्दों की संख्या कवीर वाणी में क्रमशः इस प्रकार स्वीकारी गई है—

संज्ञा-शब्द—५८३, विशेषण—६३, परसर्ग—१०८०, सर्वनाम—१५७१, क्रिया-रूप—१६१०, कुल ६८४७ और अमिश्रित रूपों की संख्या क्रमशः इस प्रकार निर्धारित की गई है—संज्ञा-रूप—१६८, विशेषण शब्द—७९, परसर्ग—५९, सर्वनाम—१३८, क्रिया-रूप—५९२, कुल—१०३६।

इसी प्रकार कबीर की वाणी अवधी भाषा से भी अप्रभावित नहीं। डॉ० भगवतप्रसाद दुबे के अनुसार कबीर-वाणी में अवधी भाषा मिश्रित-अमिश्रित रूपों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—

| | मिश्रित | अमिश्रित |
|---|---|---|
| संज्ञा | ३६७ | ७० |
| विशेषण | ८६ | २३ |
| परसर्ग | ८३५ | ५८ |
| सर्वनाम | १४०३ | १५२ |
| क्रिया | ३८१६ | २१७ |
| कुल जोड़ | ५५६१ | ५३१ |

इस प्रकार अन्य भारतीय विशेष कर उत्तर-पूर्वी भारत की कई भाषाओं का स्पष्ट प्रभाव भी कबीर की काव्य-भाषा पर स्पष्ट उपलब्ध है। इसी कारण उनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' या फिर आम शब्दों में 'साधभाषा' कहना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अनेक वरिष्ठ विद्वानों ने ऐसा कहा भी है। शौरसेनी 'अपभ्रंश' से मध्य देश की जिन दो भाषाओं का विकास हुआ, अमीर खुसरो के 'कह सिपहर' के अनुसार उनके नाम हैं—देहलवी और पूरबी। देहलवी को ही उस समय हिंदुई भाषा या बोली कहा जाता था। इसी को मूलतः या रीढ़ के रूप में अपनाकर, अन्य भाषाओं के सहयोग से सिद्धों-नाथों ने अपने मत का प्रचार-प्रसार किया था। कालान्तर में कबीर ने भी मूल आधार के रूप में उसी भाषा और अन्य भाषाओं के सहयोग की प्रक्रिया को अपनाकर अपनी भाषा का ढांचा खड़ा किया और अपने विचार अभिव्यंजित कर सर्व-सुलभ कर दिए। पर उनकी हिन्दुई भाषा का वह रूप ही है, जो पूरब में प्रचलित था। पंजाबी, राजस्थानी, मारवाड़ी आदि को विविध सन्तों-साधुओं के सत्संग का प्रभाव रेखांकित किया जा सकता है। डॉ० भगवतप्रसाद दुबे आदि कुछ लोगों ने कबीर की मूल भाषा ब्रज को

माना है। उनके अनुसार—"कबीर ग्रंथावली में मिश्रित तथा अमिश्रित दोनों रूपों मे ब्रज के रूपों का स्पष्ट रूप से सर्वाधिक प्रयोग देखकर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि उसकी मूलाधार बोली ब्रज है।" इस मान्यता में यद्यपि कुछ वजन दीख पड़ता है, पर कुल मिलाकर कबीर की भाषा का जो रूप बनता है, उसे समन्वित या मिश्रित कहना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। डॉ० महेन्द्र का मत भी काफी कुछ 'मिश्रित' रूप पर ही बल देने वाला है। उनकी मान्यता है कि संज्ञा, परसर्ग, सर्वनाम, क्रिया एव अव्ययों मे अवधी, ब्रज और खडी बोली का सर्वाधिक मिश्रण है। उनके कथन का सार-तत्व यह है कि—

"प्रयोगवृत्ति की दृष्टि से संज्ञा तथा क्रिया में ब्रज के रूप अधिक है। परसर्ग और अव्यय अवधी के अधिक है तथा सर्वनाम खड़ी बोली के। वैसे रूपों के वैविध्य की दृष्टि से अवधी के रूप अपेक्षतया अधिक पाये जाते हैं। भाषा निर्णय करने समय इस तथ्य की सर्वथा उपेक्षा नही की जा सकती—फिर भी केवल अवधी को कबीर की भाषा के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। ब्रज भाषा तथा खड़ी बोली का इतना अधिक मिश्रण है कि इनकी उपेक्षा नही की जा सकती। इस कारण कबीर को किसी एक भाषा का कवि अथवा कबीर ग्रंथावली की भाषा कोई एक बोली स्वीकार करना वैज्ञानिक नहीं। कबीर की भाषा में अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली इन तीनों भाषाओं का मिश्रण मानना ही अधिक न्यायसंगत तथा वैज्ञानिक होगा। इन तीनों के मिश्रित रूप के साथ राजस्थानी, भोजपुरी तथा पंजाबी के रूपों का सहायक रूप मे प्रयोग हुआ है।" इस प्रकार कबीर की भाषा को समन्वित, मिश्रित, सधुक्कड़ी, खिचडी या 'साध-भाषा' कहना ही उचित है। ये सारे शब्द भाषा के मिले-जुले स्वरूप के ही परिचायक है।

निराडम्बरता, सहजता, सरलता, स्पष्टता आदि कबीर की काव्य भाषा के प्रमुख गुण कहे जा सकते है। इतना होते हुए भी यह अत्यधिक सारगर्भित एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, अतः एक व्यापक एवं स्पष्ट व्याख्या मांगती है। उदाहरणस्वरूप हम उनके सर्वाधिक सरल एवं प्रचलित दोहे को ले सकते हैं—

**"काल्ह करे सो आज कर, आज करे सो अब।**
**पल में परलय होयगी, बहुरी करेगा कब॥**

दोहे का शाब्दिक अर्थ और अभिप्राय स्वत: व्यंजित एवं स्पष्ट है, पर इसके मूल में भारतीय आवागमन एवं उससे छुटकारे या मुक्ति की जो दार्शनिक ध्वन्यात्मकता अन्तर्हित है, वह निश्चय ही व्याख्या एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि का ज्ञान मांगती है। इसी कारण उनकी भाषा को सीधी, सरल एवं स्पष्ट होते हुए भी सांकेतिक, पारिभाषिक एवं प्रतीकात्मक कहा जाता है। हाँ, कबीर की भाषा में आरोपित क्लिष्टता या आलंकारिकता नहीं है। अभिव्यंजना की सहज-स्वाभाविकता में ही उसका समुचा सौष्ठव समाया हुआ है। योग-साधनाओं, दार्शनिक एवं रहस्यवादी चेतनाओं के सविस्तार वर्णन के कारण ही उसमें प्रतीकात्मकता जैसे गुण आ गए हैं कि जो व्याख्या मांगते हैं। पृष्ठभूमि के सम्यक् ज्ञान के बिना उसे समझ पाना उतना सहज-सरल नहीं कि जितना समझ या कह दिया जाता है। कबीर ने कई बार भाषायी शब्दों का प्रयोग विकारयुक्त या तोड़-मरोड़ कर भी किया है। फिर भी डॉ० त्रिगुणायत के शब्दों में कबीर का भाषा पर एकाधिकार है। भावानुकूल एवं समयानुकूल भाषा गढ़कर तथा कांट-छांट कर उसमें अपनी स्वेच्छानुसार अभिव्यक्ति करके उन्हें खूब आता है। तभी तो उनकी उक्तियों में इतना प्रभाव, प्रवेग और प्रेषणीयता है। और तभी उन्हें 'वाणी का डिक्टेटर' उचित ही कहा गया है। बड़ी-से-बड़ी बात सहज सरल भाषा में कह देने में कबीर-सा सिद्धहस्त अन्य कोई कवि नहीं मिलता। एक पंक्ति देखें—

"सो जीवन भला कहा हीं। बिनु मूए जीवन नाहीं।"

कितनी बड़ी बात वे सरल-सीधे शब्दों में कह गए हैं। इस प्रकार की उक्तियों से उनका काव्य भरा पड़ा है। अत. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कबीर की भाषा सम्बन्धी प्रश्नों का समाहार कुल मिलाकर इस प्रकार किया जा सकता है—"अत्यन्त सीधी भाषा मे वह गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड कर चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता।" और फिर "अनकही कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत से अन्य लेखकों में नहीं पाई जाती है।" किसी प्रभावी एवं जीवन्त भाषा के बारे में ही इस प्रकार के विचार प्रकट किए जाया करते है।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—"भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे।" आचार्य द्विवेदी की इस उक्ति से आप कहां तक सहमत हैं ?

प्रश्न २—कबीर ने अपनी भाषा पूरबी कही है परन्तु वास्तव में उनकी भाषा अधिकतर खड़ी, ब्रज, अवधी और राजस्थानी का मिश्रण है। इस भाषा-वैभिन्नय पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

प्रश्न ३—"भाषा बहुत परिष्कृत एवं परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है।" इस उद्धरण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

प्रश्न ४—कबीर की भाषा के रूप और गुण का संक्षेप में विवेचन करें।

प्रश्न ५—"भाषा की दृष्टि से कबीर सच्चे लोकनायक थे। उनकी भाषा का निर्माण उस विस्तृत भूभाग से हुआ था जो पूर्व में बिहार से लेकर पश्चिम में राजस्थान-पंजाब तक फैला हुआ है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए कबीर की भाषागत विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए।

---

# १८. कबीर : कवित्व-प्रतिभा

"कवीर कोरे सन्त थे, कवि नही। कवीर की वाणी जीवन के कटु सत्यों का प्रकाशन तो करती है पर उसमे कवित्वमयता का सर्वथा अभाव है। कवीर एक पहुंचे हुए दार्शनिक और विचारक तो थे, पर कविता के साथ उनका दूर का भी वास्ता नही था। या वे ठोंक-पीटकर कवि हो गए थे। कवीर की रचना उपदेश तो देती है पर भावोन्मेष नही करती। कवीर क्योंकि अनपढ थे और काव्यशास्त्र से अपरिचित भी, अतः कविता का उनके साथ क्या वास्ता ? कवीर की वाणी छन्दशास्त्र की कसौटी पर एकदम खरी नही उतरती, आदि।" कवीर के व्यक्तित्व, कृतित्व और काव्यत्व को लेकर अक्सर इस प्रकार के अपवाद उछाले गए और आज भी यत्र-तत्र उछाले जाते है। हमारे विचार में इस प्रकार के अपवाद उछालने वाले काव्यशास्त्र और उसकी बंधी-बंधाई परम्पराओं से तो यत्किंचित परिचित प्रतीत होते हैं, पर काव्यत्व या वास्तविक कविता क्या होती है, इस वात से परिचित नही लगते। सत्य तो यह है कि इस तरह की वातें करने-कहने वाले स्वयं में सहृदय या कवि-हृदय नहीं हैं, जबकि वास्तविक कविता या कवित्व की परख एवं समीक्षा के लिए सहृदय या कवि-हृदय होना पहली शर्त मानी गई है। इस सम्बन्ध मे डॉ० पारसनाथ तिवारी का मन्तव्य विशेष उल्लेखनीय है—

"कवीर के अन्य पहलू जिस प्रकार विवादास्पद है उसी प्रकार उनका कवि कर्म भी विवाद का विषय बना हुआ है। असल में इन फक्कड़राम का व्यक्तित्व ऐसा विलक्षण है कि उसके किसी भी पक्ष को पूर्व निश्चित चौखटे मे डालना टेढ़ी खीर हो जाता है। इसीलिए हिन्दी-आलोचकों का वह वर्ग जो काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर काव्य की परख करना चाहता है, कवीर को उत्कृष्ट कवि मानने को तैयार नही। वह क्यों तैयार नही, इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० तिवारी आगे फिर कहते है कि—"यह वर्ग रीतिकालीन कवियों की 'कविताई' का कायल है जिसमें कोमल भाव-भंगिमा है, शब्दों का मनोयोगपूर्ण स्थापन-कौशल है, और उनके चित्र गुण, संगीत गुण को उनकी व्यंजना-शक्ति से कम महत्व नही दिया जाता, जिसमें छन्दों और अलंकारों का

"सिर चालन' है, भाषा की लुनाई है और तद्नुरूप वर्ण्य विषय में पर्याप्त ससृणता है। पर हमारे विचार में ये सभी बातें अच्छे काव्यत्व की उपाग तो हो सकती है, पर समग्रतः काव्यत्व एवं कविता को इन्ही पर आधृत नही माना जा सकता। कविता तो हार्दिक, सहज-स्फुरित भावनाओ की अभिव्यक्ति है। वह तो किसी अनजाने शुष्क-नीरस प्रस्तर खण्ड के अन्तराल को सहसा विर्दीण करके मूर्त-प्रवाहित हो उठने वाली अन्तः सलिला है जो ऊबड़-खाबड बनालियों में अपने ही आवेग से प्रवाहित होती हुई, स्वतः वेग से अपना पथ-निर्माण करती हुई हम तक पहुंच हमें भी भावविह्वल कर दिया करती है। उसके लिए नगरीय नदी-तटों या उपवनों-पार्कों के समान किसी भी प्रकार के कृत्रिम आधान की आवश्यकता नही रहा करती। कबीर के काव्यत्व या कवित्व-प्रतिभा का वास्तविक आकलन इन्हीं मूल, स्वतः स्फूर्त तथ्यों के आलोक में ही किया जा सकता है, परम्परागत शास्त्रीय तट-बन्धों के बन्दीखानों में बन्द होकर नहीं। इसी कारण कबीर को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से कवि न मानने वाले वर्ग की तुलना में ऐसे लोगों की सख्या अधिक है, जो कबीर की वाणी को स्वतः स्फूर्त और निर्द्वन्द्व कविता मानते है। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए ही डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कहा था कि—"सत्य के प्रकाश का साधन बनकर कविता स्वयं कबीर की जिह्वा पर आ बैठी है।" और इसी वर्ग की मान्यताओं का प्रकाशन करते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी ने भी 'कबीर साहित्य की परख' रचना की प्रस्तावना में उचित ही लिखा है कि—

"कबीर साहब की रचनाओ को शुद्ध साहित्यिक नियमो की परम्परा से परखना उचित नही कहा जा सकता। कबीर-साहित्य उन रंग-विरंगे पुष्पों में नही जो सजे-सजाए उद्यानों की क्यारियों में किसी क्रम विशेष के अनुसार उगाए गए रहते है और जिनकी छटा तथा सौन्दर्य का अधिकांश योग्य मालियों के कला-नैपुण्य पर भी आश्रित रहा करता है। यह एक वन्य कुसुम है जो अपने स्थल पर आप हुआ है और जिसका विकास केवल प्राकृतिक विषयों पर ही निर्भर रहा है।" तात्पर्य स्पष्ट है कि कबीर की काव्य-प्रतिभा पर मात्र कुछ शास्त्रीय तत्वों के अभाव के कारण ही प्रश्न-चिह्न नही लगाया जा सकता। कविता का सम्बन्ध उतना बौद्धिक तत्वों से नहीं हुआ करता जितना कि हार्दिक एवं आत्मिक तत्वों से। वह हृदय और आत्मा का सहज शाब्दिक उच्छलन है। बुद्धि तो उसे यत्किंचित औचित्य के तटबंध ही प्रदान करती या कर सकती है

और कबीर निश्चय ही इस प्रकार की बौद्धिक चेतनाओं से वंचित नही थे। यह बात भी एक मान्य तथ्य है कि कबीर ने कविता करने या कवि कहलाने के लिए कविता नही की थी। जैसा कि आचार्य श्यामसुन्दरदास मानते है, सत्य की अभिव्यक्ति, वह भी अत्यधिक एवं अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति ही उनका चरम लक्ष्य था। उसके प्रकाशन के लिए उनके मुख में एक उच्छलन यानिश्वास बनकर जो वाणी भी, जिस रूप मे निकली, वही उनकी कविता है। उनका सत्य सहज एवं अनुभूति-स्नात है, इस कारण उसका प्रकाशन करने वाली वाणी भी, अनुभूति प्रवण है और हमारे विचार में अनुभूतिप्रवणता ही कविता का मुख्य लक्षण है। इसी कारण ही तो महाकवि भवभूति जैसा प्रखर व्यक्तित्व वाणी या काव्य को अमृत रुपा एवं आत्मा की कला स्वीकार करता है। डॉ० गोविंद त्रिगुणायत ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार व्यंजित करते हुए कबीर के कवित्व के संदर्भ मे अपनी रचना 'कबीर की विचारधारा' में लिखा है—

"हमारी समझ मे सच्चा काव्य वही है जिसमे आत्मतत्व की अनुभूति होती है। अमृतरूपा भी वही काव्य हो सकेगा जिसमे सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी आत्मा की अभिव्यक्ति होगी।) ऐसे काव्य के लिए छन्द, गुण, दोष, अलंकार आदि बाह्य विधानों की अपेक्षा नही होती। उसमे आत्मा के दिव्य और अनिर्वचनीय आनन्द रस का क्षरण होता है, जिसकी अनुभूति कर जड़ चेतन हो उठते है और चेतन में तन्मय हो जाते है। संत कवियो के काव्य की समीक्षा इसी कसौटी पर की जानी चाहिए।" कबीर की वाणी एवं कवित्व प्रतिभा की परख भी मात्र इसी कसौटी पर ही की जा सकती है, परम्परागत काव्य-शास्त्रीय कसौटी पर तो कतई सम्भव नही है। क्योंकि कबीर मूलतः अध्यात्म-क्षेत्र के कवि हैं न कि लौकिक क्षेत्र के। अतः लौकिक क्षेत्र के उपादानों को बीच मे न लाया जाना ही उचित एवं युक्तिसगत है। इस बारे मे डॉ० पारसनाथ तिवारी उचित ही लिखते है कि "कबीर का कार्य बड़ा कठिन था, क्योंकि उन्हे अरूप और अकथ्य को रूप और अभिव्यक्ति प्रदान करना था। काव्य-शास्त्र के आचार्य इसे कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं।··· रूप के द्वारा अरूप की अभिव्यक्ति, कथन के द्वारा अकथ्य का ध्वनन उत्कृष्ट काव्य मे ही हो सकता है। ऐसी ही अमृतरूपा वाणी या कविता की साधना कबीर ने की। उसमे छन्द, गुण, रस, अलंकार आदि काव्य के वाह्य उपादानों की खोज करना व्यर्थ है। उनके काव्य मे कही-कही वे अपने आप आ गए हैं, यदि नही आ

पाए तो उनकी चिन्ता भी उन्हें न थी। उनके ऊर्ध्व-विकास की स्पृहा वस्तुतः इन समस्त वहिरंग उपादानों को भेदकर वहुत आगे निकल गई थी।" उन (कवीर) के अपने शव्दों में कहा जा सकता है कि—

"जो थे सचल अचल स्वै धा कै, चूके वाद-विवादा।"

जव सारे वाद-विवाद ही चुक गए, तो फिर किसे चिन्ता है कि छन्द-अलंकार, रस, गुण-दोप आदि किस चिड़िया का नाम है? यों कवीर-वाणी के अध्ययन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि कवीर कविता के तत्वों से अपरिचित नही थे। अपरिचित थे तो उस वन्धन से अन्य वधनों की तरह कि जिनकी जकडन को अनिवार्य कह या वना दिया गया अथवा जाता है। शव्द एवं अर्थ के लावण्य को ही कविता कहा जाता है और कवीर इसकी महत्ता व्यंजित करते हुए कहते है—

"सोई आखर, सोई वैन, जन जू जुवा चुवंत।
कोई एक मेलै लवनि, अमीं रसाइन हंत।"

अर्थात् जनसाधारण द्वारा व्यक्त भाव एवं प्रयुक्त शव्द वाक्य ही रससिद्ध व्यक्तियों के पास पहुंच काव्यत्व का स्वरूप धारण कर लिया करते है। इस प्रकार की कुछ उक्तियां कवीर के मुख से स्वतः ही प्रस्फुटित हो गई है, उन्होने काव्य को पारिभापित करने का साधित प्रयत्न कही नही किया। तभी तो कवीर के काव्यत्व को फोकट का माल वताते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि—"यद्यपि कवीर ने कही काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नही की, तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नही हुआ है।—वह कोलतार और सीरे की भांति और चीजों को वनाते समय अपने-आप वन गया।" इस प्रकार स्पष्ट है कि कवीर स्वभाव मे ही कवि थे व उनकी वाणी स्वतः-स्फूर्त कविता है। ऐसी कविता जिसने अध्यात्मवाद का अमृत, सुधारवाद की कड़वी कुनैन, चिन्तन, दर्शन आदि सभी को एक 'शूगरकोटिड' गोली का वनाकर समाज-जीवन की वीमार मानसिकता को प्रदान किया कि जो इसे सहज ही ग्रहण कर स्वस्थ हो सके। उनके काव्य में वे सभी गुण स्वतः स्फूर्त ढंग से, स्वतः ही आ गए है जिन्हें काव्य के लिए आवश्यक माना जाता है। हां, छन्दोवद्धता का उतना कसाव अवश्य ही कवीर में नही मिलता जो कविता का आवश्यक उपकरण है भी नही। आजकल तो विल्कुल ही नहीं। नही तो पूरी नई कविता को ही काव्य के क्षेत्र से वहिष्कृत करना

पड़ेगा। इन तथ्यों के आलोक मे ही कबीर के कवि रूप पर, उनकी कविता मे प्राप्त गुण, उसी भाव-कला-पक्ष आदि पर समग्र रूप से विचार और विमर्श किया जा सकता है।

यह बात ऊपर कही जा चुकी है कि कबीर लौकिक क्षेत्र के कवि नहीं, बल्कि आध्यात्मिक क्षेत्र के कवि है—यद्यपि उनका सब कुछ लोक-जीवन को स्वस्थ-सुन्दर बनाने की प्रक्रिया का ही एक लक्षित अंग है। अध्यात्मवादी और इसी क्षेत्र के साधक एवं कवि होने के कारण जिस प्रकार चिन्तन के क्षेत्र में उनका संसार राममय है, उसी प्रकार कविता के क्षेत्र में भी समूचे भाव-लोक राम-रसायन का पान कराते हुए वे कहते हैं—

"राम रसायन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मांगे सीस कलाल॥"

और कलाल को सीस देकर जब व्यक्ति इस भाव-रस का पान कर लेता है, तब उसे अन्य कोई इच्छा नही रह जाती। कविता का उदात्त लक्ष्य व्यक्ति को उसी वैद्यान्तर आनन्द की अनुभूति कराना होता है, जहाँ शेष सभी का उसी में समीकरण हो जाया करता है। कबीर ने अध्यात्म भावनाओं के माध्यम से ही ऐसा कराया है—

"कबीर हरि रस यों पिया, बाकी रही न थाक।
पाका कलस कुम्हार का बहुरिन चढ़सि चाक॥"

कबीर की काव्य-चेतना ने किसी प्रकार की प्रबन्धात्मकता के बन्धन को भी स्वीकार नही किया। वह यहां भी मुक्त (मुक्तक काव्य-रूप) रूप से ही विचरण करती रही है। उन्होंने छन्द-विधान की दृष्टि से साखी (दोहे), सबद (पद) और रमैनी को ही अपनाया एवं प्रश्रय दिया है। यह बात भी एकदम तथ्यपरक है कि कबीर की 'रमैनी' रचानाओं मे काव्यत्व का प्रायः सर्वथा अभाव है। वहाँ स्यात् कवि का मूल उद्देश्य सैद्धान्तिक प्रतिपादन ही है। इस प्रकार का प्रतिपादन सगुण भक्तों की कविता मे भी मिलता है और वहाँ भी वह काव्यत्वहीन ही है। पर कबीर साखियो और पदों में जहाँ प्रेम-तत्व का समन्वय कर देते है, वहाँ श्रेष्ठ काव्य के प्रायः सभी गुण उनकी कविता मे स्वतः ही उतर आते हैं। इस स्थिति में कबीर की उक्तियां हृदय से निकल कर सीधे हृदय को ही प्रभावित एवं अनुप्राणित करती है। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से कबीर का एक पद देखिए—

"गोकुल नाइक बिठुला मेरा मन लागा तोहिं रे।
बहुत दिन बिछुरें भए तेरी औसेरी आवै मोई रे॥
करम कोटि को ग्रहे रच्यौ रे नेह गए की आस रे।
आपहि आप बधाइया दोइ लोचन मरहिं पियास रे॥
आपा पर सम चीन्हिए तब दीसै सरब समान रे।
इंहि पद नरहरि भेटिए तूं छांड़ि कपट अभिमान रे॥"

कबीर ने जिन कई पदों मे विशुद्ध आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की है, वे भी इतनी सरस, सरल एवं सहज ग्राह्य बन पड़ी है कि बड़े-बड़े संगीतकार तो विमुग्ध भाव से उनका गायन करते ही है, आम श्रोता भी उनका श्रवण कर भाव-विभोर हुए बिना नही रहता। इस प्रकार के कुछ उदाहरण देखे—

"मन लागो मेरो यार फकीरी में।
जो सुख पायो नाम-भजन में सो सुख नाहिं अमीरी में॥"

× × ×

"घूंघट के पट खोल रे, तोहि पिया मिलेंगे।
घट-घट में वह सांई बसत है, कटुक वचन मत बोल,
—रे तोहि पिया मिलेगें॥"

× × ×

"रहना नहिं देश विराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बून्द पड़े घुल जाना है।
.........इत्यादि

इसी प्रकार "झीनी-झीनी बीनी चदरिया' तथा अन्य कई पदों का उल्लेख किया जा सकता है कि जिनकी भावभूमि आध्यात्मिक होते हुए भी सामान्य-विशेष सभी प्रकार के श्रोता एवं पाठक को अपने साथ-साथ रस-सागर की ओर अनवरत बोहित किए लिए चलती है। अच्छी कविता की भाव-योजना इससे बढ़कर और हो भी क्या सकती है। गेयता एवं संगीतात्मकता के गुण ने भी कबीर की कविता को भाव-बोहित कर देने की अद्भुत क्षमता प्रदान कर दी। कबीर की प्रेम-विरह की भूमि पर आधारित साखियां भी कम कवित्वपूर्ण एवं प्रभावी नही है। उनका प्रभाव सीधा हृदय पर पड़कर उसे झकझोर कर रख देता है। उनकी इस प्रकार की उक्तियाँ वस्तुतः अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है। दो-एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर देना उचित रहेगा। देखें—

"नैनां नीझर लाइया रहट वहै निस धांम।
पपिहा ज्यों पिउ-पिउ करों, कबरे मिलहुगे राम॥"
× × ×
"कै विरहिनि कौं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझनां, मोपै सहा न जाइ॥"

इतना ही नही, अपनी मौलिकता के कारण कबीर के विशुद्ध अध्यात्मवादी कथन एवं उपदेश भी नितान्त नीरस नही लगते। अपनी सरसता के कारण ही वे सब के लिए सहज ग्राह्य बन जाते है। जैसे—

"ऊजड़ खेड़े ठीकरी गढ़ि-गढ़ि गए कुम्हार।
रावन सरिखा चलि गया, लंका का सरदार॥
× × ×
"माटी कहै कुम्हार को, तूं क्या रुन्धै मोहि।
इक दिन ऐसा होयगा, मै रुन्धूंगी तोहि॥"

इस प्रकार की अन्य अनेक उक्तियां भी प्रस्तुत की सकती हैं, जो आध्यत्मिक एवं उपदेशात्मक उक्तियां होने हुए भी अत्यन्त सरस एवं स्वतः-स्फूर्त कवित्वमयता से आपूरित है। भक्ति, सुधार और उपदेशक्षेत्र की शुष्कता, नीरसता आदि उनमे कतई विद्यमान नही है। इसे कबीर की सहजात कवित्व-प्रतिभा की देन ही कहा जाएगा।

प्रत्येक कवि भाव-प्रकाशन के लिए अनेक विध बाह्य उपकरणों का आश्रय भी लिया करता है। छन्दों के अतिरिक्त प्रतीक-विधान, अलंकार-योजना, उक्ति-वैचित्र्य (कबीर आदि सन्तों के सन्दर्भ में इस उक्ति-वैचित्र्य को 'विपर्यय-कथन' या उलटबासी कहा जाना चाहिए), रस-योजना, गुण एवं भाषा-सौष्ठव आदि इसी प्रकार के गुण एवं उपकरण स्वीकारे जाते है। इनमें से प्रतीक-विधान और उलटबासियो के प्रयोग को तो कबीर की अध्यात्म-साधना और उसकी शाब्दिक अभिव्यक्तियों का अंगभूत तत्त्व ही स्वीकारना चाहिए। कहा जा सकता है कि इस प्रकार के प्रयोगों के प्रति वे अपने काव्य में एक सीमा तक सजग-सचेष्ट भी रहे होंगे पर अलंकार, रस, गुण आदि की योजना उनके काव्यों मे अनायास या स्वतः स्फूर्त ढंग से होती है—ऐसा उचित ही कहा या सोचा जा सकता है।

आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का सहारा लेने की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से यहां विद्यमान है। वस्तुतः रसमयी अलौकिक

अभिव्यक्तियों के लिए प्रतीक-योजना को एक अनिवार्य शर्त भी कहा जा सकता है। (कबीर ने आत्मा-परमात्मा के प्रेम, विरह और मिलन आदि का चित्रण करने के लिए दाम्पत्य भाव के प्रतीकों का सहारा लिया ही है,) अन्यान्य आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों के लिए सांकेतिक, पारिभाषिक, संख्यामूलक, रूपात्मक, दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य एवं घ्ररण्य प्रतीकों का भी यत्र-तत्र आश्रय लिया है। घ्राण्य प्रतीकों का उदाहरण देखें—

"कस्तूरी कुण्डल वसे, मृग ढूंढे वन मांहि।
ऐसे घट-घटि राम है, दुनियां देखे नांहि॥"

कबीर द्वारा प्रयुक्त रूपकात्मक प्रतीक योजना का भी एक उदाहरण देखें, दार्शनिक चेतना से समन्वित होते हुए भी कितना भावाविल, सरस एवं प्रत्यक्षतः उत्प्रेरक एवं यथार्थपरक भी है—

"पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जाति।
देखत ही छिप जाएगा, ज्यों तारा परभाति॥"

इसी प्रकार अन्य सभी प्रकार के प्रतीक-रूपों के उदाहरण भी कबीर की वाणी से सहज उपलब्ध किए जा सकते हैं। दर्शनीय एवं विचार्य तथ्य यह है कि वे सभी कबीर की अद्‌भुत काव्य-प्रतिभा के ही परिचायक अधिक हैं, मात्र चिन्तक और उपदेशक कबीर के नही।

उक्तिवैचित्र्य, विपर्यय या उलटवासी का सम्बन्ध प्रायः विशुद्ध अध्यात्म-साधना की सुगुप्त क्रिया-प्रक्रियाओं के साथ माना जाता है। यों तो उनका अस्तित्व श्रुति-ग्रंथों, उपनिषदों तक मे पाया जाता है, पर हिन्दी मे सिद्धों और नाथो के वाद सन्त-साधको की वाणी मे ही इस प्रकार के प्रयोग उपलब्ध होते है। कबीर ने भी कुछ इस प्रकार की विपर्यय या वैचित्र्य दर्शाने वाली उक्तियां-उलटवासियां कही है। कबीर की विशेषता यह रेखांकित की जाती है कि गूढ़ संकेत एवं अर्थ रहने हुए भी उनकी उलटवासिया एकदम शुष्क एवं नीरस नही हो गईं। उनमे काव्यात्मक सरसता अवश्य विद्यमान है। उनकी एक लघु उलटवासी देखे—

"जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैं गल मल न्हाय।
देवल वूढ़ा कलस सूं, पंखि तिसाई जाय।"

इसे निश्चय ही शुष्क-नीरस नही कहा जा सकता। उनकी अन्योक्ति प्रधान उलटवासी का एक उदाहरण भी दर्शनीय है—

"काहे री नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास, जल में नलिनी तोर-निवास।
न तल तपत न ऊपर आग, तोर हेतु कहु का सन लाग।
कहत कबीर जो उदक समान, ते नहि मुए हमारी जान ॥"

यहां 'नलिनी' आत्मा और 'उदक' परमात्मा का परिचायक है। यह पद्य पढ़कर यह तथ्य भी उजागर हो जाता है कि कबीर के काव्य में काव्यत्व के अन्योक्तिपरक गुण भी विद्यमान थे। उन्होंने आत्मा-परमात्मा के चिन्तन के लिए तो सरस-सुबोध अन्योक्तियों का सहारा लिया ही है, उद्‌बोधन के लिए भी अन्योक्ति को अपनाया है—

"माली आवत देखि करि, कलियां करें पुकार।
फूलि-फूलि चुन लई, काल्हि हमारी बार ॥"

काव्य का उत्कर्ष बढ़ाने वाले तत्वों मे—विशेषकर भक्तिव लीन और सन्त-काव्य मे समासोक्ति को भी एक विशेष प्रकार का उपादान स्वीकार किया जाता है। कबीर की कविता मे से भी समासोक्ति के कई उदाहरण खोजे जा सकते है। जैसे, एक-दो उदाहरण देखें—

"सूखन लागे केवड़ा, टूटी अरहट माल।
पानी की कल जानता, गया सो सींचनहार।"

× × ×

"जा कारण मैं ढूंढ़ता सनमुख मिलिया आय।
धनी मैली पीव उजला, लागि न सब को पाय ॥"

यों अन्योक्ति और समासोक्ति को अलंकार भी स्वीकार किया जाता है, पर कबीर ने निश्चय ही इनका प्रयोग मात्र अलंकरण के लिए नही किया। वह तो अध्यात्म-साधना के सन्दर्भ में ही इनका प्रयोग करते हैं। ऐसा करते समय यदि भावों का अलंकरण भी हो गया है, तो वह स्वतः-स्फूर्त ही कहा जाएगा, प्रयत्न-साधित नही। अभिव्यक्ति या भाव-व्यंजना की समस्त शैलियों के सरस उदाहरण कबीर की वाणी मे यत्र-तत्र खोजे जा सकते है कि जो उन्हे नीरस उपदेशक या सुधारक मात्र नही रहने देते बल्कि उत्कृष्ट कवि ही प्रमाणित करते है।

अलंकारों की स्वतः-स्फूर्त योजना करते समय कबीर ने जो उपमान विधान किया है, या अप्रस्तुत योजनाएं की है, वे जीवन के आस-पास से ली गई है, कबीर-काव्य की यह एक प्रमुख विशेषता है। इस प्रकार की अलंकार-योजना का या रूपक-विधान का एक उदाहरण देखें—

"कबीर पांच पखेरुवा राखे पोख लगाइ।
एक जु आया पारधी, ले गया सबै उड़ाई॥"

इसी प्रकार का एक अन्य अत्यन्त सरस एवं सजीव उदाहरण भी देखें—

"नैना की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकां की चिक डारि के, पिया को लिया रिझाय॥"

(कबीर ने रूपक, उपमा आदि के अतिरिक्त, विभावना, काव्यलिंग आदि अन्य अलंकारों का प्रयोग भी सजीव ढंग से किया है।) जैसे, विभावना का उदाहरण देखें—

"बिन मुख खाइए चरन बिनु चाले, बिन जिभ्या गुण गावे॥"

और काव्यलिंग का यह उदाहरण भी देखें, जहां तत्व-चिन्तन एवं काव्यत्व मिलकर एकमेक हो गए हैं—

"राम पियारा को छांड़िके, करे आन का जाप।
वेस्या केरा पूत ज्यों, कहे कौन-सूं बाप॥"

व्यक्त अनुभूति निश्चय ही जीवन के घोर यथार्थ पर आधारित है कि जो कवि और कविता दोनों के लिए आवश्यक स्वीकारा गया है।

जहां तक कबीर के काव्य में रस-साधना का प्रश्न है, उनके समूचे काव्य को भक्ति-रस प्रधान ही कहा जा सकता है। पर उनकी कविता में आने वाली उलटबासियां अद्भुत रस-प्रधान है। शान्त-रस की उक्तियां भी वहां मिल जाती हैं और प्रेम-विरह-साधना के प्रसगों मे शृंगार रस की उक्तियों की तो एक प्रकार से भरमार ही कही जाएगी। पर सभी प्रकार के रसों की उक्तियों का आधार वस्तुतः अध्यात्म भाव ही है। लौकिकता के लिए वहां कतई स्थान नहीं। अतः उससे प्राप्त आनन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर नहीं बल्कि विशुद्ध ब्रह्मानन्द है। उन्होंने अपनी मूल अवधारणाओं के सर्वथा उपयुक्त परिपक्व विचारों और भावों का ही सर्वत्र प्रकाशन किया है। सभी प्रकार के औचित्य का निवेश एवं परिपक्वता वहां पाई जाती है।

काव्यशास्त्री कई बार अलकारों से भी बढ़कर कुछ विशिष्ट गुणों को काव्य का शोभावर्द्धक स्वीकारते हैं। माधुर्य, प्रसाद और ओज—ये तीन काव्य-गुण या काव्यगत भाषा के गुण स्वीकार किए गए हैं। कबीर के काव्य और काव्य-भाषा मे वस्तुतः और समग्रतः माधुर्य गुण की प्रधानता है। कबीर की प्रेम एवं रहस्य-साधना पूर्णतया माधुर्यभाव या गुण पर ही आश्रित है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"पंथ निहारे कामिनी, लोचन भरले उसास।
उर न भीजे पंथुना, हरि-दर्शन की आस॥"

कवि ने माधुर्य गुण के उपयुक्त कोमल-कान्त भाषा एवं पदावली का प्रयोग किया है। पर जहां कबीर कुछ उपदेश के मूड में दिखाई देते हैं, वहां उनकी भाषा-भावना प्रसाद-गुणात्मक हो जाती है। जैसे—

"जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे॥
अपने-अपने रस के लोभी करतब न्यारे-न्यारे॥
अति अभिमान बदत नहिं काहू बहुत लोग पचि हरे॥"

और जब कबीर खण्डन-मण्डन के मूड में होते हैं तो उनका स्वर ओज गुण से संयत हो उठता है। भाषा भी ओजस्वी और तेवर भी तीखा हो जाता है। खण्डनात्मक उक्तियों में यह गुण-रूप विशेषतः स्पष्ट देखा जा सकता है।

भाषा भावों और विचारों की वाहक तो होती है, उन्हें मूल स्वरूप भी प्रदान किया करती है। इसी कारण कवि-कर्म को ऊपरी तौर पर भाषा या शब्दों का खेल भी स्वीकार किया जाता है। हम ऊपर कह आए हैं कि काव्य में भावोत्कर्ष के लिए माधुर्य, ओज, प्रसादादि जो विशिष्ट गुण माने गए हैं, वस्तुतः वह वर्ण्य विषयों के अनुरूप अपनायी गई भाषा के ही गुण हैं। अनपढ़ होते हुए भी कबीर इस बात से भली भांति परिचित थे। तभी तो वे वर्ण्य-विषयोचित गुण-सम्पण्न भाषायी प्रयोगों में सफल हो सके। यह तथ्य भी उनके अनुभूति प्रवण कवि होने को ही प्रमाणित करता है, कोरे उपदेशक-सुधारक और तत्व-चिन्तक के स्वरूप को ही नहीं। फिर कौन कहता है कि कवि तत्व-चिन्तक नहीं होता? भावाविल भाषा में वह भी वस्तुतः जीवन की अनुभूतियों से प्रवण सत्यों या तत्वों का ही चिन्तन किया करता है। कबीर ने भी अपनी भाषा-भावना में यही सब किया है। शब्द-चयन की दृष्टि से उन्होंने पूरबी, भोजपुरी, खड़ी, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी आदि किसी भी भाषा के शब्द क्यों न लिए हों, एक सुघड़ कवि के समक्ष उन्होंने वर्ण्य-विषयों के गुणानु-रूप ही उनका प्रयोग पूर्ण सफलता के साथ किया है। भाषा भी पूर्णता एवं सफलता का आधारभूत तथ्य होता है—सम्प्रेषण की क्षमता और यह क्षमता जितनी कबीर की सहज-सरल वाणी में सुसाधित है, आज तक के अन्य किसी भी कवि में नहीं। तभी तो उन्हें 'वाणी का डिक्टेटर' कहा गया है। यहां हम

उनकी शब्द एव अर्थ मे समग्रत सम्पृक्त, माधुर्यगुण प्रधान सरस वाणी का एक उदाहरण प्रस्तुत कर इस विषय का परिसमापन करना चाहते है—

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मै गई, मै भी हो गई लाल।"

इसके बाद कुल मिलाकर हम यही कहना चाहते है कि डॉ० श्यामसुन्दर दास का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि 'सत्य के प्रकाश का साधन बनकर कविता स्वयमेव कबीर की जिह्वा पर आ बैठी थी। कबीर जन्म-जात साधक, सन्त, सुधारक आदि होने के साथ-साथ एक पूर्ण कवि भी थे। कवि भी सामान्य नही बल्कि क्रान्तिदृष्टा। तभी तो उनकी वाणी अनुभूत सत्यों को उजागर कर पाने मे पूर्ण सफल हो पाई। उपदेश देते हुए भी भावोन्मेष कर-करा देना उनकी ही कविता का अनन्य गुण है। अच्छी कविता के जितने भी गुण स्वीकारे गए है, वे सभी निश्चय ही कबीर की कविता मे पाए जाते हैं। अतः असन्दिग्ध रूप से उनकी साधक के समान ही कवित्व-प्रतिभा भी अप्रतिम है।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—"सत्य के प्रकाश का साधन बनकर कविता स्वयमेव कबीर की जिह्वा पर आ बैठी है।" बाबू श्यामसुन्दरदास के इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

प्रश्न २—"कबीर और उनकी श्रेणी के अन्य सन्त जन्म से ही भारतीय, स्वभाव से साधु, प्रवृत्ति से उपदेशक और ठोक-पीट कर कवि हो गए।" इस तथ्य का स्पष्टीकरण कीजिए।

प्रश्न ३—"कबीर विचारक ही नहीं, उच्च कोटि के कवि भी हैं।" इस कथ्य की सोदाहरण मीमांसा कीजिए।

प्रश्न ४—"कबीर अपने युग के सबसे बड़े क्रान्तिदर्शी थे।" इस कथन पर सम्यक् रूप से विचार कीजिए।

प्रश्न ५—"कबीर की वाणी अनुभूत सत्य को प्रकाशित करती है।" इस कथन के सन्दर्भ में कबीर के कवि रूप का आकलन कीजिए।

प्रश्न ६—"कबीर की रचना उपदेश तो देती है, पर भावोन्मेष नहीं लगती।" इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

प्रश्न ७—कबीर की रचनाओं में उपलब्ध काव्य-गुणों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

---

# १६. कबीर : समसामयिकता-आधुनिक प्रासंगिकता

एक संस्कृत-कहावत है—'कविर्मनीषिः परिभू स्वयम्भूः' अर्थात् कवि एवं चिन्तक स्वयम्भुव हुआ करते है। इसी प्रकार उनका चिन्तन भी स्वयम्भुव एवं शाश्वत हुआ करता है। बादल बरसता है, तो वर्तमान को तो लहलहाता ही है भविष्य में खेतों को भी हरियाली एवं बीजों की परम्परा प्रदान कर जाता है कि जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनके सत्व का विकास करती रहती है। साधक, चिन्तक, दार्शनिक और कवि आदि सभी अपने-आप में सत्य के अन्वेषक एवं शोधक हुआ करते है। उनका अन्वेपित-शोधित सत्य एक सीमा तक वैयक्तिक भी हो सकता है, पर अपनी अन्तःप्राणवत्ता की ऊषमा से वह समष्टिगत सत्य कहा जाता है। फिर यदि दर्शन, चिन्तन, मनन, साधना और कविता आदि कभी एक ही प्राण-तत्व या प्राणी-विशेष में साकार हो जाएं, तब तो उसका कहना ही क्या। इन सबका सारभूत जो सत्व वह विशिष्ट प्राणी मूर्त-अमूर्त रूप में छोड जाता है, युग-युगों तक रसायन एवं संजीवनी के समान अपनी अन्तः सुधा से जग जीवन को आप्लावित, उद्वेलित एवं अनुप्राणित करता रहता है। निश्चय ही मध्यकालीन भक्ति-साधना के क्षेत्र मे जिस व्यक्ति को कबीर नाम से अभिहित किया जाता है, उसकी अध्यात्म एवं काव्य-साधना आज भी अपने-आप में उन प्राणवान सत्वों को समोए हुए है कि जो अपने अस्तित्व काल के समय आज के जन-मानस की टूटन एवं विघटनकारी प्रवृत्तियों मे समष्टिगत एकत्व का आधार दे पाने की अद्भुत क्षमता से सम्पन्न है। कबीर का एक पद्य है—

"सरीर सरोवर भीतरे आछे कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुषोतमें जाके रेख न रूप॥"

शरीर के भीतर रूप-रेख-रहित परम ज्योतित कमल के समान अर्थात् अरूप ब्रह्म के समान कबीर की भावगत चेतना वस्तुतः आज भी जीवन-समाज के सभी क्षेत्रो को प्रभावित एवं उद्वेलित करती रहती है। धर्म, राजनीति और

समाज आदि विभिन्न एवं विविध क्षेत्रों में सभी जागरूक व्यक्ति आज जिस भावनात्मक एक्य, मानवाधिकार एवं उनकी सुरक्षा की महत्ता एवं आवश्यकता अनुभव करते रहते हैं, निस्सन्देह मध्य युग के इस मस्तमौला, मरजीवा और फक्कड़ सन्त कबीर ने उस सबके लिए एक व्यापक भूमिका, एक व्यापक भाव-भूमि प्रस्तुत कर दी थी। एक कहावत है कि दुःख ही व्यक्ति को व्यक्ति के समीप लाता है। कबीर ने आत्मा-परमात्मा के सन्दर्भ मे कुछ ऐसी ही बात कह कर वस्तुतः इसी वस्तु-सत्य का प्रतिपादन किया है—

"कबीर हंसणा दूरि करि, करि रोवण सो चित्त।
बिन रोए क्यों पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥"

सो व्यवहार जीवन के क्षेत्र में भी सत्य को पाने के लिए सभी के दुःख एवं उसके रूप को समझ कर एकत्व भाव से उसे मिटाने की बात कहते हैं। यह कथन या इस प्रकार का विचार शाश्वत है। केवल आधुनिक काल की तो क्या, युग-युगों की प्रासंगिकता अपने-आप में समोए हुए। कबीर की व्यक्तिगत अध्यात्म-साधना को समष्टिगत लोक-संग्रह की साधना या लोक-साधना इसी कारण कहा जाता है कि उन्होंने 'कागज लेखी', नाही 'आंखन देखी' अर्थात् अनुभव की बात कही है। अनुभूतिजन्य सत्य निश्चय ही कभी भी अप्रासंगिक नहीं हुआ करता। इन तथ्यों के आलोक मे कबीर-वाणी की प्रासंगिकता, परवर्ती या आज के जीवन-साहित्य पर उसके प्रभाव, भावनात्मक एकता क्षेत्र की उसके द्वारा प्रस्तुत भावभूमि या भूमिका आदि के अध्ययन-निरीक्षण के लिए आवश्यक है कि कबीर के अपने एवं आज के युग की मानसिकताओं, अन्तः-बाह्य प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए। यह करने से पहले इस तथ्य को स्थायी भाव के समान ध्यान मे रखना बहुत ही आवश्यक है कि कबीर के सभी प्रकार के दर्शन और साधना के साथ-साथ काव्यत्व की आधार शिला भी अनेकत्व मे एकत्व की स्थापना और साधना है। दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली मे इसी को अद्वैतवाद कहा गया है। बल्कि यों कहना चाहिए कि अद्वैतवादी क्योंकि घट-घट मे, प्रत्येक प्राणी एवं पदार्थ मे एक ही परम तत्व या सत्ता के दर्शन पाता है, अतः उसकी अभिव्यक्तियों में लोक-पक्ष स्वतः ही उभर कर सामने आ जाया करता है। एकत्व की यह अवधारणा क्योंकि शाश्वत स्वीकारी गई है, अतः स्वतः ही ऐसे शाश्वत तत्व ऐसे साधकों की क्रिया-प्रक्रिया में सम्मिलित एवं उजागर हो जाया करते है कि जिनकी प्रासगिकता अनवरत एवं शाश्वत हुआ करती है।

यहा एक बात और भी ध्यातव्य है। यों वाणी को ब्रह्म के समान ही अजर-अमर स्वीकारा जाता है, पर साधनापूत वही वाणी अमरत्व प्राप्त कर पाती है कि जिसमे जगत्-जीवन के शाश्वत तत्व अन्तर्हित रहा करते है किंचित भी वही जीवित रहा करती है जिसमे चिरन्तन-शाश्वत भावों-विचारो का अभिधान हुआ करता है। आज भी सामान्य-विशेष कबीर के नाम, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं वाणी के उद्धरणों से परिचित है, जीवन के विशेष क्षणों मे उसे उद्धृत भी करता है—क्या यह सब उसकी प्रासंगिकता का स्वतः ही परिचायक नही है? व्यक्ति के स्तर से लेकर राज्य, राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्र और संयुक्त राष्ट्र संघ तक आज जिस भावनात्मक एकता की बात कही जाती है, प्रयास किए जाते है, मानव की उदात्त भावनाए जागृत कर, उसे सुखी-समृद्ध बनाने के प्रयत्न किए जाते है, सभी धर्म एवं समाज जिस सद्भाव, सच्चरित्रता, आत्मोन्नति के साथ-साथ सामूहिक उन्नति एवं विकास की बाते करते हैं, नैतिकता की दुहाई देते है, सन्त कबीर ने अपने अस्तित्व काल में वही सब तो किया था। उनकी सभी प्रकार की वाणी मे यही सब तो भरा पड़ा है। रोटी, कपड़ा, मकान आदि जीवन की आधारभूत आवश्यकताएं और कबीर व्रत-रोजा आदि के नाम पर कभी भी अन्न त्याग कर तन और जीव को दु:खी न करने की जो बात कहते है, वह इन्ही समकालिक बातों का भी तो समर्थन करते है। कौन-सा ऐसा आधुनिक आर्थिक दर्शन है कि जो सारी मानवता के लिए इससे अधिक कुछ करता या कह सकता है कि—

"साईं इतना दीजिए, जामैं कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥"

हा, जो मीन-स्वभाव वाले, केवल अपने पेट एवं दु:ख-सुख की चिन्ता में ही विलीन रहने वाले व्यक्ति है, उनके लिए कबीर की न उनके अपने युग में कुछ प्रासंगिकता थी, न आज है और न भविष्य मे ही कभी होगी। कबीर जिस धर्म के पोषक थे, वह देश-काल और व्यक्ति की सभी प्रकार की सीमाओं से ऊपर था। आज भी धर्म की व्याख्या इसी रूप में की जाती है और इसी को सच्चा मानव धर्म कहा जाता है, जिसका समर्थन एवं प्रतिपादन कबीर ने हमेशा किया है। कबीर ने निहित स्वार्थियों के समान उस विशेष कोटि के धर्म एवं साधना का प्रतिपादन कभी नही किया कि जो भेद-भाव की दीवारें खड़ी कर व्यक्ति-व्यक्ति को बांटता है। या दूसरों के प्रति उसे उग्रवाद, आतंकवाद की

सीमा तक असहिष्णु एवं हिंसक बना देता है। जब कुछ अविचार एवं अविवेक-शील व्यक्ति धर्म के ठेकेदार बन जाया करते है, तभी धार्मिक असहिष्णुता एवं हिंसा का जन्म हुआ करता है। कबीर के युग में तो ऐसा हुआ ही करता था, आज भी सर्वत्र धर्मोन्माद जोरों पर है और एक-दूसरे को जिस किसी भी तरह नीचा दिखाने की कुचेष्टाओं पर तुला हुआ है। वस्तुतः आज किसी कबीर की ही फिर आवश्यकता है कि जो सर्व-धर्म-समन्वय का, उसके सार तत्व से सहज धर्म की प्रतिष्ठा कर सके कि जो सभी को ग्राह्य हो। धर्म के सन्दर्भ में एक और बात भी ध्यातव्य है। वह यह कि धर्म का असहिष्णु, अहिंसक एवं अनर्थकारी रूप तभी सामने आया करता है कि जब वह कोरा भावावेश या भावोन्माद बन जाए, उसे बौद्धिक तटबन्ध प्राप्त न हो। कबीर के युग मे भी धर्म मात्र भावावेश बनकर ताण्डव नृत्य कर रहा था और आज भी इसका यही स्वरूप फिर से चारों ओर परिलक्षित होने लगा है। जिस प्रकार आज के अनेक जागरूक जन धर्म को बुद्धि का परिवेश देने की बात कहते और प्रयत्न करते है, उसी प्रकार कबीर ने भी किया था। कबीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन एवं समर्थन किया था, वह स्वानुभूतियों के साथ-साथ बुद्धि-अनुमोदित भी था और उसी कारण वह 'सहज धर्म' है। तभी तो उन्होंने धर्म-क्षेत्र के सभी वाह्याचारों, मिथ्याडम्बरों का स्पष्ट एवं खुला विरोध करते हुए जो तब कहा था, वह आज भी सत्य है—

"एक न भूला, दोय न भूला, भूला सब संसार।"

सारा संसार ही तो धर्मोन्माद में अपनी मानवता और सहज-धर्म को भूला हुआ है। तभी तो धार्मिक दंगे-फसाद विश्व के कोने-कोने मे अनवरत होते रहते है। कबीर ने इस प्रकार के धर्म का तब जो विरोध किया था, आज भी उसका महत्व ज्यों-त्यों उजागर है—

"कूड़ी करनी राम न पावे, सांच टिके निज रूप दिखावे।"

राम या मानवता का लक्ष्य जीवन के व्यवहार सत्यों पर टिककर ही पाया जा सकता है, अन्धविश्वासों एवं भावोन्मादों के द्वारा नही—

"तीरथ व्रत सब वेल्नड़ी, सब जग मेल्या छाप।
कबीर मूल निकन्दिया, कौन हलाहल खाय॥"

धर्म के नाम पर तब और अब के तथाकथित धार्मिक नेता स्वयं तो हलाहल खा ही रहे है, भोली-भाली जनता को भी वही खिला रहे है। इसी का

विरोध प्रत्येक युग के सजग व्यक्ति के समान कबीर ने भी किया और हार्दिक निष्कपटता, आचार-व्यवहार की पवित्रता, मन की शुद्धता पर बल देने वाले सहज धर्म का निरूपण किया। क्या आज भी व्यवहार-रूप में न सही, वाणी-कथन रूप मे हम सबका लक्ष्य भी यही नही है ? हमें खेद के साथ अपने युग के नेतृवर्ग के लिए 'व्यवहार-रूप मे न सही, वाणी-कथन रूप में' शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है कि जो कबीर के युग का भी एक कटु सत्य था और आज का भोगा जा रहा यथार्थ भी है।

मध्यकाल के कबीर ने तब जिसे सहज धर्म कहा था, वह मानव धर्म तो था ही, आज की पारिभाषिक शब्दावली मे भी वह मानव-धर्म ही है और उससे अच्छा धर्म का कोई अन्य स्वरूप हो ही नही सकता। मानव-धर्म अर्थात् विश्व-धर्म जो बाह्याचारो या वैयक्तिक नैतिकताओं को महत्व न देकर सामूहिक नैतिकताओ एवं हितों को ही महत्व एवं प्रश्रय दिया करता है और जो भारत की समस्त समन्वयवादी साधनाओ का सार-तत्व भी है। समन्वयवाद वस्तुतः मानव को मध्यमार्ग की प्रेरणा दिया करता है और कबीर ने भी तत्वतः मानव-हित मे मध्यमार्ग का ही अनुसरण किया था। इस युग के गांधी ने भी उसी को प्रश्रय दिया और आज भी विश्व के सभी विचारक उसी के प्रश्रय की बात एकास्वर कहते हुए अपने चारो ओर देखे-सुने जा सकते है। ज्ञान, वैराग्य एवं कर्मयोग के समन्वय से ही इस मध्य-मार्ग की रचना हुआ करती है। तभी तो कबीर ने कहा है—

"सर्वभूत एके करि जाना चूके वाद-विवादा।"

या फिर—

"लोहा कंचन सम करि जानहि ते मूरति भगवाना।"

इससे अच्छा धर्म का स्वरूप किसी भी युग में और कौन हो सकता है कि जो कबीर की साधना की प्रासंगिकता का प्रश्न उठाया जाए ?

जहां तक कबीर के समकालीन समाज की स्थितियों, कबीर की उसके बारे में चेतना और आज की सामाजिक समाज की स्थितियों, कबीर की उसके बारे में चेतना और आज की सामाजिक दशा का प्रश्न है, तब भी व्यक्तिवादी चेतना का प्राबल्य हो रहा था, आज भी अनवरत हो रहा है। तब भी सभी अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलाप रहे थे, आज भी स्थिति उससे

भिन्न नहीं—यानि अपनी डफली पर अपना-अपना ही बेसुरा राग अलापा जा रहा है। कबीर ने एक स्थान पर अपने युग की डफलियों का जो विद्रूप-सा चित्रण किया है, प्रकारान्तर से वह निश्चय ही आज का भी सत्य है—

"इक पढ़हिं पाठ इक भ्रमहिं उदास,
इक नगन निरन्तर रहैं निवास।
इक जोग जुगति तन होइ खीन,
ऐते राम-नाम सगि रहै न लीन॥
इक होहि दीन इक देहि दान,
इक करै कलापी सुरापान॥
इक तंत मंत औषध बान,
इक सकल सिद्ध राखै अपान।
इक धरेम घोरि तन होहिं स्याम,
यूं मुकुति नहीं बिन राम-नाम।"

आज भी कबीर के युग के समान कोई किसी की बात सुनने को तैयार नहीं। अपने-आपको अत्याधुनिक दर्शाकर भी लोग अनेकविध अन्ध-विश्वास मे उलझे हैं। आचार के नाम पर आज भी वामाचार ही एकमात्र सत्य है। आज हम बाह्याचार, झूठी तड़क-भडक एवं प्रदर्शन-प्रवृत्ति कहकर अभिहित कर सकते है। इस सबका अहसास कराने के लिए किसी कबीर की नितान्त एवं अत्यधिक आवश्यकता भी महसूस कर सकते है ताकि फिर से वे अपनी भाव-भगेति का प्रचार-प्रसार कर जीवन और समाज को संयमित कर सके। वह पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष एवं साम्प्रदायिकता का, धार्मिक असहिष्णुता एवं उग्रवादिता का परित्याग करके रहने एवं जीने योग्य बन सके। कबीर के युग के समान आज भी काजी और पंडित, समाज का नेतृवर्ग वास्तविकता को, जनहित के भाव को विस्मृत कर मात्र स्वार्थ-साधना मे निरत है—

"पण्डित जन माते पढ़ि पुरान, जोगी माते जोग ध्यान।
संन्यासी माते अहमेव, तपती माते तप के मेव॥"

और उधर—

"कबीर काजी स्वादि बासे, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीत्ति एकै कहै, दरि क्यूं सांचा होइ॥"

यह जो उन्मत्तता, असत्य की साधना है, यही तो आज भी समाज का समयानुकूल नेतृ वर्ग कर रहा है। अपने युग के बारे में कबीर ने जो यह कहा है कि—

"एक न भूला दोई न भूला, भूला सब ससारा।"

क्या आज के बारे मे भी भूल की यह बात चरम सत्य नही है ? कबीर के युग में जैसे धर्म एवं जातिवाद के नाम पर संघर्ष चल रहा था, मानवता को इनके नाम पर कदम-कदम पर अपमानित होना पड़ता था, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर क्या स्थिति आज बेहतर हो गई है ? निश्चय ही नही हो पाई है। एक बड़ा अन्तर यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि तब कबीर जैसा एक सत्यनिष्ठ, कर्तव्यनिष्ठ, कुटेव-विरोधी एवं विद्रोही तो हमें मिल गया था, जबकि आज प्रत्येक क्षेत्र रंगे सियारो से भरा है। निश्चय ही संक्रमण-काल के इन दुर्धर्ष क्षणो मे कबीर एवं उसकी वाणी की अहमियत और भी बढ जाती है।

युगीन विषमताओं ने ही कबीर को विद्रोही बना दिया था। आज भी कुछ कबीर-चेता व्यक्ति है अवश्य, पर एक तो इनमे कबीर वाली ऊर्जा नहीं है और दूसरे परिस्थितियों के मारक प्रभाव ही, मान और मूल्य ही कुछ और हो गए हैं कि कोई भी कबीर के समान साहस जुटाकर कह नहीं पा रहा—

"हम घर जाला अपणा, लिया मुराण्डा हाथ।
अब घर जालौं तास का, चले हमारे साथ॥"

आज जिस साम्य और समन्वयवाद की चर्चा कभी-कभी जोर-शोर से सुन पडती है, अपने युग-परिवेश में उसकी आधारशिला कबीर ने पहले ही रख दी थी। धर्म, जाति, देश-विदेश सभी स्तरों पर वैषम्यों का बढाव कबीर के युग से भी कही अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। कदम-कदम पर मानवीय नैतिकताओं का जनाजा ढोया जा रहा है। समर्थ जन उसी प्रकार विवश एवं असहाय बनकर सभी कुछ ऐसे देख रहे है, जैसे कबीर के युग में देखकर भी आंखे मूद कबूतरी-न्याय से समझ लेते थे कि बिल्ली का खतरा टल गया। वह कबीर ही था, जिसने अपनी आंखें हमेशा खुली रखी। आज भी उसका पारायण सही सन्दर्भो मे, सच्चे मन से करें। तब जैसे जीवन-समाज से अस्वास्थ्यकर कूड़ा-करकट साफ कर पाने में कबीर को सफलता मिली थी, आज का जन एवं नेतृत्व भी उसी प्रकार सफल हो सकता है। इसके लिए

जरूरी है कि सभी का ईमान कायम रहे। कबीर की वाणी में ईमान की दुरुस्ती ही सच्चे मानव की पहचान है, फिर चाहे वह किसी भी जाति-वर्ग का क्यों न हो—

**"सो हिन्दू, सो मुसलमान, जाको दुरुस रहे इमान।"**

कौन-सा ऐसा युग है, जिसमें यह उक्ति चरितार्थ नही ? कौन-सा ऐसा युग-काल है कि जब कबीर की निम्नलिखित उक्ति अपनी प्रासगिकता नही बनाए रख पाती—

**"चलो विचारी, रहौ संभारी, कहत हूँ जू पुकारी।"**

निश्चय ही कोई भी युग-काल इस प्रकार के शाश्वत तत्वो एवं तथ्यों की अवहेलना करके अपना अस्तित्व अधिक समय तक बनाए रख पाने मे समर्थ नही हो सकता। कबीर ने जीवन को शांति, समृद्धि एवं सफलता के लिए व्यवहार-जीवन की सरलता, हार्दिक-मानसिक निष्कपटता एवं शुद्धत्ता आदि के जो सूत्र अपनी वाणी मे कहे है, वे चिन्तन सत्य के द्योतक एव निश्चय ही शाश्वत महत्व वाले है—

**"जब लगि मनहि विकारा, तब लगि नहि छूटे संसारा।**
**जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल मांहि समाना॥"**

मन की निर्मलता की क्या आज या आने वाले युगो मे आवश्यकता नहीं है ? निश्चय ही यह शाश्वत आवश्यकता है जीवन को सरल, शांत और सुखी बनाने के लिए। कबीर यदि आज होते तो कोई कारण नही कि वे आज की छिछली, भोडी और भद्दी, घृणितम स्वार्थो मे लिप्त राजनीति पर अपने व्यंग्य बाण न उछालते। पर तब उन्होंने राजनीति से अपने-आप को एकदम तटस्थ रखा। वस्तुतः कबीर सभी प्रकार के वाद-विवादों से ऊपर विशुद्ध मानवतावाद के पोषक थे। अत उनकी वाणी में आने वाले तथ्य भी वस्तुतः समग्र मानवता की उच्चता एवं श्रेष्ठता के व्यंजक है। उनके विचारों को हम धर्म, राजनीति, समाज या किसी भी क्षेत्र पर घटा के देख सकते है। प्रत्येक क्षेत्र के लिए वे विशुद्ध मानवीव दृष्टि से सफल कहे जाएंगे। उनसे युग-युगों का सत्य ध्वनित होता हुआ सर्वत्र सुना जा सकता है। उन्हें हम अपने युग का सच्चा एवं विशुद्ध, एकमात्र आध्यात्मिक साम्यवादी कह सकते है। गम्भीरता से अध्ययन करने पर हम उनकी अध्यात्म-साधना में भी वस्तुतः मानव-साधना के ही उच्चतम तत्वो के दर्शन पाते है। एक पंक्ति मे देखें—

"कूड़ी करनी राम न पावें, सांच टिकै निज रूप दिखावै ।"

राम यानि सत्य के दर्शन झूठे कर्मो से नही सत्कर्मों से ही सम्भव हो सकते हैं। सत्य का दर्शन ही सभी विवादों-वैपम्यों का निराकरण है। क्या यह तथ्य आज भी उतना ही सत्य, उतना ही आवश्यक नही है कि जितना उस काल मे था कि जब कबीर ने इसको उच्चतर किया था ?

कबीर ने धर्म, दर्शन, आचार-व्यवहार, नैतिकता, रीति-रिवाज और परम्पराए, नवीन मान्यताएं आदि सभी कुछ को मानवता की विशुद्ध कसौटी पर कसने की बात कही है। यदि ये सब और वेद-पुराण, कुरान एवं अन्यान्य ग्रन्थ मानवता की कसौटी पर पूरे नही उतरने, यदि सभी प्रकार की मान्यताएं, धर्म-दर्शन और अध्यात्म-साधनाए मानव-हित साधन नही करती, तो कबीर के विचार मे वह सब झूठ, व्यर्थ एवं धरती पर बोझ मात्र ही है। उनके विचार मे इन्हें मानने वाले सभी भूल मे पड़े हुए हैं। हिन्दू-मुसलमान का नाम लेकर कबीर ने उसी शाश्वत तथ्य की ओर इंगित किया है—

"भूला भरमि परै जिनि कोई, हिन्दू-तुरुक झूठ कुल दोई ।"

इस प्रकार, इस सारे विवेचन-विश्लेपण का निष्कर्ष एवं सार-तत्व यही रेखांकित किया जा सकता है कि कबीर के काव्य मे जिन मानवीय मूल्यों, मानों एवं तथ्यों का निरूपण और प्रतिपादन मिलता है, वे आमूल-चूल शाश्वत है। इस कारण वे केवल कबीर के अपने युग को ही नही, उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती युगो के भी सत्य है और सभी युगो के लिए चरम सत्य हैं। प्रासंगिकता जैसे प्रश्नों की सार्थकता शाश्वत मूल्यों-मानों के सन्दर्भ में कतई नही हुआ करती। इस प्रकार के प्रश्न तो क्षणिक एवं सामान्य कोटि के विचारों, भावों एवं तथ्यों के बारे मे उठाए जाया करते हैं और उठाए जाने चाहिएं। यहाँ हम डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के निम्न कथन के साथ इस प्रश्न का परिसमापन इस प्रकार कर सकते हैं—

"कबीर की वाणी ने समाज-क्षेत्र मे एक और बहुत बड़ा कार्य किया था। वह है सात्विकता एवं आचरण-प्रवणता का प्रचार। कबीर के युग में वासना अपना भयंकर रूप धारण करती जा रही थी। कबीर को इसका डटकर सामना करना पड़ा था। उसके लिए उन्हें स्त्रियों की निन्दा करनी पड़ी। ब्रह्मचर्य का उपदेश देना पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने मांस-भक्षण, मद्यपान

आदि का भी निषेध किया। उन्होंने समाज में सात्विक वृत्तियों के प्रचार के लिए बड़ा तप किया था। वे क्रोध, तृष्णा, हिंसा, कपट आदि जितनी कुप्रवृत्तियां है उन सबके कट्टर विरोधी थे।" काम-आदि की प्रधानता वाले आज के युग में क्या ऐसी ही शोचनीय स्थिति नहीं है ? उस सबके लिए क्या उसी सब की आवश्यकता नहीं कि जो कुछ कबीर को करना पड़ा था ?—यदि है, तो फिर कबीर की प्रासंगिकता का प्रश्न ही क्यों ? निश्चय ही आज की आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि एवं धरातल को कबीर ने अपने युग में ही प्रस्तुत कर दिया था।

## प्रश्न के विविध रूप

प्रश्न १—आधुनिक सन्दर्भ में कबीर की प्रासंगिकता की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न २—कबीर के विचारों का परवर्ती हिंदी साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा ?

प्रश्न ३—"आज जिस भावनात्मक एकता की बात कही जा रही है, कबीर ने मध्य युग में ही उसके लिए भूमिका प्रस्तुत कर दी थी", इस कथन के सन्दर्भ में कबीर की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।

---

**शब्दार्थ**—तत्त=तत्व। तिलक=श्रेष्ठ, महान। तिहुं=तीनों। निज=अपना। जन=भक्त।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कबीरदासजी ने रामनाम की महत्ता का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—रामनाम की महिमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि तीनों लोकों मे राम का नाम ही महान तत्व है और मेरा भी सार वही है। मेरे जैसे भक्त ने उस तत्व को अपने माथे पर रख लिया है जिससे उसकी शोभा अपार हो गई है।

**विशेष**—तिलक को मस्तक पर धारण किया जाता है और प्रस्तुत दोहे में कवि ने राम के नाम की महत्ता प्रतिपादन करने के लिए उसे तिलक के समकक्ष रखा है।

> **भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार।**
> **मनसा वाचा कर्मना, कबीर सुमिरन सार ॥ (४)**

**शब्दार्थ**—नांव=नाम। मनसा वाचा कर्मना=मन से, वचन से और कर्म से।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में लेखक ने प्रभु की भक्ति और उसके नाम के स्मरण की महत्ता का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि इस संसार मे सब बातो का सार एक तो प्रभु की भक्ति है, दूसरे प्रभु के नाम का भजन अर्थात् स्मरण करना है और इसके अतिरिक्त केवल अपार दुःख और यातनाएं ही है। संत कबीर के अनुसार मन, वचन और कर्म से प्रभु के नाम का स्मरण करना ही सारी बातों का सार है।

> **कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।**
> **आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौ काल ॥ (५)**

**शब्दार्थ**—सुमिरन=स्मरण (प्रभु के नाम का) सकल=सब-कुछ। सोधिया=खोज लिया।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि कबीर ने पुनः प्रभु के नाम के स्मरण की महत्ता का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि प्रभु के नाम का स्मरण ही तत्व की बात है बाकी-सब-कुछ तो जंजाल है अर्थात् परेशानियो का कारण है।

मैंने आदि से लेकर अंत तक पूरी खोज करली है और तभी मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि प्रभु का स्मरण ही सार है तथा बाकी सब तो विनाश करने वाले काल हैं।

चिंता तो हरि नांव की, और न चितवै दास।
जे कछु चितवै राम बिन, सोइ काल की पास॥ (६)

**शब्दार्थ**—चिंता=चिन्तन। नांव=नाम। चितवै=चिन्तन करना। दास=कवीर। काल की पास=मृत्यु का पाश, वन्धन।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में संत कबीर ने अपने आराध्य के प्रति अनन्य भक्ति-भाव का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—संत कबीरदासजी कहते है कि मै तो केवल प्रभु के नाम का चिन्तन करता हूं। मै प्रभु के नाम को छोड और किसी का चिंतन नही करता। मेरा दृढ विश्वास है कि जो लोग राम को छोड़कर किसी और प्रकार के चिन्तन में लगे रहते हैं, वे मृत्यु के वन्धन में फंस जाते है। भाव यह है कि जीवन का सार प्रभु के नाम का स्मरण करना ही है।

पंच संगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरै मन।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतन॥ (७)

**शब्दार्थ**—पंच संगी=संग रहने वाली पांच इन्द्रियां। जु=जो। सूति=स्वाति।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कबीरजी ने राम के प्राप्त होने के सम्वन्ध में वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि मेरे संग रहने वाली पांचों इन्द्रियां और छठा मेरा मन सदैव पिउ-पिउ पुकारता रहता है और प्रभु का स्मरण करता रहता है। कबीर तो सीप की भांति है जिस पर स्वाति-नक्षत्र की बूंदें गिरने से रामरूपी रस की उपलब्धि हो गई है। भाव यह है कि कबीरदास रामरूपी प्रभु को पाकर धन्य हो जाते है।

**विशेष**—(१) भारतीय दर्शन मे पांच इन्द्रियो का वर्णन आता है जो इस प्रकार है—नेत्र, कर्ण, घ्राण, स्पर्श और जिह्वा। मन को छठी इन्द्री कहा गया है।

(२) भावसाम्य की दृष्टि से दादू का निम्न दोहा देखिए—

बिरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, पंच पुकारे पीव।

(३) अलंकार—सांगरूपक—सम्पूर्ण दोहे में।

मेरा मन सुमिरै राम, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि ॥ (८)

शब्दार्थ—रामहि आहि=राम में ही तल्लीन हो गया। सीस नवावौं काहि=किस की आराधना करूं।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि रामनाम के स्मरण की महिमा का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या—राम-नाम के स्मरण की महिमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि राम के नाम का स्मरण करते मेरा हृदय राम में इतना अधिक तल्लीन हो गया कि वह राममय हो गया, अतः अब मैं किसकी आराधना करूं? भाव यह है कि पहले तो मै और मेरे आराध्य—दो अलग-अलग बात थी किन्तु राम के नाम का स्मरण करते-करते मेरा मन तो पूरी तरह राम का होकर रह गया अर्थात् मैं और मेरा राम एक होकर रह गए, पार्थक्य मिट गया।

विशेष—(१) प्रस्तुत दोहे मे कवि ने भक्ति के उस चरम रूप का वर्णन किया है जिसमें साधक और साध्य का भेद मिट जाता है।

(२) अलंकार—तदगुण।

तूं तूं करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥ (९)

शब्दार्थ—हूँ=अहंभाव। वारी=बलिहारी जाना। फेरी=चक्कर। बलि गई=न्यौछावर हो जाना।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने पुनः साधक और साध्य के भेद के नष्ट हो जाने की कल्पना की है।

व्याख्या—कवि कह रहा है कि मैं तू तू करता रहा और अन्ततः मै ही 'तू' हो गया अर्थात् मेरे भीतर मेरा अहंभाव नष्ट हो गया। हे प्रभु, अब तो मैं पूर्णतः तेरे ऊपर बलिहारी हो गया हूँ, मेरा अपना अस्तित्व ही नष्ट हो गया है। भाव यह है कि पहले तो साधक और साध्य का भेद बना हुआ था किन्तु अब वह भेद नहीं रह गया है।

विशेष—(१) दूसरी पंक्ति का एक पाठ इस प्रकार भी मिलता है—

"वारी तेरे नाउं पर"

(२) दूसरी पंक्ति का ही एक अन्य अर्थ इस प्रकार हो सकता है कि प्रभु के नाम का स्मरण करते-करते संसार में आवगामन का मेरा चक्कर नष्ट हो गया है।

(३) अलंकार—तद्गुण।

कबीर निरभै राम जपु, जब लगै दीवै बाति।
तेल घटै बाती बुझै, (तब) सोबैगा दिन राति॥ (१०)

शब्दार्थ—निरभै=निडर होकर। दीवै बाति=दीपक और बत्ती अर्थात् शरीर रूपी दीपक मे प्राण रूपी बत्ती। तेल=शक्ति।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि मनुष्य को निडर होकर प्रभु का नाम जपने का उपदेश दे रहा है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि हे मनुष्य, जब तक तेरे शरीर रूपी दीपक मे प्राण रूपी बत्ती है, तब तक निडर होकर प्रभु के नाम का जाप करता रह। यह ध्यान रख कि जब तेल रूपी शक्ति क्षीण हो जाएगी तो बाती रूपी प्राण जाते रहेंगे अर्थात् नष्ट हो जाएंगे और तब तो तुझे रात-दिन सोना ही है। भाव यह है कि मृत्यु हो जाने के बाद तो तू चिरनिद्रा मे लीन हो जाएगा और तब तू प्रभु का क्या स्मरण करेगा, इसलिए जब तक तेरे शरीर में प्राण है तब तक प्रभु के नाम का स्मरण कर ले।

विशेष—अलंकार—अन्योक्ति।

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
इक दिन सोवन होइगा, लम्बे पांव पसारि॥ (११)

शब्दार्थ—सूता=सोया हुआ। मुरारि=भगवान। सोवन=चिरनिद्रा।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कबीर जीव को भगवान का जप करने का उपदेश दे रहे हैं।

व्याख्या—जीव को सम्बोधित करते हुए संत कबीर कह रहे है कि हे जीव, अज्ञान रूपी निद्रा में पड़ा हुआ क्या कर रहा है अर्थात् अपने जीवन को क्यो नष्ट कर रहा है। हे जीव, तू जागकर भगवान का नाम क्यो नही जपता। भाव यह है कि तुझे अज्ञान रूपी निद्रा से उठकर प्रभु का स्मरण करना चाहिए, क्योंकि अभी तो तू अज्ञान रूपी निद्रा मे ही निमग्न है, एक

दिन ऐसा भी आएगा जबकि तू अपने लम्बे पांव पसारकर चिरनिद्रा में सो जाएगा अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। तब तू प्रभु का स्मरण कैसे करेगा, अतः जब तक तेरे भीतर प्राण है तब तक प्रभु का स्मरण कर ले।

विशेष—अलंकार—वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका संग तैं बीछुरा, ताही के संग लागि॥ (१२)

शब्दार्थ—जाका=जिसके। तैं=तू। बीछुरा=अलग हुआ। ताही=उसी।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कबीर जीव को पुनः प्रभु में लीन होने का उपदेश रहे है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, अज्ञान रूपी निद्रा में सोया हुआ तू क्या कर रहा है, तू इस निद्रा से जागकर क्यो नहीं देखता? तुझे अज्ञान से निकल कर वास्तविकता को समझने का प्रयास करना चाहिए। जिस अज्ञान के कारण तू प्रभु से बिछुड़ गया है, तू उसी प्रभु मे लीन हो जा। यह स्मरण रख कि मनुष्य अज्ञान के कारण ही ईश्वर से वियुक्त होता है। सच्चा ज्ञानी और भक्त अपने आराध्य में लीन हो जाता है और तब उसका अपना अहंभाव भी नष्ट हो जाता है। हे जीव, तू इसीलिए भगवान से वियुक्त हुआ है क्योंकि तू अज्ञान में फंस गया था। अब तुझे उसी प्रभु में लीन हो जाना चाहिए।

विशेष—(१) भावसाम्य की दृष्टि से तुलसीदासजी का निम्न दोहा देखिए—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो मायाबस भयो गोसाईं। बंध्यो कीर मर्कट की नाईं।

(२) अलंकार—पर्यायोक्ति।

कबीर सूता क्या करै, उठि किन रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मै, क्यौं सोवै सुक्ख॥ (१३)

शब्दार्थ—किन=क्यो नही। बासा=निवास। गोर=कब्र। सोवै सुक्ख=चैन से सो रहा है।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि पुनः अज्ञान में फंसे हुए जीव को जागकर प्रभु का स्मरण करने की प्रेरणा दे रहा है।

**व्याख्या**—जीव को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, इस अज्ञानरूपी निद्रा में पड़ा हुआ तू क्यों सो रहा है ? तू क्यों नही डरता और अपने दुःख का वर्णन नही करता ? भाव यह है कि तू तो अज्ञान में फंसा हुआ है और तुझे यह चाहिए कि इस अज्ञान से ऊपर उठकर अपने भगवान के सामने अपने दुःख व्यक्त कर दे। तू यह क्यो भूल जाता है कि तेरा निवास तो कब्र मे है अर्थात् तुझे एक न एक दिन मृत्यु को प्राप्त होना है और जब ऐसा है तो सुख-चैन की नींद क्यों सो रहा है। भाव यह है कि यह जीवन तो एक न एक दिन नष्ट हो ही जाएगा, अतः जब तक तेरे भीतर प्राण हैं, तब तक प्रभु का स्मरण क्यों नही करता।

**विशेष**—अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

> **कबीर सूता क्या करै, गुन गोबिन्द के गाइ।**
> **तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाइ ॥ (१४)**

**शब्दार्थ**—गोविन्द=प्रभु। जम=यमदूत। खरच खाइ=खर्चा करके खाना। कदे=कभी से।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कबीर अज्ञान के अंधेरे में ग्रस्त जीव को प्रभु-भक्ति की ओर प्रवृत्त कर रहे हैं।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, तू अज्ञानरूपी नींद में सोया हुआ क्या कर रहा है, खड़ा होकर प्रभु के गुण क्यों नही गाता। तू यह क्यो भूल जाता है कि तेरे सिर पर यमदूत खड़ा हुआ है जो न जाने कब से लोगो की आयु को खर्च करके खाए जा रहा है। भाव यह है कि यमदूत सभी प्राणियो को मृत्यु के घाट उतारता जा रहा है और एक दिन तू भी मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा, इसलिए तू प्रभु के नाम का स्मरण क्यों नही करता।

**विशेष**—(१) भावसाम्य की दृष्टि से कबीर की ही एक अन्य साखी देखिए—

> **झूठै सुख कौ सुख कहै, मानत है मन मोद।**
> **खलक चबीणां कालका, कुछ मुख में कुछ गोद।**

(२) अलंकार—अनुप्रास।

> **कबीर सूता क्या करै, सूतां होइ अकाज।**
> **ब्रह्मा का आसण डिगा, सुनत काल की गाज ॥ (१५)**

**शब्दार्थ**—सूता होई=सोए रहने से। अकाज=अनर्थ। काल की गाज =मृत्यु की गर्जना।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि पुनः अज्ञानमय जीव को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दे रहा है।

व्याख्या—जीव को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, तू अज्ञान की निद्रा में पड़ा हुआ क्यों सो रहा है। तू यह क्यों भूल जाता है कि इस प्रकार सोते रहने से ही बहुत अनर्थ हो जाएगा। भाव यह है कि ईश्वर की कृपा से तुझे मानव-योनि प्राप्त हुई है और तू चाहे तो प्रभु को प्राप्त कर सकता है किन्तु एक तू है जो अज्ञान की निद्रा मे सोया हुआ अपना अहित किए जा रहा है। हे जीव, तू यह भी स्मरण रख कि तेरे मृत्यु के प्राप्त होने के बाद तू प्रभु की भक्ति नही कर पाएगा। मृत्यु की गर्जना तो ऐसी होती है कि उसे सुन कर ब्रह्मा का आसन भी डगमगा जाता है, फिर तू क्या है? भाव यह है कि मृत्यु के जाल से तू कभी नही बच सकता। इसलिए सांस रहते प्रभु का स्मरण कर ले, इसी तरह तू अपने जीवन की साधना को पूरी कर पाएगा।

विशेष—अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

केसौ कहि कहि कूकिए, नां सोइय असरार।
राति दिवस कै कूकनैं, कबहुँक लगै पुकार॥ (१६)

शब्दार्थ—केसौ=केशव, प्रभु। असरार=हठ करके। कबहुंक=कभी तो। लगै पुकार=आवाज पड़ जाए।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि जीव को रात-दिन प्रभु के स्मरण की प्रेरणा दे रहा है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, तू प्रभु का नाम स्मरण करता रह और हठपूर्वक सोया मत रह। भाव यह है कि अज्ञानरूपी निद्रा मे सोते रहने से प्रभु की प्राप्ति नही होगी। इसके लिए तो प्रभु का नाम ले-लेकर जपता रह और जब तू रात-दिन प्रभु के नाम का जप करेगा तो क्या पता, कभी प्रभु के दरबार मे तेरी सुनवाई हो ही जाए और आवाज पड़ जाए। जिस तरह कचहरियो मे चपरासी एक-एक व्यक्ति का नाम लेकर पुकारता है, ठीक उसी तरह हो सकता है कि प्रभु के दरबार मे तेरी भी पुकार पड़ जाए।

विशेष—पहली पंक्ति मे प्रयुक्त शब्द 'असरार' अरबीभाषा के इसरार शब्द का विकृत रूप है जिसका अर्थ हठ होता है। प्रस्तुत संदर्भ में इसका अर्थ है हठ करके या हठपूर्वक होगा।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम ।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम ॥ (१७)

**शब्दार्थ**—जिहि=जिसके । घटि=हृदय में । फुनि=पुनः, और । षये =क्षय हो गये अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गए । बेकाम=व्यर्थ ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि जिन लोगों के हृदय में प्रेम-तत्व का प्रसार नही है, उनका जीवन व्यर्थ है ।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि जिन लोगों के हृदय मे न तो प्रेम है और न प्रेम का रस है और जिनकी जिह्वा पर राम का नाम नही है, ऐसे लोगों ने इस संसार मे व्यर्थ ही जन्म लिया अर्थात् संसार में ऐसे लोगों का जन्म बेकार होता है। भाव यह है कि जिन लोगों के जीवन में प्रेम-भाव नही है और जो भगवान का नाम भी नही लेते, उनका जीना बेकार है ।

कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुनां, ज्यूं आयां त्यूं जाव ॥ (१८)

**शब्दार्थ**—चाषिया=चखा । चपि=चखकर । साव=स्वाद । पाहुनां =अतिथि । ज्यूं आया त्यूं जाव=जैसे आता है, वैसे ही चला जाता है ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि जीवन में प्रेम-तत्व की महिमा का वर्णन कर रहा है ।

**व्याख्या**—संत कबीरदासजी कहते है कि इस संसार में जिस व्यक्ति ने प्रभु-प्रेम को नही चखा अर्थात् प्रभु-प्रेम करके नही देखा और उस प्रेम को चख कर स्वाद नही लिया, उसकी स्थिति तो उस व्यक्ति जैसी है जोकि किसी ऐसे घर मे अतिथि बन कर जाता है जहां कोई नही होता और इस कारण जैसे जाता है, वैसे ही लौट आता है। भाव यह है कि जो व्यक्ति इस संसार मे जन्म लेकर भी प्रभु-प्रेम मे प्रवृत्त नही होता, उसका जीवन बिल्कुल बेकार है और इस संसार मे उसका आना न आना कोई अर्थ नही रखता। उसकी स्मिति ठीक उस मेहमान की तरह होती है जोकि ऐसे घर में जाता है जिसमें उसका स्वागत-सत्कार करने के लिए कोई नही होता और इस कारण मेहमान का आना न आना बेकार हो जाता है ।

**विशेष**—अलंकार—दृष्टान्त ।

पहिलै बुरा कमाइ करि, बांधी विष की पोट ।
कोटि करम फिल पलक में (जब) आया हरि की ओट॥ (१९)

शब्दार्थ—बुरा कमाइ करि=सांसारिक बन्धनों मे लिप्त रह कर। पोट =गठरी। कोटि=करोड़ों। फिल=फेंककर। हरि की ओट=भगवान की शरण मे।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि करोड़ों पाप कृत्य करके भी जब मनुष्य प्रभु की शरण मे पहुच जाता है तो वह शुद्ध हो जाता है।

व्याख्या—कवि कह रहा है कि हे जीव, पहले अर्थात पूर्वजन्म मे तो तू नाना प्रकार के सासारिक बन्धनो मे पड़ा रहा और इस प्रकार की बुरी कमाई के सहारे तूने विष की गठरी बाध ली। भाव यह है कि तूने अपने पिछले जन्म मे पाप ही पाप कमाए है किन्तु प्रभु तो अदभुत कृपालु होते है। यदि करोड़ों पाप-कृत्य करके भी प्रभु की शरण मे आ गया तो तेरे सारे पाप धुल जाएगे।

विशेष—हमारे धर्मशास्त्रो मे तीन प्रकार के कर्म बताए गए है, संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्म। संचित कर्मो का परिणाम कभी तो इसी जीवन मे मिलता है तो कभी प्रभु की शरण मे जाने मे उनका नाश हो जाता है। प्रारब्ध कर्म तो मनुष्य को भोगने ही पडते है, तभी उनका नाश होता है। क्रियमाण कर्म वे होते है जो मनुष्य इसी जीवन मे करता है।

**कोटि क्रम पेलै पलक मै, जे रंचक आवै नाउ।**
**अनेक जुग जो पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाउं॥ (२०)**

शब्दार्थ—क्रम=कर्म। पेलै=ढकेल देगा। रचक=लेशमात्र भी। नाउं =प्रभु का नाम। जुग=युग। पुन्नि=पुण्य। ठाउं=स्थान।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि प्रभु के नाम स्मरण की महत्ता का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, यदि तू लेशमात्र भी प्रभु के नाम ले ले तो तेरे पूर्व जन्म के करोड़ों पाप-कृत्य पल भर में ही पीछे धकेल दिए जाएगे अर्थात् तुझे उन पाप-कृत्यो का दुष्परिणाम नही भोगना पड़ेगा। तथापि हे जीव, यह बात भी अच्छी तरह समझ ले कि प्रभु का नाम सबसे बड़ा होता है। यदि तू अनेक युगों तक पुण्य करता रहे और प्रभु का नाम न ले तो तुझे कोई भी ठौर ठिकाना नही मिल पाएगा। भाव यह है कि प्रभु का नाम लेकर ही जीवन मे निस्तार संभव हो सकता है, केवल पुण्य कर्मो के बल पर नही। इसी प्रकार करोड़ों पाप-कृत्य भी प्रभु के नाम के सहारे क्षमा हो जाते हैं।

**विशेष**—(१) दोहे की दूसरी पंक्ति मे प्रयुक्त 'नहिं राम बिन ठाउं' का आशय यह भी है कि प्रभु के नाम के बिना स्वर्ग की प्राप्ति संभव नही हो सकती।

(२) अलकार—चपलातिशयोक्ति।

**जिहि हरि जैसा जानियां, तिनकौ तैसा लाभ।**
**ओसों प्यास न भाजई, जब लगि धसै न आभ॥ (२१)**

**शब्दार्थ**—जिहि=जिसने। जानिया=जाना, पहचाना। ओसों=ओस कणों से। भाजई=भागती है। धसै=धसना, डुबकी लगाना। आभ=पानी।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि नाना देवी-देवताओ की भक्ति करके नही बल्कि सच्चे हृदय से प्रभु के नाम का स्मरण करके ही जीवन पार उतर पाता है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि जिस व्यक्ति ने प्रभु को जिस रूप मे जाना या पहचाना है, उसे वैसा ही लाभ प्राप्त हो सका है। भाव यह है कि मनुष्य जिस रूप में प्रभु को देखता है, उसे वैसा ही पुण्य मिलता है। यह उल्लेख्य है कि ओस की बून्दों के बल पर कभी भी प्यास नही बुझती, उसके लिए तो मनुष्य को पानी मे डुबकी लगानी पड़ती है।

**विशेष**—(१) प्रस्तुत दोहे मे कवि ने बहुदेववाद का खण्डन किया है। उसके अनुसार अनेक देवी-देवताओ की भक्ति करना ओस की बून्दें चाटने की तरह है जिससे जीवन का निस्तार संभव नही है। अनेक देवी-देवताओं की भक्ति अज्ञान और मोह-माया के कारण होती है।

(२) अलकार—निदर्शना।

**राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप।**
**वेस्या केरा पूत ज्यौं, कहै कौन सौं बाप॥ (२२)**

**शब्दार्थ**—छांड़ि कर=छोड़कर। आन=अन्य का। केरा=के। कौन सौं =किसको।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने पुनः बहुदेववाद की निन्दा की है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि जो व्यक्ति परमप्रिय राम को छोड़कर किसी अन्य देवी-देवता की भक्ति मे लगे रहते है, उनकी स्थिति वेश्या के पुत्र जसी होती है जो अपने पिता का नाम बता पाने मे असमर्थ रहता है। भाव यह है कि जिस प्रकार वेश्या का पुत्र अपने पिता को नही जानता, ठीक उसी

प्रकार परमप्रिय राम को भुलाकर अन्य देवी-देवताओं की भक्ति करने वाले लोग भी भक्ति का सच्चा अर्थ नहीं जानते और अज्ञानी होते हैं।

विशेष—अलंकार—उपमा।

कबीर आपन राम कहि, औरन राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न ऊचरै, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥ (२३)

शब्दार्थ—आपन=स्वयं। औरन=औरो से भी। जिहि=जिसके। ऊचरै=उच्चारण करना। तिहि=उसके। फेरि=बार-बार।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे संत कबीरदासजी प्रभु के नाम के स्मरण की महत्ता का वर्णन कर रहे है।

व्याख्या—कवि कहता है कि मनुष्य को एक ओर तो अपने आप राम-राम का जाप करना चाहिए और साथ ही औरों से भी राम के नाम का उच्चारण कराना चाहिए। जो व्यक्ति राम-नाम का उच्चारण नही करता, उसके मुख से बार-बार राम का नाम उच्चारण कराना चाहिए। भाव यह है कि प्रभु का नाम लेने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसलिए मनुष्य को अपने आप तो राम का नाम लेना ही चाहिए, औरों से भी इस नाम का उच्चारण करवाना चाहिए और यदि किसी के मुख से इस नाम का उच्चारण नहीं होता तो उससे बार-बार इस नाम का उच्चारण करवाना चाहिए; क्योंकि संभव है कि कभी न कभी उसका मन अपने आप ही प्रभु के नाम का उच्चारण करने में लग जाए।

जैसे माया मन रमैं, यौं जे राम रमाइ।
(तौ) तारा मंडल बेधि कै, जहां के सो तहं जाइ ॥ (२४)

शब्दार्थ—रमैं=रमण करना। रमाइ=रम जाना। बेधिकै=फोड़कर, भेद कर।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि प्रभु-भक्ति की महत्ता का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या—संत कवि कबीरदासजी कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य का मन माया-मोह मे रमण करता रहता है अर्थात् जिस तरह मानव मन माया-मोह में जकडा रहता है, यदि उसी तरह वह राम की भक्ति में लीन हो जाए तो वह तारा-मण्डल को भेदकर वही जा सकता है जहां से वह आया है। भाव यह है कि प्रभु की सच्ची भक्ति करने पर मनुष्य आकाश को फोड़-कर ब्रह्म में लीन हो सकता है।

**विशेष**—मनुष्य की सृष्टि ब्रह्म से हुई मानी जाती है, इसलिए कवि कह रहा है कि सच्ची भक्ति के सहारे मनुष्य ब्रह्म तक पहुंच सकता है।

**लूटि सकै तो लूट लै, राम नाम की लूटि।**
**फिर पाछे पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि ॥ (२५)**

**शब्दार्थ**—जैहै=जाएगा।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे में कवि जीव को प्रभु के नाम के स्मरण की प्रेरणा दे रहा है।

**व्याख्या**—जीव को सम्बोधित करते हुए कवि कह रहा है कि हे जीव, इस समय तो राम-नाम की लूट मची हुई है, यदि तू लूट सकता है तो लूट ले और वाद मे जब तेरा शरीर नष्ट हो जाएगा तो पछताने से कुछ भी नही मिलने वाला। भाव यह है कि मानव-शरीर मिल जाने के कारण ही मनुष्य प्रभु के नाम का जाप कर सकता है, अतः उसे प्रभु का नाम स्मरण करके अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए और एक वार जब यह शरीर नष्ट हो जाएगा तो फिर यही पछतावा बना रहेगा कि जीवित रहते हुए भी प्रभु का नाम नही लिया। निश्चय ही उस समय पछताने का भी कोई लाभ नही होगा।

**लूटि सकै तो लूटियो, राम नाम भडार।**
**काल कठ तै गहेगा, रूंधौं दसों दुवार ॥ (२६)**

**शब्दार्थ**—काल=मृत्यु। कठ तै गहेगा=गले को दबोच लेगा। रूधैं=रुद्ध, अवरुद्ध हो जाएंगे। दसो दुवार=शरीर के भीतर के दस छिद्र अर्थात् ब्रह्म-रध्र, दो कान, दो आंखें, दो नासिकाविवर, एक मुख, एक मूत्र मार्ग और एक गुदा मार्ग।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि पुनः जीव को प्रभु के नाम का स्मरण करने की प्रेरणा दे रहा है।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि हे जीव, राम के नाम का भंडार तो अक्षय है इसलिए यदि तू इसे लूट सकता है तो लूट ले। भाव यह है कि तुझे प्रभु की कृपा से मानव-शरीर मिला है, इसलिए यदि तू चाहे तो प्रभु के नाम का स्मरण कर सकता है। यह ध्यान रख कि जब मृत्यु तुझे गले से दबोच लेगी तो तेरे प्राण निकल जाएगे और तेरे शरीर के दसों छिद्र अवरुद्ध हो जाएंगे और उस स्थिति मे तू राम के नाम का स्मरण नही कर पाएगा। भाव

यह है कि प्रभु के नाम का स्मरण करने का समय यही है, इसे मत गवां और प्रभु का नाम ले।

लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार।
कहौ संतो क्यों पाइए, दुर्लभ हरि दीदार॥ (२७)

शब्दार्थ—बिकट=दुर्गम। बहु=अनेक। मार=बटमार। क्यों=कैसे। दीदार=दर्शन।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे के माध्यम से कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि प्रभु को प्राप्त करने का मार्ग बहुत लम्बा और दुर्गम है, इसलिए प्रभु के दर्शन आसानी से नहीं हो सकते।

व्याख्या—कवि कह रहा है कि प्रभु की भक्ति का मार्ग सरल-सहज नहीं है। यह मार्ग बहुत लम्बा ही नहीं बल्कि बहुत दुर्गम भी है। फिर प्रभु का घर भी दूर है और वहां तक पहुंचने के मार्ग में अनेक बटमार भी मिल जाते हैं। इसलिए हे संतो, बताओ प्रभु के दर्शन क्योंकर हो सकते हैं। भाव यह है कि प्रभु-भक्ति का मार्ग बहुत दुष्कर है क्योंकि इस मार्ग में माया, मोह, मद, लोभ जैसे अनेक बटमार मिल जाते हैं जोकि पथिक को भटका देते हैं। मोह, माया, मद, लोभ आदि से ऊपर उठ पाना बहुत दुष्कर होता है। कदाचित इसीलिए प्रभु के घर पहुंचना और उसके दर्शन कर पाना इतना अधिक दुःसाध्य होता है। इसलिए हे संतो, अपने आपको इन बटमारों से बचाओ और प्रभु भक्ति के मार्ग पर चलते जाओ।

गुन गाए गुन ना कटै, रटै न, राम बियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यों पावै द्रुलभ जोग॥ (२८)

शब्दार्थ—गुन=गुण कीर्तन-भजन आदि। गुन=त्रिगुणात्मक बन्धन। बियोग=वियोग, अह=दिन। निसि=रात। द्रुलभ=दुर्लभ। जोग=संयोग।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि यह कहने का प्रयास कर रहा है कि केवल प्रभु का गुणगान करना ही काफी नहीं है बल्कि वास्तविक मुक्ति तो तभी हो सकती है जबकि सच्चे हृदय से प्रभु के नाम का स्मरण किया जाए।

व्याख्या—कवि कहता है कि केवल प्रभु के गुणों का गान करने से ही संसार के त्रिगुणात्मक बन्धनों से मुक्ति नहीं मिल सकती। भाव यह है कि केवल यह कहते रहने से कि प्रभु सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, सर्वहितकारी है संसार के त्रिविध बन्धनों से मुक्ति नहीं मिल सकती। जब तक मनुष्य

सच्चे मन से प्रभु के नाम का स्मरण नहीं करता तब तक उसके और प्रभु के बीच पार्थक्य बना रहेगा अर्थात् भक्त को प्रभु का वियोग बना रहेगा। जब तक मनुष्य दिन रात उस प्रभु का स्मरण नहीं करता तब तक प्रभु का दुर्लभ संयोग क्योंकर संभव हो सकता है। भाव यह है कि प्रभु को प्राप्त करने के लिए उसके गुणों का बखान करना पर्याप्त नहीं है बल्कि उसकी प्राप्ति का एकमात्र रास्ता तो यही है कि सच्चे हृदय से उसका स्मरण किया जाए।

विशेष—अलंकार—यमक वक्रोक्ति।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरै त नांहि ठाम ॥ (२६)

शब्दार्थ—खरी=बड़ी। सुमिरता=स्मरण करते हुए। नट विद्या=नट की कला। त=तौ। ठाम=स्थान।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि प्रभु-भक्ति के मार्ग की कठिनाई का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या—कवि कह रहा है कि प्रभु के नाम के स्मरण के मार्ग में बहुत बड़ी कठिनाई है और वह कठिनाई ठीक उस नट की तरह है जो सूली के ऊपर चढ़कर अपनी कला का प्रदर्शन करता है। किन्तु यदि किसी कारण वह गिर पड़े तो उसे यह पता नहीं होता कि वह कहां जाकर गिरेगा।

विशेष—(१) प्रस्तुत दोहे में कवि ने भक्ति-पद्धति की कठिनाई का वर्णन किया है। प्रभु की प्राप्ति की अन्य प्रचलित पद्धतियां हैं—तन्त्र, हठयोग, ज्ञानयोग आदि। तन्त्र और हठयोग में शरीर की बड़ी साधना करनी पड़ती है और ज्ञानयोग में बुद्धितत्व की प्रमुखता रहती है जबकि भक्ति का सीधा सम्बन्ध हृदय से होता है। भक्ति-पद्धति की सबसे बड़ी कठिनाई यही होती है कि इसमें भक्त को अपने अहंभाव का समर्पण करना होता है जोकि सबसे अधिक दुष्कर कार्य होता है। यह कार्य नट की जोखिमपूर्ण कला की भांति होता है।

(२) भावसाम्य की दृष्टि से तुलसीदास की निम्न दो पंक्तियां देखिए—

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।

(३) अलंकार—दृष्टान्त।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि वीसरै, छीलर देखि अनंत ॥ (३०)

शब्दार्थ—ध्याइ=ध्यान करनो। जिभ्या सौं=जिह्वा से। मंत=मंत्र। जिनि=मन। वीसरै=भुलाना। छीलर=तालाव।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कबीर यह बताना चाहते हैं कि अनेक देवी-देवताओं की तुलना मे एक प्रभु का स्मरण करना ही श्रेयस्कर है।

व्याख्या—जीव को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कहते है, हे जीव, अपनी जिह्वा से राम के मंत्र का जाप और अपने मन से उनका ध्यान करता रह। भाव यह है कि तू केवल जिह्वा से ही सच्चे हृदय मे प्रभु की भक्ति में लग जा। यह स्मरण रख कि प्रभु तो महासागर की तरह हैं अतः छोटे-छोटे तालाबो रूपी देवी-देवताओं को देखने के बाद उस महासागर को मत भुला। भाव यह है कि यहां तो असंख्य छोटे-छोटे तालाव, पोखर आदि है, उन्हे देखने के बाद तुझे महासागर को नही भुलाना चाहिए, क्योंकि पोखर तो पोखर ही होता है, वह कभी भी महासागर की तरह विशाल और अथाह नही बन सकता। ठीक इसी तरह से असंख्य देवी-देवताओं के चक्कर मे पड़कर प्रभु को मत भूल, सच्चा प्रभु तो एक ही है।

विशेष—अलंकार—रूपक, दृष्टान्त।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यों जोड़ि मन, सधिहि सधि मिलाइ ॥ (३१)

शब्दार्थ—मुखि=मुख से। अमृत=अमरतत्व अर्थात् राम। संधिहि=दरार के साथ। संधि=दरार।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि जीव को प्रभु के प्रति लीन होने की प्रेरणा दे रहा है।

व्याख्या—जीव को सम्बोधित करते हुए कवि कह रहा है कि हे जीव, अपने मुख से अमरतत्व अर्थात् प्रभु के गुणों का गान करके उसे प्रसन्न करले, उसी की कृपा से तेरे जीवन की मुक्ति संभव हो पाएगी। हे जीव, तू अपने मन को प्रभु के साथ उसी प्रकार मिला दे जिस प्रकार कि कोई जौहरी किसी टूटे हुए नग को इस प्रकार जोड़ देता है कि दरार से दरार मिल जाती है अर्थात् यह पता ही नही लग पाता कि जो नग जोड़ा गया है, वह टूटा हुआ था। भाव यह है कि हे जीव, तू अपने आपको प्रभु के साथ ऐसे ढंग से

मिला है कि तेरा अहतत्व ही न रहे अर्थात् साधक और साध्य के बीच अलगाव न रह सके। प्रभु-भक्ति की चरम अवस्था वही होती है जबकि भक्त प्रभु में पूर्णतः लीन हो जाता है।

विशेष—अलंकार—उपमा।

कबीर चित चमंकिया, चहुं दिस लागी लाइ।
हरि सुमिरन हाथौं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥ (२२)

शब्दार्थ—चमंकिया=तप्त हो गया। चहुं दिस=चारों दिशाओं में। लाइ=आग। बेगे=शीघ्र। लेहु बुझाइ=बुझा ले।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि आज के विषय-वासनाओं से युक्त जीवन में प्रभु-भक्ति की सार्थकता का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या—जीव को सम्बोधित करते हुए कवि कह रहा है कि हे जीव, चारों दिशाओं में मोह-माया, विषय-वासनाओं की आग लगी हुई है और निश्चय ही तू भी इस आग से अछूता नहीं रह सका है, तेरा हृदय उसमें तप्त हो गया है। फिर भी तेरे लिए निराश और दुखी होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि तेरे पास तो प्रभु के स्मरण रूपी पानी का भरा हुआ घड़ा है, तू जल्दी ही इस आग को क्यों नहीं बुझा लेता? भाव यह है कि भले ही चारों ओर मोह-मायारूपी आग लगी हुई है, तेरा हृदय भी उस आग में तप्त हो गया है, फिर भी तेरे पास उस आग को बुझाने का साधन है। प्रभु की भक्तिरूपी जल का घड़ा डालकर तू इस आग को आसानी से बुझा सकता है।

विशेष—अलंकार—सांगरूपक।

## विरह को अंग

राती रूनी विरहिनी, ज्यौं बच्चों को कुंज।
कबीर अन्तर प्रगट्यो, बिरह अग्नि को पुंज ॥ (१)

शब्दार्थ—राती=रातभर। रूनी=रोती रही। कुंज=क्रौंच पक्षी। पुंज=ढेर।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने जीव को विरहिणी की उपमा दी है और प्रिय के वियोग में उसकी अन्तर्वेदना को व्यक्त किया है।

व्याख्या—कवि कह रहा है कि जीवरूपी विरहिणी सारी रात उसी प्रकार वियोग में रोती रही जैसेकि क्रौंच पक्षी अपने बच्चों के वियोग में

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि जीवात्मारूपी विरहिणी की अन्तर्वेदना का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या कवि कह रहा है कि जीवरूपी विरहिणी रास्ते के सिरे पर खड़ी है और प्रत्येक पथिक से अपने प्रिय के संदेश के बारे में पूछती है। भाव यह है कि जीवरूपी विरहिणी प्रिय के आने वाले रास्ते के सिरे पर खड़ी है और प्रत्येक पथिक से अपने प्रिय का संदेश पूछती है। ठीक इसी प्रकार जीव प्रत्येक संत से यह पूछता है कि मेरे प्रियतम प्रभु से मेरी मुलाकात कब होगी।

विशेष—सांसारिक जीवन मे प्रत्येक भक्त महान संतों, धर्माचार्यों से प्रभु-प्राप्ति का मार्ग पूछता रहता है।

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन को, मन नाही विसराम ॥ (६)

शब्दार्थ—दिनन=दिनों से। जोवती=बाट जोहती। बाट=मार्ग।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि पुन. जीवरूपी विरहिणी की विरह-भावना का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या—कवि कह रहा है कि जीवात्मा रूपी विरहिणी बहुत दिनों से अपने प्रिय राम की प्रतीक्षा कर रही है और उससे मिलन के लिए निरन्तर तरस रही है, उसके मन को लेशमात्र भी चैन नही है।

विशेष—प्रस्तुत दोहे मे विरहजन्य पीडा का मार्मिक चित्रण किया गया है।

विरहिन ऊठै भी पड़ै, दरसन कारनि राम।
मूवां पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥ (७)

शब्दार्थ—दरसन कारनि=दर्शनों के लिए। मूवा पीछै=मरने के बाद। देहुगे=देओगे, दोगे। किहि काम=किस काम का।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने राम के वियोग में तड़पती हुई जीवात्मा की दुःखद स्थिति का वर्णन किया है।

व्याख्या—कबीदासजी कह रहे हैं कि हे राम, यह जीवरूपी विरहिणी आपके दर्शनो के लिए उठने का प्रयत्न करती है किन्तु आपके वियोग के कारण वह इतनी क्षीणकाय और दुर्बल हो गई है कि उठ नही पाती। इसलिए हे राम, अब तुमही इस पर कृपा करो। यदि जीव की मृत्यु के बाद ही तुमने उसे दर्शन दिये तो ऐसे दर्शनों से उसका क्या लाभ होगा।

विशेष—(१) प्रस्तुत दोहे मे कवि ने 'ऊठै भी पड़ै' में विरहिणी की कृश-कायावस्था का चित्रण किया है। विरह की वेदना वस्तुतः शरीर को इस कदर तोड़ देती है कि विरहिणी चाहते हुए भी उठ नही पाती।

(२) अलकार—वक्रोक्ति।

**मूवां पीछै जिनि मिलै, कहै कवीरा राम।**
**पाथर घाटा लोह सव, (तव) पारस कौने काम॥ (८)**

**शब्दार्थ**—मूवां पीछै=मरने के वाद। जिनि=मत। घाटा=समाप्त हो गया, घट गया। पारस=जिसके स्पर्श का लोहा भी सोना हो जाता है। कोने काम=किस काम का।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि परमप्रिय प्रभु से मिलन का आग्रह कर रहा है। कवि की कामना है कि उसके जीते जी ही प्रभु से मिलन हो जाए।

**व्याख्या**—अपने आराध्य श्रीराम को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कहते हैं कि हे राम, यदि मुझे दर्शन देने ही है तो जीते जी दर्शन दो, मेरे मरने के वाद मुझे दर्शन मत देना। हे प्रभु, यदि लोहा भी घटघट कर पत्थर गया तो फिर पारस मिलने से कोई लाभ होने वाला नही है। भाव यह है कि यदि आपकी भक्ति-साधना करते-करते मै लोहे से घटकर पत्थर रह गया और यदि आपने उसके वाद दर्शन दिए तो मुझे आपके पारस-रूप का भी क्या लाभ हो सकता है।

विशेष—(१) लोहे से घटकर पत्थर हो जाने का आशय साधना करते-करते हड्डियों और मास का ढेर हो जाने से है।

(२) प्रस्तुत दोहे में कवि ने विरहिणी की विरही-भावना का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है।

(३) अलंकार—दृष्टान्त।

**अंदेसौ नहि भाजिसी, सदेसौ कहियां।**
**कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां॥ (९)**

**शब्दार्थ**—अंदेसौ=शका। भाजिसी=भागेगी। कहियां=कहने से। कै=या तो। आयां=आने से।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह वताने का प्रयास किया है कि विरहिणीरूपी जीव का दुःख केवल प्रिय के संदेश सुनकर दूर नही हो जात,। उसका दुःख तो तभी दूर हो सकता है जवकि प्रभु से साक्षात्कार हो सके।

हुई है, वह समाप्त हो जाए। मै तो यही चाहता हू कि यह विरहजन्य पीडा बराबर बनी रहे क्योकि अब यह पीडा मेरी जीवन-संगिनी बन गई है, इसके बिना मुझे सुख-चैन नही मिल पाता।

**विशेष**—अलङ्कार—उल्लास।

विरह भुवंगम तन बसै, मन्त्र न लागै कोइ।
राम वियोगी ना जिअै, जिअै त बौरा होइ॥ (१८)

**शब्दार्थ**—भुवगम=सर्प। बौरा होइ=पागल हो जाता है।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे में सन्त कबीर ने यह बताने का प्रयास किया है कि एक बार जो भक्त परमप्रिय प्रभु के वियोग का अनुभव कर लेता है तो वह कभी भी उससे मुक्त होने की कामना नही करता।

**व्याख्या**—अपने परमप्रिय प्रभु को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कहते है कि हे प्रभु, आपका विरहरूपी सर्प तो मेरे शरीर के भीतर समा गया है और कोई भी मन्त्र प्रभावी नही हो पा रहा है अर्थात् विरहरूपी सर्प किसी भी मन्त्र के वश मे नही आता। राम के विरह मे जकडे हुए व्यक्ति की स्थिति बहुत विचित्र होती है, या तो वह विरहरूपी सर्प द्वारा डसे जाने के कारण मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और यदि किसी प्रकार वह जीता रहे तो पागल हो जाता है अर्थात् इस संसार के लिए उपयुक्त नही रह पाता।

**विशेष**—अलकार—रूपक।

विरह भुवगम पैसि करि, किया कलेजै घाव।
साधू अग न मोड़ही, ज्यौं भावै त्यौं खाव॥ (१९)

**शब्दार्थ**—पैसि करि=घुसकर। मोडही=मोड़ता है।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि पुनः यही कहना चाहता है कि प्रभु के वियोग मे बैठा हुआ भक्त कभी भी यह नहीं चाहता कि उसे विरहजन्य वेदना से मुक्ति मिल जाय, वल्कि वह तो इस विरह-भाव को सदैव अपने साथ रखे रहना चाहता है।

**व्याख्या**—प्रभु को सम्बोधित करते हुए सन्त कवि कह रहे है कि हे प्रभु, वियोगरूपी सर्प मेरे भीतर घुस गया है और उसने मेरे अन्तर्मन को आहत कर दिया है। भाव यह है कि विरह का यह भाव स्थायी रूप से मेरे हृदय मे आ बसा है। साधु होने के नाते मै अपने अंगो को तनिक भी नही मोडता अर्थात् इस सर्प से रक्षा के लिए तनिक भी नही हिलता-डुलता जिसका परिणाम

यह है कि यह विरहरूपी सर्प मनचाहे ढंग से मुझे खाए जा रहा है। भाव यह है कि मुझे विरह का यह भाव अत्यन्त प्रिय है, मैं इससे मुक्ति भी नहीं पाना चाहता, मैं चाहता हूं कि यह सदैव मेरे साथ बना रहे।

विशेष—अलंकार—रूपक, उल्लास।

सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त॥ (२०)

शब्दार्थ—रग=(शरीर की) रगें। तत=तन्त्रियां। रबाब=एक प्रकार का वाद्य यन्त्र।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि विरह की भावना को दो ही व्यक्ति जान सकते हैं या तो उसका प्रेमी जिसके कारण विरह-वेदना उत्पन्न हुई है या वह विरही जोकि उस वेदना को भोग रहा है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते हैं कि विरही व्यक्ति की स्थिति बड़ी ही विचित्र होती है। उसका शरीर तो रबाब वाद्ययन्त्र बन जाता है और शरीर की सभी रगें, उस वाद्य की तन्त्रियां बन जाती हैं और फिर विरह निरन्तर उस वाद्य को और उसकी तंत्रियों को बजाता रहता है। तथापि इस वाद्ययंत्र से निकलने वाली आवाज या तो प्रभु सुन सकते हैं या विरही व्यक्ति का मन। भाव यह है विरह की वेदना की तीव्रता का ज्ञान या तो उस प्रियतम को हो सकता है जिसने वह पीड़ा दी है या उस विरही को हो सकता है जिसे वह पीड़ा भोगनी पड़ी है।

विशेष—(१) रबाब नाम का वाद्य ईरान से आया था और यह वाद्य सारंगी से मिलता-जुलता है।

(२) प्रस्तुत दोहे में कवि ने विरह-भावना की प्रभावोत्पादकता का वर्णन किया है। विरह की वेदना विरही के शरीर के अंग-प्रत्यंग को झंकृत कर देती है—'विरह बजावै नित्त' शब्दों में यही भाव व्यक्त हुआ है।

(३) अलंकार—सांगरूपक, विशेषोक्ति।

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलतान।
जा घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥ (२१)

शब्दार्थ—बुरहा=बुरा। जिनि कहौ=मत कहो। सुलतान=महान। घट=हृदय। मसान=श्मशान।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि विरह का भाव किसी भी दृष्टि से निन्दनीय नही अपितु स्तुत्य है, महान है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि विरहभाव को बुरा मत कहो, सच तो यह है कि विरह-भाव अपने आप में वैसा ही महान है जैसाकि कोई शासक या राजा होता है। यह भी निश्चित है कि जिस व्यक्ति के हृदय मे विरह के भाव का सचरण नही होता, वह सदेह श्मशान की भाति निर्जीव और निष्प्राण है। भाव यह है कि विरह-भाव निन्दनीय नही है बल्कि स्तुत्य है।

विशेष—भावसाम्य की दृष्टि से गुरुग्रन्थ साहब की निम्न दो पक्तियां देखिए—

बिरहा बिरहा आखिये, विरहा है सुलतानु।
फरीदा जिनु तनि बिरह न उपजै, सो तणु जाणु मसाणु ॥

अंखियन तो झाँई परी, पथ निहारि निहारि।
जिभ्या मे छाला परा, राम पुकारि पुकारि ॥ (२२)

शब्दार्थ—झांई=अधेरा। निहारि=देखते-देखते।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कबीरदासजी ने प्रभु के वियोग मे जकडे हुए भक्त की मन.स्थिति का वर्णन किया है।

व्याख्या—कबीरदासजी कह रहे है कि प्रिय का रास्ता देखते-देखते भक्त की आखो की दृष्टि मन्द पड गई और प्रभु का नाम पुकारते-पुकारते उसकी जीभ मे छाले पड़ गए किन्तु इतना सब होने पर भी प्रभु के दर्शन नही हुए। भाव यह है कि विरह का रास्ता बहुत लम्बा और दुर्गम भी है।

या तन का दिवला करूं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सीचूं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव ॥ (२३)

शब्दार्थ—दिवला=दीपक। मेलौं=बनाऊगा। पीव=प्रिय।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने प्रभु-मिलन की तीव्र उत्कंठा को व्यक्त किया है। प्रभु से मिलने के लिए भक्त कोई भी बलिदान करने को तत्पर रहता है।

व्याख्या—भक्त कहता है कि प्रिय से मिलने के लिए मैं कुछ भी करने को तत्पर हू। मैं जानता हूं कि प्रभु से मिलने के लिए एक दीपक चाहिए, सो मै अपने शरीर को ही दीपक बना लूंगा और अपने प्राणों को उस दीपक की

बत्ती बना लूंगा। दीपक को जलाए रखने के लिए तेल की भी आवश्यकता होती है, उसके लिए मैं अपने रक्त का प्रयोग करूंगा। और इस प्रकार जले हुए दीपक को लेकर अपने प्रिय प्रभु की बाट देखूंगा। मैं कह नही सकता कि प्रभु के दर्शन कब होंगे ?

विशेष—(१) प्रिय से मिलन की तीव्र उत्कंठा को सजीव अभिव्यक्ति मिली है।

(२) अलंकार—सागरूपक।

**नैंना नीझर लाइया, रहट बहै निस घाम।**
**पपिहा ज्यौ पिउ पिउ करौ, कबरे मिलहुगे राम॥** (२४)

**शब्दार्थ**—नीझर=झरना। रहट=बाल्टियों की एक लड़ी जिसके माध्यम से कुंए मे पानी खीचा जाता है। घाम=धूप (दिन)। कबरे=कब।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने पुनः प्रभु-मिलन के लिए भक्त की प्रबल इच्छा का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—भक्त कहता है कि मेरे नयन सदैव निर्झर की तरह बहते रहते है। प्रिय प्रभु के वियोग मे मेरी आंखों से अश्रुओं की धारा उसी प्रकार बहती रहती है जिस प्रकार किसान रहट चलाकर जल की अविरल धारा बनाए रखता है। यही नही, मै हरदम 'पिउ पिउ' कहकर पुकारता रहता हू किन्तु पता नही मेरे पिउ अर्थात् मेरे प्रिय प्रभु मुझको कब मिल पाएंगे।

**विशेष**—अलंकार—उपमा।

**अंखियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जानै दुखड़ियाँ।**
**राम सनेही कारने, रोइ रोइ रतड़ियाँ॥** (२५)

**शब्दार्थ**—कसाइयां=कषाय के रंग की अर्थात् गेरुए रग की। राम सनेही कारने=राम के प्रति स्नेह के कारण।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने प्रिय प्रभु के वियोग में भक्त की निरन्तर रोती हुई आंखो में छिपी कथा का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—प्रिय प्रभु के विरह में व्यथित भक्त कह रहा है कि मेरी आंखों की लाली को देखकर लोग यही समझ रहे है कि मेरी आखें दुखनी आ गई हैं जबकि वास्तविकता कुछ और ही है। वस्तुत प्रभु के प्रति प्रेम के कारण मेरी ये आंखें सारी-सारी रात रोती रही है जिसके कारण ये लाल हो गई है। अतः लोगों का यह कहना कि मेरी आंखें दुखनी आ गई है, गलत है।

विशेष (१)—भावसाम्य की दृष्टि से संत कवि दादू की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

विरहिन कुरलै कुंज ज्यूं, निस दिन तलपत जाइ।
राम सनेही कारनै, रोवत रैनि विहाइ॥

(२) अलकार—भ्रांतिमान।

सोई आंसू साजनां, सोई लोक बिड़ांहि।
जो लोइन लोंही चुवै, तौ जानौं हेत हियांहि॥ (२६)

शब्दार्थ—साजनां=साजन के लिए। बिड़ांहि=बाहर निकलता है। लोइन=आंखे। लोंही चुवै=रक्त के आंसू बहना। हेत=प्रेम। हियांहि=हृदय में।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने विरह की आंखों से निकलने वाले आंसुओं की पहचान बताई है।

व्याख्या—कवि कहता है कि आदमी की आंखों से निकलने वाले आंसुओं का रहस्य समझ पाना आसान नही है। कभी तो ये आंसू परमप्रिय के वियोग में निकल पडते है तो कभी संसार में किसी अन्य कारण से भी निकल पड़ते हैं। तथापि विरही की आखो से निकलने वाले आंसुओं की अलग पहचान होती है क्योकि उसकी आखों से रक्त के आसू निकलते है जोकि इस बात का प्रमाण होने है कि उसके हृदय मे प्रिय के लिए प्रेम भरा हुआ है। प्रिय के प्रति सच्चा और अनन्य प्रेम प्रिय के वियोग मे संतप्त व्यक्ति की आंखों से बहने वाले रक्त के आंसुओ मे व्यक्त होता है।

कबिरा हसना दूरि करि, रोवन सों करु चित्त।
बिन रोए क्यों पाइए, प्रेम पियारा मित्त॥ (२७)

शब्दार्थ—रोवन सो करु चित्त=रोने मे मन लगा। मित्त=मित्र।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि पुनः विरह-भावना की महत्ता का प्रतिपादन कर रहा है।

व्याख्या—जीव को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, अब तू हंसने का त्याग कर और अपने मन को रोने मे लगा। यह ध्यान रख कि जब तक तू रोएगा नही तब तक तुझे अपने परमप्रिय मित्र अर्थात् प्रभु नही मिल सकेंगे। भाव यह है कि सांसारिक सुख-वैभवों से मिलने वाले

सुख को भुला कर प्रभु के प्रति विरह-भाव का आस्वाद कर। विरहजन्य वेदना के रहते हुए ही तुझे प्रभु के दर्शन हो सकेंगे।

जो रोउं तो बल घटै, हंसौं तौ राम रिसाइ।
मनही माँहि बिसूरनाँ, ज्यूं घुन काठहि खाइ ॥ (२८)

शब्दार्थ—रिसाइ = खिन्न हो जाना। बिसूरनां = शोक मनाना।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि पुनः विरहजन्य वेदना की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर रहा है।

व्याख्या—जीव कहता है कि मेरी स्थिति बहुत ही विचित्र है, क्योंकि यदि मैं रोता हूं तो मेरी शक्ति क्षीण होती है और यदि हंसता हू तो मेरा परम-प्रिय मुझसे नाराज हो जाता है। इसलिए मैंने यही सोचा है कि मैं अपने भीतर ही भीतर रोऊं (प्रकट रूप में नहीं) जिससे कि मेरे प्रभु मुझ पर कृपालु हों और मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करें। जिस प्रकार घुन भीतर ही भीतर लकड़ी को खा जाता है, ठीक उसी प्रकार मैं भी अपने भीतर ही भीतर रोना चाहता हूं। भाव यह है कि यदि मैं जोर-जोर से रोना शुरु कर दूंगा तो एक ओर तो मेरी शक्ति क्षीण होगी तथा दूसरी ओर जग-हंसाई होगी। आवश्यकता इस बात की है कि प्रभु के प्रति विरह-भावना मे और अधिक तीव्रता तथा आवेगमयता आ सके।

विशेष—(१) जीव जानता है कि यदि वह संसार के अन्य लोगों की भांति विषय-वासनाओ मे लिप्त रहेगा और इस प्रकार प्रसन्न रहेगा तो प्रभु उसकी इस प्रवृत्ति को अच्छा नहीं मानेंगे।

(२) अलंकार—उपमा।

हसि हंसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हांसेही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोइ ॥ (२९)

शब्दार्थ—कंत = प्रियतम। हांसेही = हंसने से ही। दुहागनि = दुर्भाग्यवती।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि यही बताना चाहता है कि प्रभु को प्राप्त करने के लिए विरह-व्यथा में और अधिक आवेगमयता लानी होगी।

व्याख्या—जीव को समझाते हुए कबीरदासजी कह रहे है कि इस संसार में जिस किसी ने भी अपने प्रियतम को पाया है, तो हंस-हंस कर नही अपितु रो-रोकर पाया है। भाव यह है कि प्रभु को प्राप्त करने के लिए विरहाग्नि मे जलना आवश्यक है। यदि केवल हंसते रहने मे ही प्रिय का सच्चा

प्रेम मिल जाए तो फिर इस संसार मे कोई भी दुर्भाग्यवती नही रह जाएगी। भाव यह है कि विषय-वासनाओं में लिप्त रहकर प्रभु से मिलन संभव नही हो सकता। प्रभु का सच्चा प्यार तो उसी को मिलता है जो उसके विरह की अग्नि में पूरी तरह जल जाता है।

विशेष—अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

**हांसी खेलौं हरि मिलै, कौन सहै खर सान।**
**काम क्रोध त्रिष्णाँ तजै, ताहि मिलै भगवान॥ (२०)**

शब्दार्थ—हांसी खेलो=हंसी खेल मे। खर=तेज (धारवाली)। सान=एक ऐसा यंत्र जिस पर चाकू-छुरी की धार तेज की जाती है। ताहि=तभी।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे संत कबीरदास ने प्रभु से मिलन की विधि का वर्णन किया है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि यदि केवल हंसी-खेल के बल पर प्रभु का मिलन हो सकता हो तो कोई भी तेज सान पर चढ़ना नही चाहेगा। भाव यह है कि प्रभु प्राप्ति के लिए तो मनुष्य को ससार के भोग, विलास, मोहमाया से ऊपर उठना पड़ता है और यदि मनुष्य इस मोहमाया मे लिप्त रहते हुए भी प्रभु को मिल सकता हो तो कोई भी व्यक्ति विरह की प्रखर वेदना सहन नही करना चाहेगा। सच तो यह है कि प्रभु से मिलना तो तभी संभव है जबकि मनुष्य काम, क्रोध, और तृष्णाओं का त्याग कर दे।

**पूत पियारो पिता कौं, गौहनि लागा धाइ।**
**लोभ मिठाई हाथ दे, आपन गया भुलाइ॥ (२१)**

शब्दार्थ—गौहनि=पास, साथ। धाइ=भागकर। आपन=अपना अस्तित्व।

प्रसग—प्रस्तुत दोहे में कबीरदासजी ने सांसारिक विषय-वासनाओ और मोहमाया के अद्भुत आकर्षण का वर्णन किया है।

व्याख्या—संसार का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कवि कह रहा है कि पिता का प्रिय पुत्र जब दौड़कर उसके पास चला जाता है तो पिता उसके हाथ मे मिठाई का एक टुकड़ा रख देता है और भोलाभाला पुत्र सभी कुछ भूल कर उसी मिठाई के टुकडे मे लीन हो जाता है। सांसारिक जीवों की स्थिति भी ठीक ऐसी ही है, वे लोग सांसारिक मोहमाया मे इस कदर लिप्त हो जाते है कि उन्हें प्रभु से मिलन की बात ही ध्यान नही रहती। वह अपनी

वास्तविक स्थिति को भूल जाता है। उसे यह ध्यान नही रहता कि संसार की ये विषय-वासनाएं प्रभु के मिलन में साधक नही बल्कि बाधक है।

विशेष—अलकार—अन्योक्ति।

डारी खांड पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ ॥ (३२)

शब्दार्थ—खांड=मिठाई का टुकड़ा। अंतरि=हृदय मे। रोस=क्रोध। उपाइ=उत्पन्न हुआ।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि जब मनुष्य को सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है तो वह सांसारिक विषय-वासनाओं से स्वतः मुक्त हो जाता है। प्रस्तुत दोहा पूर्ववर्ती दोहे के क्रम मे ही है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि जब उस भोलेभाले बालक को वास्तविकता का पता चला अर्थात् इस बात का पता चला कि मिठाई के एक टुकड़े के लोभ मे उसका अपने पिता से वियोग हो गया है तो उसने उस मिठाई के टुकड़े को तत्काल फैंक दिया और उसके अंतर्मन में क्रोध उत्पन्न हो गया। फलतः वह रोते-रोते अपने पिता की ओर चला और पुनः पिता से जाकर मिल गया। भाव यह है कि प्रिय से मिलन के लिए रोने का अर्थात् विरह-वेदना सहन करने का ही एकमात्र रास्ता है। सांसारिक मोहमाया में लिप्त रहकर प्रिय प्रभु से मिलन नही हो सकता, वह तो मिठाई के टुकड़े जैसे लोभ की तरह है। प्रिय प्रभु से मिलन तो तभी संभव है जबकि भक्त प्रभु के वियोग मे जी भर कर रोए।

विशेष—अलंकार—अन्योक्ति।

नैनां अंतरि आव तूं, निस दिन निरषौं तोंहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहि ॥ (३३)

शब्दार्थ—अंतरि आव=अन्दर आजा। निरषौं=देखा करू।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने अपने प्रिय को आंखों के भीतर बसाने की इच्छा प्रकट की है जिससे कि वह हर घड़ी अपने प्रिय के दर्शन करता रहे।

व्याख्या—परमप्रिय प्रभु को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कह रहे है कि हे प्रभु, तू मेरी आंखों में आकर बस जा जिससे मै रात दिन तेरे दर्शन करता रहूं। भाव यह है कि जब तू मेरी आंखों में आकर बस जाएगा तो मुझे

न तो संसार का कोई भय रहेगा और न तुझे देखने के लिए विशेष प्रयास ही करना पड़ेगा, जब भी मन चाहेगा तुझे देख लूंगा। हे प्रभु, वह दिन कब आएगा जबकि मैं इस प्रकार तुम्हारे दर्शन कर पाऊंगा अर्थात् दिन-रात तुम्हारे दर्शन करता रहूंगा।

**कबीर देखत दिन गया, निसि भी देखत जाइ।**
**बिरहिन पिउ पावै नहीं, जियरा तलपै माइ॥ (३४)**

**शब्दार्थ**—माई=भीतर।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कबीरदासजी ने प्रिय प्रभु के वियोग मे संतप्त दुखी भक्त की वेदना का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कह रहे है कि परमप्रिय प्रभु की बाट देखते-देखते सारा दिन और सारी रात बीत गई किन्तु प्रभु के वियोग में संतप्त जीव-रूपी विरहिणी को प्रभु के दर्शन नही हो पाए और इस कारण उसका हृदय तड़प कर रह गया।

**विशेष**—(१) 'जियरा तलपै माइ' मे विरहिणी की विरह-कथा की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

(२) **अलंकार**—विशेषोक्ति।

**कै बिरहिन कौं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।**
**आठ पहर का दाझनां, मोपै सहा न जाइ॥ (३५)**

**शब्दार्थ**—दाझनां=जलते रहना।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने प्रभु के वियोग में संतप्त जीवरूपी विरहिणी की अन्तर्व्यथा का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि हे प्रिय, या तो तू इस विरहिणी को मृत्यु दे दे या इसे अपने दर्शन दे दे। हे परमप्रिय प्रभु, तेरे वियोग मे जीवरूपी इस विरहिणी की हालत ऐसी हो गई है कि न तो यह मरे हुओं मे है न जीते हुओ में, इसलिए अच्छा हो यदि तू इसे मृत्यु दे दे ताकि इसे यह विरह-व्यथा न सहन करनी पड़े। अब इस विरहिणी के लिए आठो पहर परमप्रिय के वियोग में जलते रहना संभव नही हो पा रहा है।

**बिरहिन थी तौ क्यों रही, जली न पिउ के साथ।**
**रहु रहु मुगध गहेलड़ी, अब क्यों मीजै हाथ॥ (३६)**

**शब्दार्थ**—मुगध=मुग्धा (नायिका)। गहेलड़ी=हठीली।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि परमप्रिय प्रभु के वियोग में संतप्त जीव-रूपी विरहिणी की उपमा मुग्धा नायिका से दे रहा है।

**व्याख्या**—जीवरूपी विरहिणी को सम्बोधित करते हुए कवि कह रहा है कि हे विरहिणी, तू अपने पति के साथ ही जलकर क्यों नही मर गई। जिस प्रकार से मुग्धा नायिका अपने पति की मृत्यु होने पर उसके साथ ही चिता पर बैठकर सती हो जाती है, उसी प्रकार तुझे भी अपने प्रिय के साथ ही चिता में जलकर अपने प्राण त्याग देने चाहिए थे। हे हठीली विरहिणी, अब हाथ मलने से क्या लाभ अर्थात् अब तो तुझे वि ह की यह व्यथा सहन करनी ही पड़ेगी, अब इससे मुक्ति नही हो सकती।

**विशेष**—अलंकार—अन्योक्ति।

**हौं विरहा की लाकड़ी, समझि समुझि धुँधुवाउं।**
**छूटि पड़ौ या बिरह तें, जे सारी ही जलि जाउं॥ (३७)**

**शब्दार्थ**—समुझि समुझि=धीरे-धीरे। धुंधुवाउं=सुलग-सुलग कर जलना।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि विरहिणी की विरह-व्यथा की तीव्रता का वर्णन कर रहा है।

**व्याख्या**—परमप्रिय प्रभु के प्रयोग में सतप्त जीवरूपी विरहिणी कह रही है कि मैं तो विरह की ऐसी लकडी की तरह हूं जो धीरे-धीरे सुलग रही हूं। यदि किसी तरह मै पूरी तरह जल जाती तो इस विरह-व्यथा से मुक्ति पा जाती। भाव यह है कि मेरी स्थिति बहुत दुःखद है क्योकि मै इस विरह की आग मे धीरे-धीरे जल रही हूं और निश्चय ही अब मै इस तरह सुलगते-सुलगते इतनी दुखी हो गई हूं कि अब मैं यह चाहती हूं कि किसी प्रकार जल कर राख हो जाऊं जिससे इस विरह-वेदना से मुक्ति मिल सके। आध्यात्मिक अर्थों में इसका आशय यह हो सकता है कि जीव यह चाहता है कि उसका अहंतत्त्व पूरी तरह नष्ट हो जाए क्योंकि प्रभु से मिलन तभी हो सकता है जब कि अहंतत्त्व का नाश हो जाए।

**विशेष**—अलंकार—विरोधाभास।

**कबीर तन मन यों जला, विरह अगिनि सों लागि।**
**मिरतक पीर न जानई, जानैगी वह आगि॥ (३८)**

**शब्दार्थ**—मिरतक=मृतक । पीर=पीड़ा ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि विरह के दुःख की तीव्रता का ज्ञान या तो विरही को होता है या उस परमप्रिय को जिसके वियोग के कारण विरह-व्यथा उत्पन्न होती है ।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि परमप्रिय प्रभु के वियोग मे जीव-रूपी विरहिणी का तन और मन दोनो जल गए । विरह की अग्नि लगने से उसका तन मन जल गया और वह मृतक की तरह हो गई जिसे इस पीड़ा की अनुभूति ही नही होती । मृतक जीव विरहजन्य अग्नि से उत्पन्न होने वाली पीड़ा को नही जान सकता । भाव यह है कि विरहजन्य पीड़ा की अनुभूति भी तभी तक हो सकती है जब तक कि विरही जीवित हो, मरने के बाद ऐसी अनुभूति नही हो सकती ।

**विशेष**—अलंकार—असंगति, विरोधाभास ।

**बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाउं ।**
**मो देखा जल हरि जलै, संतो कहां बुझाउ ॥ (३९)**

**शब्दार्थ**—जलहरि=जलाशय । मो देखा=मुझे देखकर ।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने परमप्रिय प्रभु के वियोग में सतप्त जीव की विरह-व्यथा की तीव्रता का वर्णन किया है ।

**व्याख्या**—प्रिय प्रभु के वियोग मे सतप्त जीवरूपी विरहिणी कह रही है कि मैं तो परमप्रिय के वियोग में इस कदर जल गई कि मैं अपनी आग बुझाने के लिए जलाशय तक चली गई किन्तु वहां भी मेरी आग बुझी नही । यही नही, सच तो यह है कि मुझे देखकर जलाशय भी जल उठा । भाव यह है कि मेरी विरहाग्नि को देखने मात्र से ही जलाशय जल उठा । हे सतो, बताओ अब इस आग को बुझाने के लिए मैं कहां जाऊं ?

**विशेष**—(१) भावसाम्य की दृष्टि से निम्न दोहा देखिए—

शीतकाल जल मध्यते, निकसत भाप सुभाय ।
मानौ कोई विरहिणी, अब ही गई नहाय ॥

(२) अलकार – तद्गुण ।

**परबत परबत मै फिरा, नैन गंवाये रोइ ।**
**सो बूटी पाऊ नहीं, जातै जीवन होइ ॥ (४०)**

**शब्दार्थ**—बूटी=जीवनदायिनी दवा ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मनुष्य को जहां-तहाँ भटकने के बावजूद भी प्रभु-मिलन का रास्ता नही मिल पाता।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मै अनेक पर्वतों तक पहुंचा और प्रिय के वियोग मे रोते-रोते अपनी दृष्टि गवा दी। फिर भी मुझे वह सजीवनी बूटी नहीं मिल सकी जिससे आदमी जी उठता है।

**विशेष**—(१) प्रस्तुत दोहे मे पर्वत जाने का आशय बहुविध साधु, संतों, महर्षि, मुनियो से सम्पर्क करने से है। कवि को इस बात का दुःख है कि इतना भटकने के बाद भी कोई संजीवनी बूटी नही मिल सकी अर्थात् प्रभु-मिलन का मार्ग का पता नही लग सका।

(२) अलंकार—अन्योक्ति।

**फारि पटोरा धज करूं, कामलिया पहिराउं।**
**जिहि जिहि भेषाँ हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउं ॥(४१)**

**शब्दार्थ**—पटोरा=रेशमी वस्त्र। धज=चिथड़े। कामलिया=कम्बल। भेषां=वेश मे।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने सांसारिक भोग-विलास त्यागकर योगियों का वेश धारण करने की इच्छा व्यक्त की है।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मै चाहता हूँ कि अपने इन रेशमी वस्त्रो को फाड़-फाडकर चिथड़े बना दूँ और फिर कम्बल ओढ़ लूं अर्थात् योगियों का वेश धारण करलूं। भाव यह है कि मै सासारिक भोग-विलास का त्याग करके योगी बनना चाहता हूँ क्योंकि सभवतः मेरे प्रिय प्रभु को मेरा योगी का वेश ही सबसे अधिक प्रिय है। मेरे प्रभु जिस वेश मे भी मुझसे मिलेंगे, मै वही वेश बनाने को तैयार हूँ क्योकि मेरा तो एक मात्र उद्देश्य यही है कि प्रभु-मिलन हो जाए। कदाचित् इसीलिए मै वह सब पहनने-ओढ़ने को तैयार हूँ जो मेरे परमप्रिय प्रभु को पसन्द है।

**नैंन हमारे बावरे, छिन छिन लोरैं तुज्झ।**
**नाँ तूं मिलै न मैं सुखी, ऐसी वेदन मुज्झ॥ (४२)**

**शब्दार्थ**—लोरैं तुज्झ=तेरी ओर उत्सुक होते है।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि परमप्रिय प्रभु के प्रति अपनी लालसा को व्यक्त कर रहा है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि मेरे ये नयन तो बावले हो गए हैं और हर क्षण तेरे लिए उत्सुक रहते हैं। भाव यह है कि मेरे ये नेत्र सदैव तेरी ओर आकृष्ट रहते है। फिर भी हे प्रिय प्रभु, न तो तू मिल पाता है और न मैं सुखी हो पाता हूँ, मेरी असली व्यथा यही है। भाव यह है कि एक ओर तो मेरे ये नयन बराबर तेरी ओर खिंचे रहते हैं और दूसरी ओर तू है कि तू दर्शन ही नही देता और यही मेरा असली दुःख है।

मेरा पाया सरप का, भौसागर के मांहि।
जे छांड़ौं तौ बूड़िहौं, गहौं त डसिहै बाँहि ॥ (४३)

शब्दार्थ—मेरा=बेड़ा। सरप=सर्प (यहा इसका आशय प्रभु-प्रेम से है) बूडिहौ=डूब जाऊंगा। गहौं=पकड़ता हूँ। त=तो।

प्रसग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने सासारिक विषय-वासनाओं के प्रति मनुष्य के आकर्षण का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि कहता है कि मुझे तो प्रभु-मिलन की संभावना इसी भव-सागर रूपी संसार मे दीखती है किन्तु प्रभु का प्रेमरूपी यह बेड़ा सर्प के बेड़े की तरह है अर्थात् यदि मैं इसे छोड़ता हूँ तो मेरा भवसागर में डूबना निश्चित है और यदि मै इसे पकड लेता हूँ तो यह निश्चय ही मेरी बाह मे डस लेगा। भाव यह है कि प्रभु से मिलन तो तभी संभव हो सकता है जबकि मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओं से ऊपर उठ सके। वस्तुतः प्रभुभक्ति इसीलिए दुष्कर होती है क्योंकि इसके बिना तो ससार रूपी भवसागर के पार नही उतरा जा सकता और यदि इसे अपना लिया जाता है तो सासारिक विषय-वासनाओं का नाश आवश्यक हो जाता है।

विशेष—अलकार—सांगरूपक।

रैना दूर बिछोहिया, रहु रे संख म झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ॥ (४४)

शब्दार्थ—रैना=रात में। विछोहिया=बिछुड़ गया। म झूरि=संतप्त या दुखी मत हो। देवलि=देवालय। धाहड़ी=स्वर। देसी=देगा। ऊगे सूरि=सूर्योदय होने पर।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने प्रिय प्रभु से वियुक्त जीव का उत्साह वर्द्धन किया है।

व्याख्या—कवि कह रहा है कि हे शंख, तू रात में अपने प्रिय अर्थात् समुद्र द्वारा वियुक्त कर दिया गया है किन्तु इस बात को लेकर तू दुःखी या संतप्त मत हो। सूर्योदय होने पर प्रत्येक मन्दिर मे तेरा ही स्वर गूंजेगा। इसी दोहे का एक अन्य अर्थ यह भी हो सकता है कि अज्ञान के कारण जीव अपने प्रभु से वियुक्त हो गया था किन्तु अब उसे दुःखी नही होना चाहिए क्योंकि अज्ञान के समाप्त होने पर अर्थात् ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश होने पर तेरा ही स्वर सर्वत्र सुनाई पड़ेगा।

विशेष—अलकार—अन्योक्ति।

सुखिया सब ससार है, खायै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥ (४५)

शब्दार्थ—अरु=और।

प्रसग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने सासारिक विषय-वासनाओ मे लिप्त एक साधारण व्यक्ति की और एक सच्चे भक्त के बीच का अन्तर स्पष्ट किया है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि सासारिक विषय-वासनाओ मे लिप्त लोग बहुत सुखी है क्योंकि वे खाते-पीते और सोते है अर्थात् उन्हें प्रभु की भक्ति में कोई रूचि नही है। दूसरी ओर मै हूँ जो हर घडी जागता रहता हूँ और प्रिय प्रभु के विरह मे रोता रहता हूँ। भाव यह है कि संसार में हर ऐसा व्यक्ति दुःखी है जो प्रेम-विरह में जकड़ा रहता है। इसी प्रकार अपने ही लाभ के लिए जीने वाला व्यक्ति सदैव सुखी रहता है।

विशेष—भावसाम्य की दृष्टि से मीरां की निम्न पक्तियाँ देखिए—

मैं बिरहिन बैठी जागू
जगत सब सोवै री आली।

## मन को अंग

मन के मते न चालियं, छांड़ि जीव की बांनि।
ताकू केरे सूत ज्यों, उलटि अपूठा आंनि॥ (१)

शब्दार्थ—मते=अनुसार। छांडि=छोड़कर। बांनि=प्रकृति। ताकू=तकली। केरे=के। अपूठा=पीछे की ओर।

प्रसग—प्रस्तुत दोहे में कवि जीव को सांसारिक विषय-वासनाओं से ऊपर उठकर प्रभु में लीन होने का उपदेश दे रहा है।

कबीर मारूँ मन कौं, टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुनत कहा पछिताइ ॥ (५)

**शब्दार्थ**—बोई करि=बोकर। लुनत=काटना (फसल)।

**प्रसंग**—कबीरदासजी ने प्रस्तुत दोहे में बतलाया है कि जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि मै अपने मन को इस तरह मारना चाहता हूं कि वह टुकड़े-टुकड़े हो जाए क्योंकि वह जीवन-भर सांसारिक विषय-वासनाओं मे लगा रहा। मेरे मन ने तो वस्तुतः विषय-वासनारूपी विष की क्यारी बोई थी और इस कारण उसे विभिन्न प्रकार के मानसिक संताप सहन करने पडे थे। जब विष की क्यारी बोई गई थी तो काटनी भी तो वही पड़ेगी, उसमें पछताने की क्या बात है? भाव यह है कि जैसा किया है, वैसा ही भरना पडेगा, जो बोया है वही काटना होगा।

**विशेष**—(१) हमारे उपनिषदो में भी मन के दो रूपों का वर्णन आता है अशुद्ध मन और शुद्ध मन। अशुद्ध मन कामवासनाओं में लिप्त होता है और शुद्ध मन मे कामवासनाएं नही होती।

मनस्तु द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेवच।
अशुद्धं कामसम्पृक्तं शुद्ध कामविर्वाजतम् ॥

(२) **अलंकार**—दृष्टान्त।

इस मन कौं बिसमल करौं, दीठा करौं अदीठ।
जे सिर राखौं आपनां, तौ पर सिरि ज अंगीठ ॥ (६)

**शब्दार्थ**—बिसमल=आहत। दीठा=देखा हुआ। अदीठा=अदृष्ट। अंगीठ=अंगीठी।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि अपने आपको विषय-वासनाओं से मुक्त होने की सोच रहा है। वह चाहता है कि उसका मन सांसारिक भोग-विलास से मुक्त होकर प्रभु के प्रति लीन हो जाए।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मैं भोग-विलास में लिप्त अपने मन को इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर देना चाहता हूं कि जो प्रभु अदृष्ट है उसे देख सकूं, उसकी अनुभूति कर सकूं। एक अन्य अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि मैं अपने मन को इस प्रकार तोड़ देना चाहता हूं कि जो कुछ देखा-भोगा हुआ है, उसे अनदेखा कर दूं अर्थात् विषय-वासनाओं की ओर से विमुख हो जाऊं।

यही नही, यदि मैं अपना सिर रखूं अर्थात् अपने अहभाव को पूरी तरह नष्ट न कर दू तो मेरे सिर पर अंगीठी पड़े अर्थात् मेरे ऊपर आग के अंगारे पड़ें अर्थात् मेरा अहित हो।

**सोरठा**—मन जानै सब बात, जानत ही औगुन करै।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूंवै पड़ै॥ (७)

**शब्दार्थ**—जानत ही=जानते-बूझते हुए। औगुन=कुकृत्य।

**प्रसंग**—प्रस्तुत सोरठे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मनुष्य पुण्य और पाप के भेद को अच्छी तरह जानता है किन्तु फिर भी बलपूर्वक प्रेरित होकर पाप मे ही प्रवृत्त होता है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि मनुष्य का यह मन बहुत विचित्र होता है, वह अच्छा-बुरा, पुण्य-पाप, सभी कुछ समझता है किन्तु उसकी दुर्बलता यह है कि यह सब जानते हुए भी वह कुकृत्य में ही प्रवृत्त होता है। भाव यह है कि वह इस बात को जानता है कि जो कुछ वह करने जा रहा है, वह कुकृत्य है और वह यह भी जानता है कि कुकृत्य मे प्रवृत्त नही होना चाहिए फिर भी मन उसे उसी ओर खीच ले जाता है। यदि कोई व्यक्ति हाथ में दीपक लिए हुए कुए में गिर पड़े तो उसकी कुशलता कैसे सम्भव हो सकती है। दीपक लेकर तो उसे यह देखना है कि कही रास्ते में कोई कुआं तो नही है किन्तु यदि दीपक हाथ में लिए हुए व्यक्ति कुए में गिर पड़ता है तो निश्चय ही वह जान-बूझकर गिरा है और इस कारण उसके बचने का प्रश्न ही नही उठता।

**विशेष**—(१) ठीक इसी प्रकार के एक प्रसंग का वर्णन भगवद्गीता में भी आता है जिसमें अर्जुन भगवान् कृष्ण से मानव-मन की इस दुर्बलता के बारे मे पूछते है और श्रीकृष्ण बताते है कि रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम-क्रोध ही मनुष्य को पाप-कर्म की ओर प्रवृत्त करते है।

(२) अशुद्ध मन में रजोगुण की प्रधानता होती है किन्तु जैसे-जैसे सत्वगुण की मात्रा बढ़ती रहती है वैसे-वैसे अशुद्ध मन शुद्ध होता जाता है।

(३) **अलंकार**—वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास।

**हिरदा भीतरि आरसी, मुख देखा नहि जाइ।**
**मुख तौ तबही देखिए (जे) मन की दुविधा जाइ॥ (८)**

**शब्दार्थ**—हिरदा=हृदय। आरसी=दर्पण। दुविधा=चंचलता।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने मानव-मन की चंचल प्रकृति का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि मैं जानता हूं कि मेरे हृदय मे ही वह दर्पण है जिसमे आत्मस्वरूप के दर्शन किए जा सकते हैं किन्तु मन के द्विविधा-ग्रस्त होने के कारण आत्मस्वरूप के दर्शन नही किए जा सकते।

**विशेष**—(१) प्रस्तुत दोहे मे कवि ने मानव-मन की चचल प्रकृति का सजीव चित्रण किया है। मनुष्य का मन सत्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणो से युक्त होता है और जब तक रजस् और तमस् गुणों की प्रधानता रहती है तब तक वह क्षिप्त कहलाता है। जब उसके मन में तमस् की प्रधानता होती है तो वह 'मूढ़' कहलाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य के मन मे लेश-मात्र भी रजोगुण नही रहता तो वह एकाग्र कहलाता है।

(२) **अलंकार**—विशेपोक्ति।

**मन दीयां मन पाइए, मन बिन मन नहि होइ।**
**मन उनमन उस अंड ज्यों, अनल अकासां जोइ ॥ (६)**

**शब्दार्थ**—मन=(१) साधारण मन (२) उन्मन (भागवती चेतना। उन-मन=भागवती चेतना। अनल=एक पक्षी का नाम (यह पक्षी आकाश में उड़ते हुए ही अण्डे देता है और इसका अण्डा पृथ्वी पर गिरने से पहले ही फूट जाता है)। जोइ=जो।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि जब मनुष्य का मन एक बार भागवती चेतना मे बदल जाता है तो वह फिर कभी विषय-वासनाओ मे लिप्त नही होता।

**व्याख्या**—कवि का कहना है कि भागवती चेतना पाने के लिए मनुष्य को अपने मन को प्रभु के प्रति समर्पित करना होता है। जब तक मनुष्य अपने मन को प्रभु के प्रति समर्पित नही करेगा तब तक वह उस भागवती चेतना को प्राप्त नही कर सकता। भाव यह है कि प्रभु की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने मन को पूरी तरह मारना होगा। एक बार जब मनुष्य का मन भागवती चेतना को प्राप्त हो जाता है तो उसकी स्थिति अनल पक्षी की तरह हो जाती है जो आकाश में उड़ते हुए अण्डे देता है और जिसके अण्डे धरती पर गिरने से पहले ही फूट जाते हैं अर्थात् धरती तक नही पहुंच पाते। भाव यह है कि मनुष्य जब एक बार प्रभु के रंग में रंग जाता है तो वह पुनः सांसारिक भोग-

विलास की ओर प्रवृत्त नही होता और वह निरन्तर ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर होता जाता है ।

**विशेष**—(१) हमारे यहां मन के कई रूपों का वर्णन मिलता है—एक तो सामान्य मन और दूसरा उद्‌गत मन अर्थात् उनमन जिसे भागवती चेतना के रूप में समझा जा सकता है । मन का उद्‌गत रूप दिव्य रूप होता है ।

(२) अलंकार—यमक, उपमा ।

**मन गोरख मन गोविन्द, मन ही औघड़ होइ ।**
**जो मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ ॥** (१०)

**शब्दार्थ**—गोरख=गोरखनाथ (नाथपंथ के प्रसिद्ध योगी) । औघड़= अघोर-पंथी साधु ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मानव-मन ही मनुष्य को ऊंचा उठाता है और वही उसे नीचे भी गिराता है ।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मनुष्य के उत्थान-पतन मे उसके मन का ही सबसे बड़ा हाथ होता है, यही मन उसे गोरखनाथ की तरह ऊंचा उठाता है या प्रभु पद की प्राप्ति कराता है । मनुष्य का यही मन उसे अघोर-पथी साधु की तरह शुचि-अशुचि से परे रख सकता है । जो व्यक्ति अपने मन पर काबू पा सकता है, वह अपने आपको जो चाहे बना सकता है । भाव यह है कि 'मन के जीते जीत, मन के हारे हार' अर्थात् मनुष्य अपने मन पर काबू पाकर किसी भी आध्यात्मिक ऊंचाई का स्पर्श कर सकता है ।

**विशेष—अलंकार**—उल्लेख ।

**एक दोस्त जो हम किया, जिस गलि लाल कबाइ ।**
**सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाइ ॥** (११)

**शब्दार्थ**—गलि=गले में । कबाई=चोगा ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि एक वार जव मनुष्य का मन दिव्य बन जाता है तो फिर उसका रंग छुटाए नहीं छुटता ।

**व्याख्या**—कवि कहता है कि मैंने उच्चस्तरीय मन को अपना दोस्त बना लिया जिसने गले में लाल रंग का बड़ा चोगा पहन रखा है । इस चोगे का लाल रंग अनुराग का परिचायक है । यह रंग अपने आपमें इतना पक्का होता है कि संसार भर के धोबी मिलकर भी इसे धोएं तो यह रंग नही छूट सकता ।

भाव यह है कि जब एक बार मनुष्य का मन दिव्य बन जाता है अर्थात् प्रभु मे लीन हो जाता है तो फिर वह कभी भी किधर भी नही भटकता ।

**विशेष**—(१) हमारे धर्माचार्यों ने मन के दो रूप बताए हैं—निम्नस्तरीय मन और उच्चस्तरीय मन । निम्नस्तरीय मन सांसारिक भोग-विलास में लिप्त रहता है जबकि उच्चस्तरीय मन भागवती चेतना से युक्त होता है और प्रभु-भक्ति मे लीन रहता है । मनुष्य का मन जब एक बार प्रभु-भक्ति मे प्रवृत्त हो जाता है तो वह फिर कभी नीचे नही गिरता ।

(२) कवि ने चोगे का रग लाल बताया है । लाल रंग अनुराग का परिचायक है ।

(३) अलंकार—विशेषोक्ति ।

**पानी हू तैं पातरा, धूवां हू ते क्षीन ।**
**पवना बेगि उतावला, सो दोस्त कबीरैं कीन ॥ (१२)**

**शब्दार्थ**—हू=से भी । पातरा=पतला । पवना=पवन । उतावला=तीव्रगामी । कीन=कर लिया है ।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने परमप्रिय प्रभु के गुणों का वर्णन किया है ।

**व्याख्या**—परमप्रिय प्रभु के गुणो का विवेचन करते हुए कवि कह रहा है कि वह पानी से भी अधिक पतला और धुएं से भी अधिक सूक्ष्म है । परमप्रिय प्रभु पवन से भी अधिक तीव्रगामी है और मैंने तो उसे ही अपना दोस्त बना लिया है ।

**विशेष—अलंकार—**व्यक्तिरेक ।

**कबीर तुरी पलानियां, चाबुक लिया हाथि ।**
**दिवस थकां सांई मिलौं, पीछे पड़िहै राति ॥ (१३)**

**शब्दार्थ**—तुरी=घोड़ी । पलानियां=घोड़ी की कमर पर बैठने के लिए उपयोग मे लाई जाने वाली जीन । थकां=बीतते-बीतते । दिवस=यहां जीवन का प्रतीक है । राति=यहा मृत्यु का प्रतीक है ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि उसने किस प्रकार प्रभु से मिलने का रास्ता ढूंढ लिया है ।

**व्याख्या**—प्रभु से मिलने के लिए अपनाए गए अपने मार्ग का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि मैने अपने मन रूपी घोड़ी पर जीन कस ली है और

अपने हाथ में चावुक भी थाम लिया है जिससे कि यदि यह घोड़ी तनिक भी गलत चले तो इसे चावुक मारकर सीधे रास्ते पर ला सकूं। मैने प्रभु से मिलने के लिए जीते जी यह प्रयास कर लिया है क्योंकि मृत्यु के वाद तो प्रभु से मिलने का कोई प्रश्न ही नही उठता।

**विशेष**—(१) उपर्युक्त दोहे मे घोड़ी मन का, चावुक संयम का और जीन मानसिक एकाग्रता का परिचायक है।

(२) अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

**मनुवां तौ अधर बसा, वहुतक झीनाँ सोई।**
**अमरलोक सचु पाइया, कवहुं न न्यारा होइ॥ (१४)**

**शव्दार्थ**—मनुवां = मन। अधर = शून्य में। झीनां = सूक्ष्म। सचु = सुख।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह वताने का प्रयास किया है कि साधना के वल पर उसका मन शून्य में स्थित हो गया है और उसे अमरलोक का सुख मिल गया है।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि निरन्तर साधना के वल पर मेरा मन शून्य मे स्थित हो गया है। मेरा यह मन वहुत ही सूक्ष्म भी हो गया है और इसे अमरलोक का सुख प्राप्त हो गया है। अव वह कभी भी इससे अलग नहीं होगा। भाव यह है कि एक वार परम पद प्राप्त होने के वाद यह मन कभी भी उससे अलग नही होगा।

**मन नहिं मारा मन करि, सके न पंच प्रहारि।**
**सील सांच सरधा नहीं, इन्द्री अजहुं उघारि॥ (१५)**

**शव्दार्थ**—मन नहि मारा = मन की तृष्णाओं को नाश नही किया। मन करि = पूरे मन से। पंच = पांच इन्द्रियां अथवा काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ नामक पांच विकार। साँच = सत्य। अजहुं = आज भी। उघारि = उघड़ी हुई हैं अर्थात् वहिर्मुख है।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह वताने का प्रयास किया है कि जब तक मनुष्य अपने भीतर की विषय-वासनाओं को नही मारता तव तक उसे प्रभु की प्राप्ति नही हो सकती।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मनुष्य ने पूरे मन से कभी भी अपने भीतर की विषय-वासनाओं को नही मारा और न उसने अपनी पांचों इन्द्रियों पर ही

प्रहार किया जिससे कि वे उसके नियंत्रण में रह पाती। कदाचित् इसी कारण उसके भीतर शील, सत्य और श्रद्धा जैसे उदात्त गुणों की सृष्टि नही हो सकी और उसकी इन्द्रियां आज भी नाना प्रकार के भोग-विलास मे लिप्त पड़ी हुई हैं। भाव यह है कि आज भी उसे अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण नही है।

**कबीर मन बिकरै पड़ा, गया स्वादि के साथि।**
**गलका खाया बरजतां, अब क्यौं आवै हाथि ॥ (१६)**

**शब्दार्थ**—बिकरै=विकारों से युक्त। स्वादि=भोग-विलास। गलका=गले तक। बरजतां=मना करने पर भी।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने मानव-मन की चंचल प्रकृति का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—मानव-मन की चंचलता का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि मनुष्य का मन तो तरह-तरह के विकारों मे जकडा रहता है और भोग-विलास मे ही लिप्त रहता है। यदि मनुष्य गले तक खा लेता है तो मना करने पर भी खाया हुआ पदार्थ तो नीचे अवश्य उतरेगा। ठीक यही स्थिति मनुष्य के विकारों की भी है। जब मनुष्य पूरी तरह से विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाता है तो उनका प्रभाव मन पर पड़े बिना कैसे रह सकता है।

**कबीर मन गाफिल भया, सुमिरन लागै नांहि।**
**घनी सहैगा सासनां, जम की दरगह मांहि ॥ (१७)**

**शब्दार्थ**—गाफिल=अज्ञानी। भया=हो गया। सासनां=कष्ट। जम=यम। दरगह=दरबार।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न प्रकार के विषय-विकारों में जकड़े हुए मनुष्य को तरह-तरह के कष्ट सहन करने पड़ते है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि मन तरह-तरह के विषय-विकारों में डूब जाने के कारण मदान्ध हो गया और प्रभु-स्मरण में प्रवृत्त नही होता। भाव यह है कि विभिन्न प्रकार की विषय-वासनाओं मे जकड़ा हुआ व्यक्ति प्रभु की ओर प्रवृत्त हो ही नही पाता। यह निश्चित है कि ऐसे व्यक्ति को यम के दरबार में जाने पर अत्यधिक कष्ट सहने होंगे। भाव यह है कि मृत्यु के बाद भी ऐसे पापी को विभिन्न प्रकार के कष्ट सहने होंगे।

**कोटि कर्म पल मैं करै, यहु मन विषया स्वादि ।**
**सदगुर सबद न मानई, जनम गंवाया बादि ॥ (१८)**

**शब्दार्थ**—स्वादि=स्वाद में । सदगुर सबद=सद्गुरु का उपदेश । बादि =बेकार ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि विषय-वासनाओं में लिप्त व्यक्ति का जीवन बेकार ही रहता है क्योंकि विषयों में लिप्त रहने के कारण वह प्रभु-स्मरण में नहीं लग पाता ।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि मनुष्य का मन तरह-तरह की विषय-वासनाओं में लिप्त रहने के कारण क्षण भर में करोड़ों काम कर लेता है । भाव यह है कि विषयों मे लिपटा हुआ मन एक ही पल मे जाने क्या-क्या सोचता रहता है । ऐसा व्यक्ति सद्गुरु के उपदेश भी नही मानता और अपना सारा जीवन बर्बाद कर देता है ।

**मैंमंता मन मारि ले, घटहीं मांही घेरि ।**
**जबही चालै पीठि दै, अंकुस दे दे फैरि ॥ (१६)**

**शब्दार्थ**—मैंमंता=उन्मत्त हाथी । घटही=मन के भीतर ही ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि जीव को अपने मन को वश में रखने का उपदेश दे रहा है ।

**व्याख्या**—जीव को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कहते हैं कि हे जीव, तेरा यह मन उन्मत्त हाथी की तरह है, इसे मार अर्थात् इसे विषय-वासनाओं से विमुख रख । हे जीव, इसे मन के भीतर ही घेर-घोटकर मार दे और जब भी यह उलटा चले अर्थात् पुनः विषय-वासनाओं में प्रवृत्त हो जाए तो इसे अंकुश का प्रयोग करके सही रास्ते पर ले आओ ।

**मैंमंता मन मारि रे, नान्हां करि करि पीसि ।**
**तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीसि ॥ (२०)**

**शब्दार्थ**—नान्हां=बारीक । सुन्दरी=जीवात्मारूपी सुन्दरी । सीसि= ब्रह्मरंध्र के ऊपर ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने जीव को अपने मन की विषय-वासनाओं को मारने का उपदेश दिया है ।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि हे जीव, मस्त हाथी की तरह अपने मन को मारकर बारीक चूर्ण की तरह कर दे जिससे कि यह चूर्ण उड़कर ब्रह्मरंध

तक पहुंच सके। जीवात्मारूपी सुन्दरी को तभी जाकर ब्रह्म की प्राप्ति हो सकेगी। भाव यह है कि जिस प्रकार धूल उड़कर आकाश तक पहुंच जाती है, ठीक उसी प्रकार विषय-वासनाएं बारीक चूर्ण का रूप धारण करके ब्रह्मरंध्र तक पहुंच सकती है।

विशेष—अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

**कागद केरी नांव री, पानी केरी गंग।**
**कहै कबीर कैसे तिरूं, पंच कुसंगी संग॥ (२१)**

शब्दार्थ—कागद केरी=कागज की। गंग=गंगा, यहां इसका आशय संसाररूपी सागर से है। पंच कुसंगी=माया, मोह, मद, क्रोध और लोभ नामक पांच दुष्ट साथी।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि इस संसाररूपी सागर को पार करना तभी सम्भव है जबकि मनुष्य काम, क्रोधादि विकारो से मुक्त हो सके।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि यदि मनुष्य कागज की नाव के सहारे इस भवसागर को पार करना चाहता है और उस नाव पर काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ नामक पांच दुष्ट साथी भी हो तो भवसागर को पार कर पाना असम्भव है। भाव यह है कि काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ के रहते हुए इस संसाररूपी सागर को पार नही किया जा सकता।

विशेष—अलंकार—अन्योक्ति।

**कबीर यह मन कत गया, जो मन होता कालि्ह।**
**डूंगरि बूठा मेह ज्यूं, गया निवांणा चालि॥ (२२)**

शब्दार्थ—कत=कहां। डूंगरि=पहाड़ी। बूठा=बरसा। मेह=वारिश। निवाणा=नीचे की भूमि।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि अस्थिर मन पर उपदेशों का कोई प्रभाव नही पड़ता।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि पता नही जो मेरा मन कल था, वह कहां चला गया। भाव यह है कि पहले तो मेरा मन गुरु के उपदेशों को मान कर उनके अनुसार आचरण करता था किन्तु अब वह वैसा नही करता अर्थात् अब वह गुरु के उपदेशो के अनुरूप आचरण नही करता। अब तो इस मन की स्थिति किसी पहाड़ी पर हुई वर्षा के जल की तरह है अर्थात् जिस तरह पहाड़ी

पर हुई वर्षा का जल अपने आप नीचे की धरती पर लुढ़क जाता है ठीक उसी प्रकार अब इस मन पर गुरु के उपदेशों का कोई प्रभाव नही पड़ता और यह स्वत: विषय-वासनाओं की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

विशेष—अलंकार—उपमा।

**मृतक कूं धी जौं नहीं, मेरा मन बी है।**
**बाजै बाव शिकार की, भी मूदा जीवै ॥ (२३)**

**शब्दार्थ**—कूं=को। धी=बोध। जौं=जिस प्रकार। बी=भी। बाव=वायु। मूदा=मूर्दा।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मनुष्य का मन बहुत चंचल होता है और सांसारिक विषय-वासनाओं से सहज ही मुक्त नही हो पाता।

**व्याख्या**—कवि कहता है कि मेरे मन का विवेक जाता रहा है। जिस प्रकार मरे हुए व्यक्ति को अपना बोध नही रहता, ठीक इसी प्रकार मेरे मन को भी भले-बुरे का विवेक नही रह गया है। जैसे ही मोह-माया, मद, क्रोध, लोभ आदि जैसे विकारों की तेज हवा चल पडती है वैसे ही मेरा मन उनमे प्रवृत्त हो जाता है मानो मुर्दे को नया जीवन मिल गया हो। भाव यह है कि संसार की विषय-वासनाएं आसानी से नष्ट नही हो जाती। मनुष्य को इन विषय-वासनाओं से मुक्त होने के लिए घोर तपस्या करनी होती है। वस्तुतः होता यह है कि ये विषय-वासनाएं मन में अचेतन स्तर पर लुकी-छिपी पड़ी रहती है और तनिक भी उत्तेजना मिलने पर जागृत हो जाती है। केवल कठिन तपस्या करके ही उन पर विजय पाई जा सकती है।

विशेष—अलंकार—उपमा।

**काटी कूटी माछली, छींकै धरी चहोरि।**
**कोई एक अषिर मन बसा, दह में परी बहोरि ॥ (२४)**

**शब्दार्थ**—माछली=मनरूपी मछली। छीकै=छीका (ब्रह्मरन्ध्र)। चहोरि=संभाल कर। अषिर=अक्षर (यहां इसका अर्थ वासना है)। दह=तालाब। बहोरि=फिर से।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मनुष्य का मन बहुत चंचल होता है, अवसर मिलते ही विषय-वासनाओं मे लिप्त हो जाता है।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मैंने अपने मनरूपी मछली को बड़ी साधना के बल पर काट-कूट कर ऊपर छीके पर रख दिया था। भाव यह है कि मैंने कठोर साधना करके अपने मन को विषय-वासनाओं से मुक्त करके ब्रह्मरन्ध्र तक संभाल कर रख दिया था किन्तु मन के किसी कोने मे कोई अक्षर अर्थात् वासना छिपी हुई बैठी थी जिसके कारण संभाल कर रखी हुई मछली अर्थात् मन पुनः तालाव में आकर गिर पड़ा अर्थात् पुनः विषय-वासनाओं में लिप्त हो गया। भाव यह है कि मैंने तप-साधना करके मन को विषय-वासनाओं से ऊपर उठा लिया था किन्तु मन के एक कोने में कही छिपकर पड़ी हुई वासना ने उसी मन को पुनः विषयों में लिप्त कर दिया।

**विशेष**—(१) प्रस्तुत दोहे से यह भी पता चलता है कि कबीरदासजी मनोविज्ञान के भी प्रकाण्ड पंडित थे। मनोविज्ञान के अनुसार हमारी वासनाएं समाज और मर्यादा के कारण मन के अचेतन स्तर पर छिपी पड़ी रहती हैं किन्तु अवसर मिलते ही वे चेतन रूप से प्रकट हो जाती हैं। कबीर ने इस दोहे मे इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन किया है।

(२) **अलंकार**—अन्योक्ति।

**कबीर मन पंखी भया, उड़िकै चढ़ा अकासि।**
**उहां ही तैं गिरि पड़ा, मन माया के पासि॥** (२५)

**शब्दार्थ**—पंखी=पक्षी।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने पुन. मन की अस्थिर प्रकृति का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि मनुष्य का मन पक्षी की तरह उड़कर आकाश में पहुंच जाता है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंच जाता है और फिर किसी-न-किसी वासना के कारण वह आकाश से ही गिरकर पुनः माया में फंस जाता है। भाव यह है कि मनुष्य साधना, तपस्या के बल पर अपने मन को विषय-वासनाओं से मुक्त कर लेता है किन्तु फिर भी कोई-न-कोई वासना कही छिपी पड़ी रहती है जिसके कारण वह पुनः माया से आ मिलता है।

**विशेष**—अलंकार—रूपक।

भगति दुवारा सांकरा, राई दसएं भाइ ।
मन तौ मैगल होइ रहा, क्यूं करि सकै समाइ ।। (२६)

**शब्दार्थ**—दुवारा=द्वार । सांकरा=छोटा । राइ दसएं भाइ=राई का दसवां भाग । मैगल= मस्त हाथी ।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह वताने का प्रयास किया है कि प्रभु-भक्ति में लीन होना कोई सरल वात नही है ।

**व्याख्या**—कवीरदासजी कहते हैं कि भक्तिरूपी महल का द्वार बहुत पतला है, उसका आकार राई के दसवें भाग जितना है और मनुष्य का मन उन्मत्त हाथी की तरह मोटा और भीमकाय है, फिर भला वह उस संकरे-से द्वार मे कैसे समा सकता है ।

**विशेष**—भावसाम्य की दृष्टि से तुलसी की निम्न पंक्तियां देखिए—

रघुपति भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ।।

करता था तौ क्यों रहा, अव करि क्यों पछिताइ ।
वौवै पेड़ वबूल का, आम कहां तै खाइ ।। (२७)

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मनुष्य के जैसे कर्म होते हैं, वैसा ही उसे फल मिलता है ।

**व्याख्या**—जीव को सम्बोधित करते हुए कवि कह रहा है कि जव तू पहले विषय-वासनाओं से प्रेरित होकर विभिन्न प्रकार के कुकृत्यों में लगा रहता था तो अव क्यों पछताता है ? भाव यह है कि यदि आज तुझे अपने दुष्कर्मो का दुष्परिणाम भोगना पड़ रहा है तो पछताने की कोई वात नही, क्योंकि यह तो तुझे उस समय सोचना चाहिए था जब कि तू ऐसी कुकृत्यों में लगा हुआ था । अव तूने वबूल के बीज वोए हैं तो फिर आम खाने की आशा क्यों करता है । ववूल के वीज बोने पर तो बबूल के वृक्ष ही उगेंगे, आम के नही ।

**विशेष**—(१) भावसाम्य की दृष्टि से निम्न पंक्तियाँ देखिए—

कोउ न काहु सुख दुख कर दाता ।
निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता ।।

(२) **अलंकार**—प्रतिवस्तूपमा ।

काया केवल मन धजा, विषय लहरि फहराइ ।
मन चाले देवल चलै, ताका सर्वस जाइ ॥ (२८)

**शब्दार्थ**—देवल=देवालय । धजा=पताका । ताका=उसका । सर्वस=सर्वस्व ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मन पर नियंत्रण ही परमावश्यक है, मन के साधने से शरीर स्वयं सध जाता है ।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मनुष्य का शरीर तो देवालय की तरह होता है और मन उस देवालय की पताका होती है । मनरूपी यह पताका विषय-वासनाओं की लहरों से फहरने लगती है किन्तु यदि इस पताका के विचलित होने के साथ-साथ देवालय भी विचलित हो जाता है तो ऐसे व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है । भाव यह है कि यदि मन और शरीर दोनों ही विषय-वासनाओं मे लिप्त हो जाते है तो फिर मनुष्य का सर्वस्व नष्ट हो जाता है ।

**विशेष**—अलंकार—साँगरूपक ।

मना मनोरथ छाड़ि दे, तेरा किया न होइ ।
पांनी मैं घी नीकसै, तौ रूखा खाइ न कोइ ॥ (२९)

**शब्दार्थ**—मनोरथ—इच्छाएं । छाड़ि दे=छोड दे ।

**प्रसंग**—कवि मनुष्य को इच्छाएं त्यागने का उपदेश दे रहा है ।

**व्याख्या**—कवि अपने मन को सम्बोधित करते हुए कह रहा है कि हे मन, तू इच्छाओं, तृष्णाओं को त्याग दे क्योंकि तेरी की हुई सभी इच्छाएं पूरी होने वाली नही हैं । भाव यह है कि मनुष्य की सब इच्छाएं कभी भी पूरी नही होती है । यदि पानी को मथने से घी निकल पाता तो कोई भी व्यक्ति ऐसा नही है जो रूखी रोटी खाए । भाव यह है कि यदि मनुष्य की प्रत्येक इच्छा पूरी हो जाया करती तो फिर तो मनुष्य को अपनी सीमा का वोध ही नही होता ।

**विशेष**—अलंकार—दृटान्त ।

काया कसौं कमान ज्यौं, पंचतत्त्व करि बाँन ।
मारौं तो मन मिरिग कौं, नहीं तो मिथ्या जांन ॥ (३०)

**शब्दार्थ**—पंचतत्त्व=वायु, अग्नि, आदि पांच तत्त्व जिनसे शरीर का निर्माण हुआ है । जांन=जीवन ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने पुनः मन पर काबू पाने का उपदेश दिया है।

**व्याख्या**—कवि कहता है कि मैं अपने शरीर को कमान की तरह कसना चाहता हूं और फिर पांच तत्त्वों के वाण से उस पर प्रहार करना चाहता हूँ। यदि मै अपने इस वाण से मनरूपी मृग को नही मार सका तो मेरे जीवन की समस्त साधना अकारथ हो गई।

**विशेष**—(१) प्रस्तुत दोहे में कवि ने मनरूपी मृग को मारने की वात कही है जिसका आशय सांसारिक विषय-वासनाओं से ऊपर उठने से है।

(२) **अलंकार**—सांगरूपक।

## माया को अंग

**जग हटबारा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ।**
**रामचरस नीका गहों, जनि जा जनम ठगाइ ॥** (१)

**शब्दार्थ**—हटवारा=वाजार। वेसां=वेश्या। नीका गहों=अच्छी तरह पकड़ लो।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने जीव को सांसारिक मोह-माया को त्यागकर राम के चरणों में लीन हो जाने का उपदेश दिया है।

**व्याख्या**—जीव को सम्वोधित करते हुए कवीरदासजी कहते हैं कि हे जीव, यह संसार तो एक प्रकार का वाजार है जिसमे लोग सौदा वेचने और खरीदने आते है। इस वाजार में एक ओर तो विषय-वासनाएँ रूपी ठग विद्यमान हैं, दूसरी ओर अपने रूप-सौंदर्य से लुभाने वाली वेश्यारूपी माया भी मौजूद है। भाव यह है कि ठगों और वेश्या के रहते हुए संसाररूपी वाजार में ठीक-ठीक सौदा खरीदना-वेचना संभव नही है। इसलिए हे जीव, अव तुझे श्रीराम के चरणों को अच्छी तरह थाम लेना चाहिए, जिससे कि तेरा यह मानव जन्म ठगा न जाए।

**विशेष**—**अलंकार**—सांगरूपक।

**कवीर माया पापिनी, फंद ले बैठी हाटि।**
**सब जग तौ फन्दे परा, गया कबीरा काटि ॥** (२)

**शब्दार्थ**—हाटि=बाजार

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने जीव को माया के पापिनी रूप से बचने का उपदेश दिया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, यह माया तो पापिनी की तरह है जो कि इस संसाररूपी बाजार मे फन्दा लिए बैठी है। सारा संसार इसी माया के फन्दे मे फंस गया है किन्तु कबीर ने तो उस फन्दे को काट लिया है। भाव यह है कि कबीर ने प्रभु-भक्ति के बल पर माया पर विजय पा ली है, शेष ससार मायामोह मे ही फंसा हुआ है।

**विशेष**—**अलंकार**—व्यतिरेक।

**कबीर माया पापिनी, लालैं लाया लोग।**
**पूरी किनहुं न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥ (३)**

**शब्दार्थ**—लालैं=लालच। इहै=यही।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने माया का रूप-विवेचन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि यह माया पापिनी है जिसने लोगों के भीतर तरह-तरह के लालच जगा रखे है। मजे की बात तो यह है कि मनुष्य तो माया के चक्कर में रहता है जबकि माया किसी एक की होकर नही रहती। कोई भी व्यक्ति माया को पूरी तरह नही भोग सकता और यही मनुष्य का और माया का वियोग है।

**विशेष**—(१) इसी प्रकार का भाव गीता में भी कहा गया है कि विषयों के संयोग से जो भोग उत्पन्न होते है, वे सुख के नही दुःख के कारण होते हैं क्योंकि उनका आदि भी होता है और अन्त भी होता है। जिस भोग का आदि और अन्त होता है, उससे सच्चा सुख कदापि नही प्राप्त हो सकता।

(२) व्यावहारिक जीवन मे भी हम देखते है कि विषय-भोग से प्राप्त होने वाले जिस सुख के पीछे मनुष्य पागल हुआ घूमता है वह वस्तुतः सुख नहीं बल्कि दु:ख का कारण होता है क्योकि क्षणिक सुख भोगने के बाद मन पुनः विषय से दूर हट जाता।

(३) अलंकार—मानवीकरण, काव्यलिंग।

**कबीर माया पापिनी, हरि सौं करै हराम।**
**मुखि कड़िपाली कुमति की, कहन न देई राम ॥ (४)**

**शब्दार्थ**—हराम=विमुख। मुखि=मुख में। कड़िपाली=लगाम।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि माया ऐसी पापिनी होती है कि मनुष्य को राम का नाम नही लेने देती।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि यह माया पापिनी है जो कि जीव को प्रभु से विमुख किए रहती है क्योंकि यह मनुष्य के मुख पर कुबुद्धि की ऐसी लगाम लगा देती है कि वह राम का नाम ही नही ले पाता। भाव यह है कि माया जीव की बुद्धि को खराब कर देती है जिसके कारण वह प्रभु से विमुख हो जाता है और प्रभु का नाम भी नहीं ले पाता।

**विशेष**—अलंकार—रूपक, मानवीकरण।

**जानौ जे हरि कौं भजौं, यो मनि मोटी आस।**
**हरि बिचि घालै अन्तरा, माया बड़ी बिसास ॥ (५)**

**शब्दार्थ**—जे=यदि। बिचि=बीच में। घालै अन्तरा=अन्तर डाल देती है। बिसास=छली।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने माया के छली रूप का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मनुष्य माया मोह मे लिप्त रहने के कारण प्रभु-भक्ति में प्रवृत्त नही हो पाता। यदि उसे माया के इस पापिनी रूप का पता हो तो वह माया से मुक्त होकर प्रभु का भजन करने लगे क्योंकि वह प्रभु-मिलन की आशा अवश्य लिए रहता है। उसे यह भी ज्ञात है कि उसके और प्रभु के बीच मे जो अलगाव है वह भी माया का ही उत्पन्न किया हुआ है। यदि माया नहीं होती तो मनुष्य निश्चय ही प्रभु-भक्ति मे प्रवृत्त होता। माया में फंसे रहने के कारण ही वह प्रभु से विमुख हो गया है। सच है कि यह माया बहुत छली है।

**कबीर माया मोहिनी, मोहे जांन सुजाँन।**
**भागेहू छुटै नहीं, भरि-भरि मारै बांन ॥ (६)**

**शब्दार्थ**—जांन=ज्ञानी। सुजान—चतुर।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने माया के मोहक रूप का विवेचन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि माया मे अद्भुत सम्मोहन शक्ति है और वह ज्ञानी तथा चतुर सभी को मोह लेती है। भाव यह है कि माया का रूप इतना लुभावना होता है कि बड़े-से-बड़े ज्ञानी और चतुर व्यक्ति उसके आकर्षण से उबर नही पाते। यही नही, यदि मनुष्य माया से भागकर भी अपना पीछा छुड़ाना चाहे तो भी वह ऐसा नही कर पाता क्योंकि वह तो बराबर मनुष्य पर प्रहार करती रहती है अर्थात् विभिन्न तरीकों से मनुष्य को लुभाए रहती है।

**विशेष**—अलंकार—विशेषोक्ति, मानवीकरण।

**कबीर माया मोहिनी, जैसी मीठी खांड।**
**सतगुरु की किरपा भई, नहीं तो करती भांड ॥ (७)**

**शब्दार्थ**—करती भांड=बरबाद कर देती।

**प्रसग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताया है कि माया का आकर्पण प्रभु की कृपा से ही दूर हो सकता है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि माया मे अद्भुत सम्मोहन शक्ति है। वह मनुष्य को अपनी ओर उसी तरह आकृष्ट कर लेती है जैसे कि मीठी खांड की ओर मनुष्य स्वतः खिचा चला जाता है। मेरे ऊपर तो सतगुरु की विशेप कृपा रही कि मैं इस माया के चक्कर में नही आया। अन्यथा मेरा जीवन भी और लोगो की तरह बरबाद हो जाता।

**विशेष**—अलंकार—उपमा।

**कबीर माया मोहिनी, सब जग घाला घानि।**
**कोई एक जन ऊबरै, जिनि तोड़ी कुल कानि ॥ (८)**

**शब्दार्थ**—घाला=डाल दिया है। घानि=घानी। कानि=मर्यादा।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि माया के जाल से कोई विरला ही बच सकता है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि माया में अद्भुत सम्मोहन शक्ति है। उसने सारे संसार को घानी मे डाल दिया है। भाव यह है कि संसार में कोई भी ऐसा नही है जोकि उसके प्रभाव से अछूता हो। कभी-कभी कोई विरला व्यक्ति अपने लोक और कुल की मर्यादा को तोड़कर माया के बन्धन से उबर पाता है वरना तो सारा संसार उसी में फंसा रहता है।

**कबीर माया मोहिनी, मांगी मिलै न हाथि।**
**मना उतारी झूठ करि, (तब) लागी डोलै साथि ॥ (९)**

**शब्दार्थ**—मांगी=मांग करने पर, याचना करने पर। मिलै न हाथी=हाथ में नही आती। मना=मन से। झूठ करि=बिलग करके।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि जो व्यक्ति माया-मोह में पड़ा रहता है, माया उसके हाथ में नही रहती और जो माया से दूर हो जाता है, माया उसके पीछे-पीछे चलती है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि माया में अद्भुत सम्मोहन शक्ति है किन्तु मांगने पर भी वह किसी के वश में नही रहती किन्तु जब मनुष्य अपने मन से माया को अलग कर देता है तो फिर यह माया मनुष्य के पीछे-

पीछे चलती है। भाव यह है कि जब तक मनुष्य को माया का मोह रहता है, वह उसी के वश में रहता है जबकि माया उससे दो कदम आगे चलती है और जब मनुष्य माया-मोह से ऊपर उठ जाता है तो फिर यही माया उसे लुभाने के चक्कर मे उसके पीछे चलती रहती है।

**विशेष**—अलंकार—विरोधाभास।

**माया दासी संत की, ऊभी देइ असीस।**
**बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीश ॥ (१०)**

**शब्दार्थ**—ऊभी = खड़ी हुई। बिलसी = भोग करने के बाद। लातौं छड़ी = ठुकरा देना (पैरों से)।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि जहां सामान्यजन माया के वश में रहते हैं, वहां माया संतों के वश में रहती है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि संत लोग प्रभु का स्मरण करते हैं इसलिए माया उनकी दासी की तरह होती है। संतों के सामने माया एक दासी की तरह खड़ी हुई संतों की जयजयकार करती रहती है। संतों की विशेषता यह होती है कि वे माया का भोग करने के बाद भी उसे पैरों से ठुकरा देने की क्षमता रखते हैं जबकि सामान्यजन माया को भोगने पर उसी के अनुचर बने रहते है। संतों में यह क्षमता प्रभु नाम के स्मरण करने से है।

**माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर।**
**आसा तृष्णां नां मुई, यौं कहै दास कबीर ॥ (११)**

**शब्दार्थ**—मुई = मरने।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने बताया है कि मनुष्य इस संसार मे आता जाता रहता है किन्तु माया, आशा, तृष्णा कभी भी नष्ट नही होती।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि इस संसार में मनुष्य जन्म लेता है और अन्ततः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसका स्थूल शरीर पंचतत्वों में मिल जाता है किन्तु फिर भी न तो उसका माया-मोह छूटता है, न मन से विषय-वासनाएं ही नष्ट होती हैं। मनुष्य के भीतर की आशाएं, इच्छाएं, तृष्णाएं कभी नही मरती।

**आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।**
**सोइ मूव धन संचते, सो उबरे जो खाइ ॥ (१२)**

**शब्दार्थ**—मूवे = मरे हुए। संचते = जोड़ते हुए।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि पुनः यही बता रहा है कि इस संसार में

है। कुछ ऐसे भक्त भी होते हैं जो परम प्रभु जैसे स्वामी को भूलकर सस्ते यश को अर्जित करने में लग जाते हैं, विभिन्न प्रकार की सिद्धियों और साधना का प्रदर्शन करके भोली-भाली जनता की वाहवाही लूटते हैं। स्वभावतः ऐसे अधकचरे भक्त भी ससारिक मोह-माया मे फंसे रहते हैं। ;

**विशेष**—अलंकार—रूपक।

> माया तजी तौ कहा भया, जौ मान तजा नहीं जाइ।
> मानि बड़े मुनिवर गिले, मान सबनि कौं खाइ॥ (१७)

**शब्दार्थ**—मान=यश। गिले=निगल गया।

**प्रसग**=प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि प्रतिष्ठा का लोभ बहुत प्रबल होता है। साधारण लोग ही नही, बड़े-बड़े ऋषि मुनि भी इस लोभ का संवरण नही कर पाते।

**व्याख्या**—कवि जीव को सम्बोधित करते हुए कह रहा है कि हे जीव, यदि तूने विषय-वासनाओं, मोह-माया को त्याग भी दिया तो इससे तेरा कुछ हित होने वाला नही है क्योंकि यश और प्रतिष्ठा का लोभ तेरे भीतर अभी भी बना हुआ है। प्रतिष्ठा पाने का लोभ इतना प्रबल होता है कि साधारण लोग तो क्या बड़े-बड़े मुनि भी इसके चक्कर मे फस जाते हैं। मान के लोभ से कोई भी नही बच पाता। संसार का हर छोटा-बड़ा व्यक्ति सम्मान पाने के लोभ मे लगा रहता है।

> रांमहि थोरा जानि करि, दुनियां आगै दीन।
> जीवां कौं राजा कहै, माया के आधीन॥ (१८)

**शब्दार्थ**—जीवां=साधारण लोग।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि माया-मोह मे फंसे होने के कारण लोग परमप्रिय प्रभु को भुलाकर सांसारिक लोगो से सहायता मागने मे लगे रहते है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि लोग राम की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास नही करते और संसार के धनी-मानी लोगों के सामने दीनता का भाव प्रकट करते है। वस्तुतः अज्ञान और मोह-माया में लिप्त रहने के कारण लोग परमप्रभु पर विश्वास न करके ससार के लोगों के आगे झोली फैलाने लगते है। ये लोग माया-मोह के चक्कर में फंसे रहने के कारण ही सांसारिक जीवो को अपना स्वामी मान लेते हैं। सच तो यह है कि ऐसे लोगों को यह ध्यान नही रहता कि संसार के जिन धनी-मानी लोगों के सामने

वे याचक बनते है, वे धनी-मानी लोग भी अन्ततः उसी परमप्रभु से याचना करते है। जो स्वयं याचक है, वह दूसरे को क्या दे सकते है ?

**रज बीरज की कली, तापर साजा रूप।**
**रांम नाम बिन बूड़िहै, कनक कामिनी कूप ॥ (१९)**

**शब्दार्थ**—रज बीरज=(स्त्री का) रज, पुरुष का) वीर्य। बूड़ि है=डूब जाएगा। कनक कामिनी कूप=वैभव और कामवासना रूपी कुआ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मनुष्य प्रभु का नाम लिए बिना इस भवसागर के पार नही उतर सकता।

**व्याख्या**—कवि कह रहा है कि मनुष्य तो स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य के मिलन से बना हुआ जीव है जिसके ऊपर अस्थियों और मांस-मज्जा का शरीर सजा हुआ है। भाव यह है कि मनुष्य कोई बहुत बड़ी सत्ता नही है। यह निश्चित है कि यदि उसने राम के नाम का स्मरण नही किया तो वह भोग-विलास और विषय-वासनाओं के कुए मे गिरे बिना नही रह सकता।

**विशेष—अलंकार**—रूपक।

**माया तरुवर त्रिविध का, साखा दुख सन्ताप।**
**सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीका तनि ताप ॥ (२०)**

**शब्दार्थ**—त्रिविध=माया के तीन गुण अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस्। सुपिनै=सपने मे भी। तनि=शरीर में।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि माया-मोह से केवल दुख-संताप की ही प्राप्ति होती है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि माया एक ऐसे वृक्ष की तरह है जिस में सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन गुण होते है। इस वृक्ष की शाखाएं दुःख और संताप है। भाव यह है कि मायारूपी इस वृक्ष से कभी भी सुख-चैन की उपलब्धि नही हो पाती, केवल दुःख और संताप ही प्राप्त होते है। इस वृक्ष से स्वप्न में भी कभी शीतलता नही मिल पाती, इसके फल का स्वाद फीका होता है जो कि शरीर में केवल ताप ही उत्पन्न कर पाता है। भाव यह है कि मायारूपी वृक्ष की न तो ऐसी छाया ही होती है कि उसके नीचे बैठकर शीतलता का अनुभव किया जा सके, उसका फल भी फीका होता है, उसकी शाखाएं दु.ख और संताप की तरह होती है और उसके फल खाने से शरीर मे ताप ही उत्पन्न होता है।

**विशेष—अलंकार**—सांगरूपक, व्यतिरेक।

कबीरा माया डाकिनी, सब काहू कौं खाइ ।
दांत उपारू पापिनी, जे सन्तों नियरे जाइ ॥ (२१)

**शब्दार्थ**—उपारूं=उखाड लूं । जे=यदि । नियरे=समीप ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने माया के राक्षसी रूप का विवेचन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि यह माया तो राक्षसी है जो हर किसी को खा लेती है अर्थात् इसके प्रभाव से कोई भी अछूता नही रहता । फिर भी यदि यह पापिनी सतों के निकट जाने का दुस्साहस करेगी तो मैं इसके दांत उखाड़ फेंकूंगा । भाव यह है कि यदि यह पापिनी संतो पर प्रहार कर देगी तो इसे कही का नही छोड़ूंगा ।

**विशेष**—अलंकार—रूपक ।

नलनी सायर घर किया, दव लागी बहुतेन ।
जलही माहैं जल मुई, पूरब जनम लिखेन ॥ (२२)

**शब्दार्थ**—नलनी=कमलिनी । सायर=सागर (संसाररूपी) दव=बड़वानल । बहुतेन=अत्यधिक । लिखेन=लिखे अनुसार ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि संसार-रूपी सागर में आने के बाद जीव बच नहीं सकता ।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि जीवरूपी कमलिनी ने भवसागर में अपना घर बना लिया । उसने यही सोचा होगा कि भवसागर मे रहकर उसे जल की शीतलता की अनुभूति होगी किन्तु उस भवसागर मे तो बडवानल लगी हुई थी अर्थात् भीषण समुद्री आग लगी हुई थी जिसका परिणाम यह हुआ कि पूर्व जन्म के लिखे अनुसार वह जल मे रहती हुई भी जलकर मर गई । भाव यह है कि जीव जल में इसलिए जाता है कि उसे शीतलता मिलेगी किन्तु पूर्व जन्म के कृत्यो का फल यह हुआ कि जल मे भी भीषण समुद्री आग लग गई जिसके फलस्वरूप जीवात्मा जल मे रहते हुए भी मृत्यु को प्राप्त हो गई ।

**विशेष**—अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास ।

कबीर गुण की बादली, तीतरबानीं छांहि ।
बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मंदिर मांहि ॥ (२३)

**शब्दार्थ**—तीतर बानी=तीतर पक्षी जैसे रंगवाली मिश्रित रंगों से युक्त ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताया है कि मनुष्य जिस माया में अपना आश्रय ढूंढ़ लेता है, वही माया उसके पतन का कारण बन जाती है ।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि मायारूपी बदली की छांह मिश्रित

रंगों वाली होती है। भाव यह है कि माया तीतर की तरह बहुरंगी होती है। मनुष्य अज्ञान के कारण माया की छाया मे सुख ढूंढने लगता है किन्तु परिणाम कुछ और ही निकलता है। मायारूपी इस बहुरंगी बदली की विशेषता यह होती है कि जो कोई इससे बचकर रहते है, वे तो उबर जाते है और जो लोग उस बदली की छांह मे बैठ जाते है, वे उसमें बुरी तरह भीग जाते है। भाव यह है कि उन्ही लोगों का जीवन सफल रहता है जो माया-मोह से दूर रहते है और जो लोग विषय-वासनाओं मे लिप्त रहते है, वे पतनोन्मुखी होते है।

**विशेष—अलंकार**—रूपक, विरोधाभास।

**कबीर माया मोहिनी, भइ अंधियारी लोइ।**
**जे सूते ते मुसि गए, रहे बस्तु कौं रोइ॥** (२४)

**शब्दार्थ**—लोइ=लोग। मुसि गए=लुट गए। बस्तु=पूंजी।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने माया की मोहिनी शक्ति का वर्णन किया है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि यह माया अद्‌भुत मोहिनी होती है अर्थात् सभी को मोहित कर लेती है। लोग इसी माया के कारण अज्ञान-रूपी अन्धकार में भटक जाते है। जो लोग इस मोह-माया में पड़कर सो गए वे लोग लुट गए, उनकी सारी पूंजी लुट जाती है और वे रोते-पछताते रह जाते है।

**सांकर हूं तें सबल हैं, माया इहि संसार।**
**ते क्यूं छूटै बापुरे, बांधे सिरजनहार॥** (२५)

**शब्दार्थ**—सांकर=जजीर। बापुरे=बेचारे। सिरजनहार=स्रष्टा (प्रभु)।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि स्वयं स्रष्टा ने ही इस संसार को माया में बाध रखा है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि माया का बंधन साकल से भी अधिक मजबूत है और स्वयं स्रष्टा ने संसार को माया के इस बधन में बांध रखा है। ऐसी स्थिति मे जीव बेचारा कैसे बचा रह सकता है। भाव यह है कि जब जन्म देने वाले प्रभु ने ही संसार को माया-मोह मे बांध रखा है तो बेचारा जीव मोह-माया से अछूता कैसे रह सकता है।

**विशेष—अलकार**—व्यतिरेक।

**बाड़ी चढ़ती बेलि ज्यूं, उलझी आसा फध।**
**टूटै पर छूटै नहीं, भई जो बाचाबंध॥** (२६)

**शब्दार्थ**—बाड़ी=बाढ़ पर। फंध=फंदा। बाचा बंध=वचनबद्ध।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि मनुष्य की तृष्णा का नष्ट होना बहुत कठिन होता है।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि मायारूपी अज्ञान के कारण मनुष्य की तृष्णा बाढ़ पर चढ़ी हुई बेल की तरह होती है। बाढ़ पर चढ़ी हुई बेल की विशेषता यह होती है कि उसे प्रयत्न करने पर भी बाढ़ से अलग नही किया जा सकता। यह बेल टूट भले ही जाए, बाढ से अलग नही हो पाती है। ठीक इसी तरह मनुष्य की तृष्णा भी उससे अलग नही हो पाती जिसे देखकर ऐसा लगता है मानो कि उसने जीव से अलग न होने का वचन उठा रखा हो।

**सब आसन आसा तणां, निवरति कोई नांहि।**
**निवरति कै निबहै नहीं, प्रवृत्ति परपंच मांहि ॥ (२७)**

**शब्दार्थ**—आसन=योगासन। तणां=का (राजस्थानी भाषा का एक प्रयोग)। निवरति=निवृत्ति।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि प्रवृत्ति के मार्ग पर चलकर निवृत्ति की अवस्था को नही पहुंचा जा सकता।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि जो लोग विभिन्न प्रकार के योगासनों, सिद्धियों आदि के बल पर प्रभु तक पहुँचने की सोचते है, वे सभी तृष्णाओं मे बंधे हुए है अर्थात् उनके बताए मार्ग से निवृत्ति की अवस्था तक नही पहुंचा जा सकता। जो लोग प्रवृत्ति के प्रपंच में लगे हुए है, वे निवृत्ति के मार्ग का निर्वाह कभी नही कर सकते। भाव यह है कि योगासन आदि निवृत्ति की ओर नही ले जाते बल्कि सच तो यह है कि वे प्रवृत्ति की ओर ले जाते है। मनुष्य को मुक्ति तभी मिल सकती है जबकि वह निवृत्ति के मार्ग का अनुसरण करे।

**कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह।**
**जिहि घरि जिता बधावना, तिहि घरि तिता अंदोह ॥ (२८)**

**शब्दार्थ**—बधावना=उत्सव। तिता=उतना ही। अदोह=दुःख।

**प्रसंग**—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि संसार मे सुख और दुःख साथ-साथ चलते हैं।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि इस संसार मे माया-मोह सभी झूठा और बेकार है। यहां सुख-दुःख साथ-साथ चलते हैं। जिस घर मे जितना अधिक उत्सव और बधावा होता है, उसमे उतना ही अवसाद भी होता है। भाव यह है कि सुख और दुःख जीवन के दो अनिवार्य तत्त्व है।

**विशेष**—**अलंकार**—विरोधाभास।

माया हमसौं यों कहै, तू मति दे रे पूठि।
और हमारे वसि पड़े, गया कबीरा रूठि ॥ (२९)

शब्दार्थ—पूठि=पीठ।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि वह माया के चक्कर से वचा रहा है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि मुझसे माया ने कहा कि तू मुझे पीठ मत दे अर्थात् मेरी उपेक्षा मत कर क्योकि सारा संसार तो मुझी में लिप्त है फिर तू ही मुझसे विलग क्यो है ? माया के ये शब्द सुनने पर भी मै उसके प्रति आकृष्ट नही हुआ वल्कि मैं उससे विमुख हो गया।

विशेष—अलंकार—मानवीकरण।

वगुली नीर विटालिया, सायर चढ़ा कलंक।
और पंखेरू पी गए हस न बौरै चच ॥ (३०)

शब्दार्थ—वगुली=वगुला का स्त्री लिंग, यहां इसका आशय माया से है। विटालिया=गदला कर दिया। सायर=सागर। पखेरु=पक्षी। हंस=यहां इसका आशय मुक्त आत्मा से है। वौरै=डाली। चच=चोंच।

प्रसंग—प्रस्तुत दोहे में कवि ने यह वताने का प्रयास किया है कि केवल मुक्त आत्मा ही मोह-माया से मुक्त रह सकती है।

व्याख्या—कवीरदासजी कहते है कि मायारूपी वगुली ने संसाररूपी भवसागर का सारा जल गन्दा कर दिया। सामान्य लोग तो उस गन्दे जल को ही पीते रहे, किन्तु हंस जैसी मुक्त आत्मा ने उस गन्दे जल मे चोच नही डाली अर्थात् वह ससार की मोह-माया से विमुख ही रहा। भाव यह है कि माया ने सारे ससार को वश मे कर रखा है केवल मुक्त आत्मा ही माया के चंगुल से वची रहती है।

विशेष—अलंकार—अन्योक्ति।

कवीर माया जिनि मिलै, सौ विरिया दै बांह।
नारद से मुनिवर गिले, कैसि भरोसौ ताहि ॥ (३१)

शब्दार्थ—जिनि मिलै=मत मिलो। विरिया=वार। गिले=निगल गई। ताहि=उसका।

प्रसग—प्रस्तुत दोहे मे कवि ने यह वताने का प्रयास किया है कि साधारण जीव ही नही, वड़े-वड़े मुनि भी माया के चंगुल से नही वच पाते।

व्याख्या—जीव को सम्वोधित करते हुए कवीरदासजी कहते हैं कि हे

 सौभाग्यवती महिलाएं । मंगलाचार = मांगलिक

जीव, तू माया के ‥ जाने वाले गीतादि । रत करि = लीन करके । पांचउ

ओर आकृष्ट क- अर्थात् पृथ्वी, आकाश, पावक, वायु, जल । मैंमाती = मस्त ।

के चक्क- हहौं = भावर लूंगी अर्थात् विवाह-बन्धन मे बधूगी । सहस अठासी =

मत -ासी हजार । पुरिख = पुरुष ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत पद मे कवि ने एक विवाह का रूपक बाधा है जिसमे जीवात्मा को पत्नी रूप में और परमात्मा को पति रूप मे चित्रित किया गया है । कवि के अनुसार जीवात्मा परमात्मा के मिलन की यह स्थिति तभी आती है जबकि जीवात्मा साधना की उच्चावस्था को प्राप्त होती है ।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते हैं कि हे सौभाग्यवती महिलाओ, मांगलिक अवसरों पर गाए जाने वाले गीत गाओ क्योंकि आज मेरे घर दूल्हा राम आए है । भाव यह है कि आज मेरा विवाह होने वाला है और मेरे पति के रूप में स्वयं भगवान राम मेरे घर पधारे हैं इसलिए मंगलगान का आयोजन होना चाहिए। मेरा मन और तन—दोनों ही उस परमप्रिय प्रभु के प्रति लीन हैं, समर्पित हैं । मेरे घर आने वाली इस बारात के बराती पांचों तत्व हैं अर्थात् पृथ्वी, आकाश, अग्नि, वायु और जल बराती बनकर आए है । आज मेरे घर मे भगवान राम अतिथि बनकर आए हैं और मैं अपने यौवन में पूरी तरह मस्त हूँ । मेरे इस विवाह के अवसर पर मैं अपने शरीररूपी सरोवर को वेदी बनाऊंगी और स्वयं ब्रह्मा मेरे विवाह के समय वेद-मंत्रों का उच्चारण करेगे । मैं परमप्रिय प्रभु के साथ भांवर लूंगी जो कि निश्चय ही मेरे लिए परम सौभाग्य का प्रतीक है । भाव यह है कि मैं अपने परमप्रिय से मिलने जा रही हूँ और यह मेरा परम सौभाग्य है । मेरे इस विवाह मे भाग लेने के लिए तैंतीस करोड़ देवता और अठासी हजार मुनि पधारे हैं । मैं तो एक अविनाशी पुरुष अर्थात् श्रीराम के साथ ब्याह करने जा रही हूँ । भाव यह है कि श्रीराम के साथ मेरे इस मंगल-मिलन को देखने के लिए सारे देवता, ऋषि-मुनि पधारे हैं ।

**विशेष**—(१) प्रस्तुत पद गौरी राग मे रचित है ।

(२) **अलंकार**—सांगरूपक, व्यतिरेक ।

(३)

राँम भगति अनियाले तीर ।
जेहि लागै सो जानै पीर ।
तनु मँहि खोजौं चोट न पावौं ।
ओषद मूर कहां घसि लावौं ॥१॥

एक भाइ दीसैं सब नारी।
नां जांनौं को पियहिं पियारी ॥२॥
कहै कबीर जाकै मस्तकि भाग।
सभ परिहरि ताको मिलै सुहाग ॥३॥

**शब्दार्थ**—अनियाले=नुकीले। मूर=जड़ी-बूटी। एक भाइ=एक समान। सभ=सबको। परिहरि=छोड़कर।

**प्रसंग**—प्रस्तुत पद मे कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि राम की भक्ति एक बहुत ही दुस्साध्य कार्य है।

**व्याख्या**—रामभक्ति के दुस्साध्य रूप का विश्लेषण करते हुए कवि कहता है कि रामभक्ति के तीर बहुत नुकीले होते है अर्थात् जिस व्यक्ति के हृदय में राम की भक्ति जग जाती है, उसे राम को छोड कही भी चैन नही मिलता। रामभक्ति के तीरों की एक अन्य विशेषता यह होती है उनकी पीड़ा वही जान सकता है जिसको वे तीर लगते हैं। भाव यह है कि रामभक्ति का दर्द वही जान सकता है जिसने इसका अनुभव किया हो। रामभक्ति के इन तीरों की एक अन्य विशेषता यह होती है कि इसके घाव शरीर पर दिखाई नही देते अर्थात् ये तीर सीधे हृदय पर चोट करते हैं। चूंकि इन तीरों के घाव शरीर पर नहीं दीखते इसलिए किसी भी प्रकार की औषधि, जड़ी-बूटी को घिसकर लगाने से कोई लाभ नहीं हो सकता। इस संसार में सभी नारियां एकसी लगती हैं अर्थात् सभी जीवात्माएँ एकसी होती हैं और यह कहना आसान नही है कि प्रिय को कौन प्यारी है अर्थात् परमात्मा किस जीवात्मा को प्यार करते हैं। मेरे अनुसार तो जिस नारी का भाग्य अच्छा है, सभी को त्यागकर प्रिय उसी का वरण करेंगे। भाव यह है कि जिस जीव का भाग्य अच्छा है, प्रभु अन्य जीवों को त्यागकर उसी जीव पर कृपा वृष्टि करेंगे।

**विशेष**—(१) भावसाम्य की दृष्टि से कवि बोधा का यह पद देखें—

यह प्रेम को पंथ कराल महा, तरवारि कै धार पै धावनो हो।

(२) प्रस्तुत पद गौरी राग में रचित है।

(३) अलंकार—व्यतिरेक, विशेषोक्ति।

(४)

पिया मोरा मिलियां सत्त गियांनी।
सब में व्यापक सबकी जांनै ऐसा अन्तरजामी।
सहज सिंगार प्रेम का चोला सुरति निरति भरि आनी ॥१॥

सील संतोख पहिरि दोइ कगन होइ रही मगन दिवांनी।
कुमति जराइ करौं में काजर पढ़ौ प्रेम रस वांनी ॥२॥
ऐसा पिय हम कबहुं न देखा सूरति देखि लुभांनी।
कहै कबीर मिला गूर पूरा तन की तपनि बुझांनी ॥३॥

शब्दार्थ—सत्तगियांनी=सत्य, ज्ञानी। सुरति=प्रेमपूर्वक ध्यान करना। निरति=प्रेमपूर्वक ध्यान की उच्चावस्था। सुरति=सूरत। लुभानी=मोहित। गुर=रहस्य।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे कवि ने ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त—इन तीनो विशेषताओं के साथ चित्रित किया है। साथ ही कवि ने अपने को स्त्री-रूप मे और प्रभु को पति-रूप में चित्रित करके परमात्मा के साथ जीवात्मा के मिलन की कल्पना प्रस्तुत की है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि मुझे तो ऐसा प्रिय मिल गया है जोकि सत्य, ज्ञानरूप तथा अनन्त है। मेरे प्रभु सर्वव्यापक हैं और सबके भीतर की बात जानते हैं अर्थात् उन्हे पता है कि हर व्यक्ति अपने मन में कैसे-कैसे भाव रखे हुए है। मैंने प्रेमपूर्वक प्रिय का ध्यान किया है, अपने आपको उनपर समर्पित किया है और इसी प्रेम के परिचायक सुन्दर वस्त्रों को धारण किया है, अपना स्वाभाविक शृंगार भी किया है क्योंकि अब प्रिय से मेरा मिलन होने वाला है। मैंने शील और संतोष रूपी दो कंगन अपने हाथों में धारण कर रखे हैं, और मैं प्रभु के प्रेम में दीवानी हो गई हूं अर्थात् मुझे मेरे प्रिय के अलावा कुछ भी रुचिकर नही लगता। अब मैं अपने अज्ञान को जलाकर भस्म कर दूंगी और उस कालिमा का काजल अपनी आंखों में रचाऊंगी। प्रिय से मिलन के लिए मैंने अपनी वाणी में भी प्रेम-रस घोल लिया है। मैंने ऐसा प्रिय इससे पहले कभी नही देखा और उसे देखकर मैं पूरी तरह उस पर मोहित हो गई। मुझे तो अब वह रहस्य मिल गया है जिससे तीनों प्रकार के तापों से मुक्ति मिल जाती है। भाव यह है कि प्रभु के प्रति समर्पण से मुझे कोई भी दुःख-ताप नही सताता।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद विहँगड़ों राग में रचित है।

(२) अलंकार—सांगरूपक।

(५)

क्यों लीजै गढ़ बंका भाई।
दोवर कोट अरु तेवर खाँई ॥टेक॥

कांमु किवार दुःख सुख दरबानीं पाप पुन्नि दरवाजा।
क्रोध प्रधान लोभ बड़ दुंदर मनु मैंवासी राजा ॥१॥
स्वाद सनाँह टोप ममीता को कुबुधि कमाँन चढ़ाई।
तिसनाँ तीर रहै घट भीतरि यहु गढ़ु लिओ न जाई ।२॥
प्रेम पलीता सुरति नालि करि गोला ग्यांन चलाया।
ब्रह्म अगिनि सहजे परजाली एकहिं चोट वहाया ॥३॥
सतु संतोखु लै लरनैं लागा तोरे दुइ दरवाजा।
साध संगति अरु गुर की कृपा तैं पकरयौ गढ़ को राजा ॥४॥
भगवंत भीति सुकति सुमिरन की काटि काल की फांसी।
दास कबीर चढ्यौ गढ़ ऊपरि राज लियौ आविनसी ॥ (५)

शब्दार्थ—गढ=किला। वंका=टेढ़ा, दुर्गम। दोवर=दोहरी। कोट=किले की रक्षार्थ निर्मित चहारदीवारी। तेवर=तिहरी। काँमु=काम-वासना। किवार=किवाड़। दुंदर=द्वन्द्व करने मे तेज। मैंवासी=किले का स्वामी। सनाह=कवच। टोप=शिरस्त्राण, कवच। तिसना=तृष्णा। नालि=नली। परजाली=प्रज्ज्वलित हुई। सतु=सत्य। भीरि=समूह। काल=मृत्यु।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में कवीरदासजी ने मानव-शरीर को एक किले के रूपक में वांधकर उस पर विजय प्राप्त करने का मार्ग वताया है।

व्याख्या—कवीरदासजी कहते है कि मनुष्य का यह शरीर वहुत ही दुर्जेय किले की तरह है, भला इसे कैसे जीता जा सकता है अर्थात् इस पर विजय पाना वहुत दुस्साध्य है, क्योकि इसकी दोहरी चहारदीवारी और तिहरी खाईं हैं। भाव यह है कि इस किले की दो चहारदीवारी और तीन खाइया है जिनके रहते हुए इस पर विजय करना दुष्कर है। यहां चहारदीवारी का आशय आनन्दमय और विज्ञानमय कोषो से है और खाइयो का आशय मनोमय, प्राणमय और आनन्दमय कोपो से है। इस शरीररूपी दुर्ग मे काम ही दरवाजा है और सुख-दुख इस दरवाजे के वाहर खड़े हुए पहरेदार है। भाव यह है कि शरीर के भीतर जो विपय-वासनाएं पलती-पनपती हैं, वे कामरूपी दरवाजे में से होकर आती है जिसके वाहर सुख-दुख दो पहरेदार खड़े है। इन पहरेदारों का काम यह है कि जिन चित्तवृत्तियों से शरीर को सुखानुभूति होती है, उन्हें तो ये आने देते है और जिन वृत्तियो से दुःख मिलता है, उन्हें भीतर नही जाने देते। शरीर को अपना सुख निम्न प्रकार की प्रवृत्तियों में मिलता है और इसलिए मानव-शरीर विषय-वासनाओं में ही लिप्त रहता है। कामरूपी इस

है। भाव यह है कि हंस जैसे प्रभु के अनन्य और एकनिष्ठ भक्त ही आत्म-साक्षात्कार करने में सफल हो पाते हैं। प्रत्येक जीव को यह सौभाग्य नहीं मिलता है। हे प्रभु, तेरा सच्चा भक्त तो वही है जो दूध और पानी के बीच फर्क कर सकता हो अर्थात् जिसमें सत्य-असत्य, पाप-पुण्य जैसी बातों का अन्तर समझने की क्षमता हो।

विशेष—(१) भावसाम्य की दृष्टि से तुलसीदास की निम्न पंक्तियां देखिए—

जड़ चेतन गुन दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुन गहहिं, परिहरि बारि बिकार॥

(२) प्रस्तुत पद राग भैरव में रचित है।

(३) अलंकार—सांगरूपक, श्लेषरूपक।

( ७ )

अब मोहि नाचिबो न आवै।
मेरो मन मंदला न बजावै ॥टेक॥

ऊभर था सो सूभर भरिया त्रिसनां गागरि फूटी।
कांम चोलनां भया पुरांनां, गया भरम सभ छूटी ॥१॥
जे बहु रूप किए ते कीए अब बहु रूप न होई।
थाकी सौंज संग के बिछुरे रांम नांम मसि धोई ॥२॥
जे थे सचल अचल ह्वै थाके चूके बाद बिबादा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया भया रांम परसादा ॥३॥

शब्दार्थ—मंदला=एक वाद्ययंत्र। ऊभर=खाली। सूभर=अच्छी तरह भरा हुआ। सौंज=सामग्री। संग के=साथ रहने वाले विषय आदि। मसि=पाप-कृत्यों की कालिमा। चूके=समाप्त हो गए। परसादा=अनुग्रह।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में कवि ने संसार में निरन्तर आवागमन से मुक्त होने की स्थिति का वर्णन किया है। कवि के अनुसार साधना और राम-नाम के स्मरण से जीवन के सभी कालुष्य स्वतः धुल जाते हैं।

व्याख्या—प्रभु को सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि हे प्रभु, अब मुझसे न तो नाचते बनता है न मेरा मन मंडला वाद्य ही बजा पाता है। भाव यह है कि मैं पहले पाप-कृत्यों के कारण संसार में नाना रूपों में प्रकट हुआ करता था, मेरा मन तृष्णाओं की ताल पर नाचता रहता था किन्तु अब मैं साधना की उस अवस्था को पहुंच गया हूं कि मेरे लिए बार-बार नया जन्म लेकर इस संसार में आना संभव नहीं होगा। पहले मेरा मन प्रभु की भक्ति से

सर्वथा खाली था किन्तु अब तो वह प्रभु-भक्ति से परिपूर्ण हो गया है, तृष्णा-रूपी सागर फूट गई है अर्थात् अब मेरे मन में कोई तृष्णाएं नही रह गई हैं। काम-वासनाओं-रूपी वस्त्र पुराने हो गए है और अब सभी प्रकार के भ्रम नष्ट हो गए हैं। भाव यह है कि पहले काम-वासनाओं में लिप्त रहने के कारण मैं हर घड़ी नाचता रहता था किन्तु अब साधना के बल पर मेरी ये काम-वासनाएं भी समाप्त हो गई है जिसके फलस्वरूप अब मेरे मन मे कोई भ्रम भी नही रहा है। उससे पहले मैंने विविध रूप धारण किए थे किन्तु अब मैं वह सब नही कर सकता क्योंकि जिन विषय-वासनाओ के रहते हुए मैंने बहुविध रूप धारण किए थे, अब वे विषय-वासनाएं थक गई है। राम के नाम का स्मरण करने से मेरे भीतर की सारी कालिमा नष्ट हो गई है अर्थात् मेरे पाप-कृत्य नष्ट हो गए है। रामनाम के स्मरण की एक अन्य विशेषता यह है कि पहले मेरे भीतर जो विविध प्रकार की साधनाएं अस्थिर बनी रहती थी वे अब स्थिर हो गई है। भाव यह है कि पहले प्रभु की भक्ति में मेरा मन एकनिष्ठ नही रहता था किन्तु अब वह पूरी तरह उसी मे लीन हो गया है और इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि मेरे भीतर जो तरह-तरह के वाद-विवाद बने हुए थे, वे अब नष्ट हो गए है अर्थात् अब मेरे मन में कोई भी संशय या विवाद नही रह गया है। अब मुझ पर प्रभु की कृपा हो गई है जिसके कारण मैं अपने आपमें सर्वथा पूर्ण हो गया हूं।

**विशेष**—(१) भावसाम्य की दृष्टि से सूर का निम्न पद देखिए—

**अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।**
**काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।।**
**महामोह के नूपुर बाजत निन्दा सबद रसाल।**
**भ्रम भोयो मन भयो पखावज चलत असंगत चाल।।**
**तृष्ना नाद करति घट भीतर नाना बिधि दै ताल।**
**माया को कटि फेंटा बांध्यो लोभ तिलक दियौ भाल।।**
**कोटिक कला काछि विखराई जल थल सुधि नहिं काल।**
**सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्दलाल।।**

(२) प्रस्तुत पद राग सोरठ मे रचित है।
(३) अलकार—सागरूपक, विरोधाभास।

( ८ )

**संतो भाई आई ग्यान की आँधी रे।**
**भ्रम टाटी सभै उड़ांनी माया रहै न बांधी रे ।।टेक।।**

दुचिते की दोइ थूंनि गिरानी मोह बलेंडा टूटा ।
त्रिस्नां छानि परि घर ऊपरि कुबमति भांडा फूटा ।।
आंधी पाछै जो जल बरसै तिहि तेरा जन भींनां ।
कहै कबीर मनि भया प्रगासा उदै भान सब चींनां ।।

**शब्दार्थ**—टाटी=टाट का बना पर्दा । दुचिते= चित्त की दो अवस्थाएं—विषयों में आसक्ति और बाह्याचार । थूंनि=स्तम्भ । बलेंडा=छप्पर को सहारा देने वाली बीच की लकड़ी । छानि=छप्पर । घर=घरनी । कुबमति=कुबुद्धि । भांडा=बर्तन । तेरा जन=प्रभु का भक्त । भींनां=भीग गया । उदै=उदय हो गया । चींनां=पहचान लिया ।

**प्रसंग**—प्रस्तुत पद में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि अज्ञान का अंधेरा दूर होने के बाद ही विभिन्न प्रकार की भ्रम और शंकाएं दूर हो पाती हैं । ज्ञान के प्रकाश से मनुष्य के मोह-माया के बंधन टूट जाते हैं ।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कह रहे हैं कि हे सन्तो, देखो ज्ञान की आंधी आ रही है जिससे भ्रमरूपी टाट के सभी पर्दे उड़ जाएंगे और माया भी बंधी नहीं रहेगी । भाव यह है कि ज्ञान का प्रकाश होने के बाद मनुष्य के मन में न तो विभिन्न प्रकार की भ्रम-शंकाएं आदि रहेंगी और न वह मोह-माया में ही लिप्त रह सकेगा । ज्ञान की इस आंधी के आने के बाद विषयासक्ति और बाह्याचार-रूपी दोनों खम्भे भी गिर जाएंगे और मोहरूपी बल्ली जिसके सहारे तृष्णाओं का छप्पर टिका रहता है, वह भी गिर पड़ेगा । तृष्णाओं का छप्पर तो स्वतः गिर ही पड़ेगा और कुबुद्धिरूपी बर्तन भी फूट जाएगा । भाव यह है कि ज्ञान के प्रकाश से न तो विषयासक्ति रहेगी, न बाह्याचार रहेगा, न मोह-माया रहेगी, न तृष्णाएं ही रहेंगी और न कुबुद्धि ही रह पाएगी । ज्ञान की इस आंधी के बाद प्रेमाभक्ति रूपी जो वृष्टि होगी, हे प्रभु, तेरा यह भक्त उस वृष्टि में पूरी तरह भीग जाएगा । ज्ञान रूपी सूर्य के उदय से मेरे मन में एक दिव्य प्रकाश संचारित हो गया और मैंने अपने आपको सच्चे अर्थों में पहचान लिया ।

**विशेष**—(१) भावसाम्य की दृष्टि से 'धम्मपद' का निम्न पद देखिए—

**अनेक जाति ससारं संधाविस्सं अनिब्बिसं ।**
**गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ।।**
**गहकारक दिट्ठोऽसि पुन गेहं न काहसि ।**

सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसखितं ॥
बिसखारगत चिन्त तण्हान खयमज्झगा ॥

(२) प्रस्तुत पद राग गौरी मे रचित है ।
(३) अलंकार—सांगरूपक ।

( ६ )

अवधू सो जोगी गुर मेरा ।
जो या पद का करै निबैरा ॥टेक॥
तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा बिन फूलां फल लागा ।
साखा पत्र कछु नहिं वाकै अष्ट गगन मुख बागा ॥ (१)
पग बिन निरति करां बिनु बाजा जिभ्या हीना गावै ।
गावनहार कै रूप न रेखा सतगुर होइ लखावै ॥ (२)
पंखी का खोज मींन का मारग कहै कबीर बिचारी ।
अपरम्पार पार परसोतम वा मूरतिकी बलि हारी ॥ (३)

**शब्दार्थ**—अवधू=अवधून (ऐसे साधु को कहते है जिसने अपनी निम्न प्रवृत्तियों का दमन कर दिया है) करै निबेरा=स्पष्टीकरण दे । ठाढ़ा=खड़ा हुआ । अष्ट गगन=आठों दिशाए । मुख=की ओर । बागा=फैला हुआ । निरति=नृत्य । करां बिनु=हाथों के बिना । लखावै=दिखा सकता है । पंखी का खोज=विहंगम मार्ग । मीन का मारग=मीन मार्ग (हमारे यहां मुक्ति के तीन मार्ग बताए गए हैं—पिपीलिका मार्ग, विहंगम मार्ग और मीन मार्ग । पिपीलिका मार्ग का आशय चींटी की तरह धीरे-धीरे चलकर लक्ष्य तक पहुंचना है । विहंगम मार्ग मे साधक पक्षी की तरह उड़कर लक्ष्य को पहुच जाता है और उसके जाने का कोई चिह्न बचा नही रहता है । मीन मार्ग के अधीन साधक जल में चलने वाली मछली की तरह अपने गमन का कोई चिह्न नहीं छोड़ता । दूसरे, मछली जलधारा के प्रतिकूल चलती हैं । इसी प्रकार मीन मार्ग का अनुसरण करने वाला साधक भी विषयों के तेज प्रवाह के प्रतिकूल चलता है ।)

**प्रसग**—प्रस्तुत पद में कवि ने प्रकृति, जीवात्मा और पुरुषोत्तम नामक तीन क्षेत्रों का वर्णन किया है । हमारे शास्त्रों में इन तीन तत्त्वों को क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तम का नाम दिया गया है । क्षेत्र का आशय प्रकृति से है, क्षेत्रज्ञ का आशय जीवात्मा से है और पुरुषोत्तम में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों समाहित है ।

**व्याख्या**—अवधूत को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि हे अवधूत; मै अपना गुरु उसी जोगी को मानूगा जो मेरे इस पद का स्पष्टीकरण दे

सकेगा। एक ऐसा वृक्ष है जो बिना जड़ के खड़ा हुआ है और जिसमें फूलों के लगे बिना फल लगते है। इस वृक्ष की विशेषता यह है कि उसमें शाखायें, पत्ते आदि बिल्कुल नहीं है, फिर भी वह आठो दिशाओं में फैला हुआ है। भाव यह है कि इस संसार मे प्रकृति का कोई मूल नहीं होता, वह अपना मूल स्वयं होती है। प्रकृति के इस विशाल क्षेत्र मे आत्मा अपने क्रियाकलापों मे लीन रहती है। यह आत्मा बिना पैरों के नृत्य करती है, बिना हाथों के बाजा बजाती है और बिना जीभ के गाती है किन्तु ऐसा अद्भुत गायक के रूप को कोई नहीं देख पाता। केवल सद्गुरु की कृपा होने पर ही उस आत्मा को पहचाना जा सकता है। परमप्रिय पुरुषोत्तम को प्राप्त करना उस आत्मा के वश की बात नहीं है। वह तो अपरम्पार है और मैं उस परम प्रभु पर न्यौछावर जाता हूं। मैंने बहुत विचार कर देखा है कि प्रभु प्राप्ति के केवल दो ही मार्ग है—विहंगम मार्ग और मीन मार्ग। इन दोनों मार्गो का विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद राग रामकली में रचित है।
(२) अलंकार—विभावना।

(१०)

रस गगन गुफा मे अजर झरै।
अजपा सुमिरन जाप करै॥ टेक॥
बिनु बाजा झनकार उठै जहं समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिनु चन्दा उजियारी दरसै जहं तहं हंसा नजरि परै॥ (१)
दसवे द्वारै ताड़ी लागी अलख पुरुख जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकटि नहि आवै काम क्रोध मद लोभ जरै॥ (२)
जुगन जुगन की त्रिखा बुझानीं करम भरम अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भइ साधो अमर होइ कबहू न मरै॥ (३)

शब्दार्थ—गगन गुफा=कपाल के भीतर का एक छिद्र। अजर=नित्य नया। अजपा जाप=ऐसा जाप जो प्रत्येक श्वास और प्रश्वास के साथ सहज रूप मे होता है। हंसा=शुद्ध आत्मा। दसवे द्वारै=दसवा द्वार (कपाल कुहर से तालु तक का वक्रनाल जिसमे से सोमरस टपकता रहता है)। ताड़ी=समाधि। अलख पुरुख=परम पुरुष अर्थात् परमात्मा। जुगन=युगो की। त्रिखा=विषय-वासनाएं। अघ=पाप। व्याधि=रोग।

प्रसग=प्रस्तुत पद में कबीरजी ने योग की भाषा में प्रभु की साधना के

मार्ग का वर्णन किया है। कवि ने योग की शब्दावली का प्रयोग किया है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि कपाल के भीतर के छिद्र में विद्यमान सहस्रार से एक महारस हर घड़ी टपकता रहता है जो नित्य नएपन और अमरत्व का परिचायक होता है। यदि कोई व्यक्ति श्वास-प्रश्वास के माध्यम से बिना प्रयास के प्रभु के नाम का स्मरण करता है तो वह अजर और अमर बनने का पात्र हो जाता है। भाव यह है कि अजपा जाप के माध्यम से प्रभु का स्मरण करने पर भक्त को अमरत्व प्राप्त होता है। जब कभी भक्त प्रभु का ध्यान करता है तो उसे अपनी साधनावस्था मे बिना बाजे की झंकार सुनाई पडती है और चंद्रमा के न रहते हुए भी शुद्ध आत्मा को सच्चा प्रकाश दिखाई देने लगता है।

कपाल कुहर मे से महारस टपकता रहता है और वह तालु तक पहुंचता है। जब कोई शुद्ध आत्मा से युक्त व्यक्ति प्रभु का ध्यान करता है तो सहस्रार में स्थित दसवें द्वार को पहचान लेता है। सच्चे भक्त को साधना के बल पर इस दसवें द्वार मे परमप्रिय प्रभु के साथ साक्षात्कार हो जाता है और इसके साथ ही कठोर मृत्यु निकट नही आती अर्थात् मृत्यु पर विजय पा लेता है और काम, क्रोध, मद, लोभ आदि पूरी तरह जल जाते है। परम प्रिय प्रभु से साक्षात्कार होने के बाद युग युगों से सता रही विषय-वासनाएं शमित हो जातीं है और कर्मो का चक्र, तरह-तरह के भ्रम, पाप और शारीरिक रोगों से मुक्ति मिल जाती है। भाव यह है कि संसार में आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रभु का भक्त अमरत्व को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह फिर कभी नही मरता। हे संतो, ऐसा भक्त सदा-सदा के लिए अमर हो जाता है।

विशेष (१)—प्रस्तुत पद मे कवि ने कपाल-कुहर से रस के टपकने की बात कही है जोकि आधुनिक शरीर वैज्ञानिकों की मान्यताओं से मेल खाती है। आधुनिक शरीर वैज्ञानिक भी यह मानते है कि शरीर मे कुछ ग्रंथियों में से स्वतः स्राव होता रहता है। ऐसी ही बात योगशास्त्र मे भी कही गई है।

(२) प्रस्तुत पद की पहली दो पंक्तियो मे जिस रस के टपकने की बात कही गई है, वह रस पीयूपिका नामक ग्रंथि से टपकता है और मानव-शरीर की विविध ग्रंथियों मे यह ग्रंथि सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह ग्रंथि कपाल-कुहर में होती है और इससे टपकने वाले रस को सोमरस कहा गया है।

(३) दसवें द्वार का उल्लेख अन्य सम्प्रदायों मे भी मिलता है जैसे कि—

(१३)

माधौ कब करिहौ दाया।
काम क्रोध हकार बिआपै नां छूटै माया ॥ टेक ॥
उतपति विन्दु भयौ जा दिन तै कबहुं सचु नहि पायौ।
पंच चोर सगि लाइ दिए हैं इन सगि जनम गवायौ ॥ (१)
तन मन डस्यौ भुजंग भामिनी लहरइं वार न पारा।
गुर गारडू मिल्यौ नहि कबहूं पसन्यो बिख विकरारा ॥ (२)
कहै कबीर दुख कासौं कहिए कोई दरद न जानै।
देहु दीदार बिकार दूरि करि तब मेरा मन मानै ॥ (३)

**शब्दार्थ**—हकार=अहंकार। बिआपै=व्याप्त है। उतपति विंदु भयौ=जब से मैं वीर्य (पिता के) से उत्पन्न हुआ। सचु=सच्चा आनन्द। पंच चोर=पांच विकार अर्थात् माया, मोह, काम, क्रोध, मद। भामिनी=कामिनी। लहरइं=विषैली लहर। वार न पारा=ओर छोर। गारडू=सांप का विष दूर करने वाला। बिख=विष। बिकरारा=विकराल। दीदार=दर्शन। मन मानै=मन सुखी होगा।

**प्रसंग**—यहां कवि अपने विकारों को दूर करने की प्रार्थना करता है।

**व्याख्या**—परमप्रिय प्रभु को सम्बोधित करते हुए कबीरदासजी कहते हैं कि हे प्रभु, मुझ पर आपकी वह कृपा कब होगी जब मेरे भीतर न तो काम, क्रोधादि विकार रहें और न माया-मोह ही रहे। मै तो जन्म से इसी प्रकार के विकारों मे जकड़ा रहा हूं। जब से मैं पिता के वीर्य से जन्मा हूं तभी से मुझे सच्चे आनन्द की उपलब्धि नहीं हुई है। भाव यह है कि जब से मैंने जन्म लिया है तभी से मैं माया-मोह मे फंसा रहा हूं और इस कारण मुझे आनन्द-लाभ हो ही नही पाया। जन्म के समय से ही काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह नामक पांच चोर मेरे साथ लगे रहे है और मैने अपना सारा जीवन इन्ही के साथ गंवा दिया है। भाव यह है कि मेरे जन्म से ही ये पाचों चोर मेरे साथ ही रहे हैं। कामिनीरूपी सर्पिणी ने मेरे तन और मन दोनो को डस लिया है और उस सर्पिणी के विष से उठने वाली लहरों का कोई ओर-छोर नहीं दीखता। भाव यह है कि विषय-भोगों मे मेरी प्रवृत्ति इतनी अधिक रही है कि इनका अन्त होता ही नही दीखता। मेरा दुर्भाग्य यह भी है कि मुझे कोई ऐसा गुरुरूपी गारुड भी नही मिल सका है जो कामिनीरूपी सर्पिणी के विकराल विष को दूर कर सके। यह विकराल विष मुझे निरन्तर खाए जा रहा है। हे प्रभु, मै अपना

दुख किससे कहूं, मेरी व्यथा को कोई नहीं जानता। अब तो मेरा एकमात्र सहारा तुम्हीं हो इसलिए कृपा करके मुझे दर्शन दो, मेरे विकारों को दूर करो तभी मेरे मन को चैन मिलेगा।

विशेष—(१) भावसाम्य की दृष्टि से तुलसी का निम्न पद देखिए—

नाचत ही निसि-दिवस मर्यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धर्यो ॥१॥
बाहु वासना विविध कंचुकि भूषन लोभादि भर्यो।
चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वांग कर्यो ॥२॥

(२) प्रस्तुत पद राग केदारौ में रचित है।
(३) अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

(१४)

ता मन कौ खोजहु रे भाई।
तन छूटे मन कहां समाई ॥ टेक ॥
सनक सनंदन जैदेउ नामां।
भगति करी मन उनहुं न जानां ॥१॥
सिव विरंचि नारद मुनि ग्यांनीं।
मन की गति उनहूं नहिं जानीं ॥२॥
ध्रू प्रह्लाद विभीखन सेखा।
तन भीतर मन उनहूं न पेखा ॥३॥
ता मन का कोई जांनै न भेउ।
ता मनि लीन भया सुखदेउ ॥४॥
गोरख भरथरी गोपी चंदा।
ता मन सौं मिलि करै अनंदा ॥५॥
अकल निरंजन सकल सरीरा।
ता मन सौं मिलि रह्यौ कबीरा ॥६॥

शब्दार्थ—ध=ध्रुव। सेखा=शेषनाग। पेखा=देखा। भेउ=भेद। सुखदेउ=शुकदेव। भरथरी=भर्तृहरि। अकल=निराकार। निरजन=असीम।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में कवि ने मानव-मन की उस अवस्था का विवेचन किया है जोकि सांसारिक सीमाओं से परे है।

व्याख्या—कबीरदासजी कहते है कि हे जीव, मानव-मन के रहस्यों को जानने का प्रयास कर। इस बात का पता लगाया जाना चाहिए कि इस शरीर के पूरा हो जाने के बाद यह मन कहा चला जाता है। मानव-मन से जुड़े हुए

इन प्रश्नों का समाधान पाने के लिए अनेक ऋषि-मुनि प्रयासशील रहे है किन्तु किसी को भी इसके संपूर्ण रहस्यो का ज्ञान नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए, सनक, सनन्दन, जयदेव और नामदेव आदि संतों ने प्रभु की बहुत भक्ति की थी किन्तु मन के इन रहस्यों को वे भी नहीं जान सके थे। इनकी बात तो छोड़िए, स्वयं शिव, ब्रह्मा और नारद जैसे ज्ञानी और विद्वान ऋषि-मुनि भी मन के इन रहस्यों को जानने मे असमर्थ रहे थे। इसी प्रकार भक्त ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण और शेषनाग भी मानव-शरीर मे क्रियाशील इस मन के रहस्यों को नहीं जान सके थे। मानव-मन के भेद को कोई भी नहीं जान सका। स्वयं शुकदेव इस मन के भीतर लीन हो गए थे अर्थात् उन्होंने मन की अनुभूति की थी। गोरखनाथ, भर्तृहरि और गोपीचन्द जैसे साधकों ने भी इस मन की अनुभूति की थी और आनन्द भोगा था। भाव यह है कि इन साधको ने मन के रहस्यो को जान लिया था और वे सच्चे आनन्द का अनुभव कर सके थे। मानव शरीर के भीतर रहने वाला यह मन असीम, सर्वथा निर्बीज है और मैं तो इसी मन से जा मिला हू अर्थात् मैंने भी मानव-शरीर के भीतर क्रियाशील मन के रहस्यों को जान लिया है और इस कारण मैं भी सच्चे आनन्द की अनुभूति कर रहा हूं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में कवि ने मन की उस अवस्था की ओर इंगित किया है जोकि सासारिक सीमाओ से परे है। मन की इस अवस्था को योग की भाषा मे उन्मना कहते है। मन की एक और अवस्था भी होती है समना जो सांसारिक सीमाओं मे रहता है। समना मन सासारिक ज्ञान और शिक्षा अर्जित करता है किन्तु परमार्थ को जानने के लिए उन्मना मन की अपेक्षा होती है।

(२) प्रस्तुत पद में अनेक देवी-देवताओं, ऋषि-मुनियों, योगियों-साधकों के नामो का उल्लेख है जिनमें से कुछेक का परिचय इस प्रकार है—

(क) सनक, सनन्दन—ब्रह्मा के चार मानस-पुत्रों में से दो मानस-पुत्र।

(ख) जयदेव—'गीत गोविन्द' के रचयिता।

(ग) नामदेव—महाराष्ट्र के एक महान संत जिन्होंने कबीर से पहले भागवत धर्म का प्रचार किया था।

(घ) शुकदेव—कृष्णद्वैपायन व्यास के पुत्र।

(ङ) ध्रुव—राजा उत्तानपाद के पुत्र।

(च) प्रह्लाद—हिरण्यकशिपु के पुत्र।

(छ) शेषनाग—साक्षात् नारायणस्वरूप।

(ज) गोरखनाथ—नाथ संप्रदाय के महान योगी ।
(झ) गोपीचन्द—रंगपुर के राजा ।
(ञ) भर्तृहरि—विक्रमादित्य के छोटे भाई ।
(३) प्रस्तुत पद राग गौरी में रचित है ।
(४) अलंकार—विरोधाभास, श्लेष ।

(१५)

है कोई संत सहज सुख अंतरि जाकों जप तप देउं दलाली ।
एक बूंद भरि देइ रामरस ज्यूं मधु देइ कलाली ॥ टेक ॥
काया कलाली लाहनि मेलेउं गुरु का सबद गुड़ कीन्हा ।
त्रिश्नां कॉम क्रोध मद मतसर काटि काटि कस दीन्हा ॥१॥
भवन चतुरदस भाठी पुरई ब्रह्म अगिनि परजारी ।
मुद्रा मदन सहज धुनि लागी सुखमन पोतनहारी ॥२॥
नीझर झरै अमीरस निकसे इहि मद रावल छाका ।
कहै कबीर यह वास विकट अति ग्यॉन गुरु लै बॉका ॥३॥

**शब्दार्थ**—सहज सुख=आत्मा का स्वाभाविक सुख । अंतरि=हृदय में । मदु=शराब । कलाली=शराब बनाने वाली । लाहनि=खमीर उठाने के लिए डाला जाने वाला एक पदार्थ जो शराब बनाने के काम मे आता है । कस=शराब को तीखा बनाने के लिए डाला जाने वाला एक पदार्थ । भाठी=शराब बनाने की भट्ठी । पुरई=बनाली । परजारी=प्रज्वलित की । मदन=मोम, प्रेम । सुखमन=सुषुम्ना नामक नाड़ी । पोतनहारी=शराब बनाते समय प्रयोग की जाने वाली भपके की नली जिस पर ठडक लाने के लिए गीला कपड़ा चढ़ा दिया जाता है । अमीरस=अमृतरस । रावल=जीवात्मारूपी राजा । बास=गन्ध । विकट=तीखी । बांका=विरला ।

**प्रसग**—प्रस्तुत पद में कबीरदासजी ने मदिरा के निर्माण की प्रक्रिया के रूपक के माध्यम से प्रभु-भक्ति के अमृतरस के पान की विवेचन किया है ।

**व्याख्या**—कबीरदासजी कहते है कि क्या कोई ऐसा संत है जो मेरे मन के भीतर विद्यमान सहज सुख को मुझे दिला सके, ऐसे संत को मै दलाली के रूप में अपना सम्पूर्ण जपतप देने को तैयार हूँ । भाव यह है कि मेरे अन्तर का यह सहज सुख मेरे भीतर होते हुए भी मुझे उपलब्ध नही है, किसी सन्त की कृपा होने पर यह सहज सुख मुझे मिल सकता है । जिस प्रकार मदिरा बनाने वाली कलाली मदिरा पिला-पिलाकर लोगों को मस्त किए रहती है, तथा उसी

प्रकार कोई संत मुझे परमप्रिय राम के भक्तिरूपी अमृत की एक बून्द का पान करा सकेगा ? भाव यह है कि मैं भी इस अमररस का पान करके प्रभु-भक्ति के नशे में खो जाना चाहता हूँ।

परमप्रिय राम की भक्ति रूपी मदिरा के बनाने के लिए मैं मदिरा बनाने वाली कलाली को लाहनी के रूप में अपना शरीर अर्पित करने को तैयार हूँ और गुरु ने जो उपदेश दिए है, उन्हें मैं गुड़ के रूप मे डालने को तैयार हूँ। इसी प्रकार इस मदिरा के निर्माण के लिए मैं तृष्णा, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि को काट-काटकर कस के रूप में डालने को तत्पर हूँ ताकि यह मदिरा खूब तीखी बन पड़े। वस्तुत: मदिरा बनाने में गुड़ के अलावा कुछ ऐसे पदार्थ डाले जाते है जिनसे खमीर उठ जाता है। इसी प्रकार मदिरा को तीखा बनाने के लिए 'कस' भी डाला जाता है। प्रभु-भक्ति की मदिरा के निर्माण के लिए मैं अपना शरीर, गुरु के दिए उपदेश सभी कुछ अर्पित करने को तत्पर हूँ। शराब बनाने के लिए भट्ठी की भी आवश्यकता होती है। उसके लिए मैं अपने शरीर के विभिन्न कोषों का प्रयोग करूँगा और उसी भट्ठी को ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि से प्रज्वलित करूँगा। इसके बाद भपके के छिद्र को बन्द करने के लिए मोम की आवश्यकता होगी, सो उसके लिए मैं प्रभु-प्रेम-रूपी मोम का प्रयोग करूँगा और उसके बाद सुषुम्ना नाड़ी में से प्रभु की धुन उठने लगेगी। कपाल कुहर के छिद्र में से झरने की तरह अमृतरस झरने लगेगा और जीवात्मा उसे खूब छककर पिएगी। प्रभु-भक्ति रूपी इस मदिरा की गंध बहुत विकट होगी और कोई विरला ही ज्ञानी गुरु इस मदिरा के तीखे नशे को सहन कर पाएगा।

विशेष—(१) भावसाम्य की दृष्टि से गोरखबानी का निम्न पद देखिए—

इकीस ब्रह्मण्ड भाठी चिगावै, पीवत सदा मतवालैं।
मनसा कलालिनि भरि भरि देवै आछा आछा मदनां प्यालैं।

अमृत दाषी भाठी भरिया, ता मधै गुड़ झकोल्या।
मन महुवा तन धाहुवा, बनासपती अठारैं मोल्यां।

भ्रमर गुफा मैं मन धरि ध्यानैं बैस्या आसण वाली।
चेतनि रावल यह भरि छाक्या, जुग जुग लागो ताली।

तृकुटी संगम कूपा भरिया, मद नीपज्या अपारं।
कुसमल होता ते झड़ि पड़िया, रहि गया तहां ततसारं।

(२) प्रस्तुत पद राग रामकली मे रचित है।
(३) अलंकार—वक्रोक्ति, श्लेष, सांगरूपक, व्यतिरेक।

—□—